भारत में
सामाजिक कल्याण और सुरक्षा

लेखक
रघुराज गुप्त एम० ए०
भूतपूर्व लेक्चरर, डी० ए० वी कालेज, देहरादून
समाजशास्त्र के सिद्धांत, अर्थशास्त्र के सिद्धांत,
भारत का संविधान इत्यादि के रचयिता



वितरक
भारती पुस्तक भवन पुरानानाला, देहरादून

प्रकाशक
राजेन्द्र बंसल एम० ए०
१, नारायण बिल्डिंग
६३, कांवली रोड
देहरादून

फर्वरी १९५४

मुद्रक
श्यामसुन्दर श्रीवास्तव
नेशनल हेराल्ड प्रेस
लखनऊ

अपने उन सब सहृदय साथियों को
जो सामाजिक सेवाओं में
संलग्न हैं।

भूमिका

समाजशास्त्र और उसकी सहायता से जीवन के विभिन्न अंगों का **अध्ययन** पिछले तीस सालों में अत्यन्त उपयोगी और आवश्यक सिद्ध हुआ है। हम किसी भी समस्या को, चाहें वह विज्ञान की हो अथवा धर्म की, साहित्य की हो अथवा कला की, राजनीति की हो अथवा अर्थशास्त्र की, बिना उसकी सामाजिक पृष्ठ-भूमि के न सही तरीके से समझ सकते और न ही हल कर सकते हैं। यदि हम उसे सामाजिक तथ्यों और तत्त्वों के प्रभाव से पृथक् कर, उसके अध्ययन की चेष्टा करते हैं, तो हमारे लिये सदैव एक संकीर्ण, दलगत, एकतरफा नतीजों पर पहुंचने का खतरा विद्यमान है। इसे ही विशेषात्मक भ्रान्ति (particularistic fallacy) कहा गया है। अभी तक हमारे ज्ञान और गवेषणा के विभिन्न विभाग और कार्य, इसी विशेषात्मक भ्रांति का शिकार रहे हैं। यही कारण है, विभिन्न विषयों की अनन्त उपपत्तियों (theories) को जान कर भी हम सामान्य तथ्यों से अपरिचित रह जाते हैं और सामाजिक प्रक्रिया को कभी भी सर्वांगीण, सार्वभौम और विस्तृत रूप में समझने में समर्थ नहीं होते। पर इसका यह तात्पर्य नहीं कि एकांगी अध्ययन से कोई लाभ नहीं या वह सर्वथा बेकार है; तात्पर्य केवल यही है कि उसे सामाजिक आधार पर समझा जाय। समाजशास्त्र का अध्ययन और समाजशास्त्रीय दृष्टि हमें यह काम करने में मदद पहुंचाती है।

अत्यन्त खेद का विषय है कि हिन्दी में, जो कि सैंतीस करोड़ जनता की राष्ट्र-भाषा तथा सोलह करोड़ व्यक्तियों की मातृभाषा है, समाजशास्त्र जैसे महत्त्वपूर्ण विषय पर १९५३ तक एक सामान्य पुस्तक भी मौजूद न थी। उसकी विभिन्न शाखाओं की तो बात ही क्या? हिन्दी-प्रेमियों की यह जिम्मेदारी है कि वह थोड़े समय में इस कमी को पूरा करें। केवल हिन्दी को विश्व-विद्यालयों में शिक्षा का माध्यम अथवा राज्य-कार्य की भाषा बनाने से काम नहीं चलेगा, हमें साथ-साथ आवश्यक साहित्य का निर्माण भी करना होगा। निस्संदेह; इस मार्ग में अनेक कठिनाइयां हैं, पर उनको हमें तय करना होगा।

समाजशास्त्र विषय को मैंने विशेष रूप से क्यों चुना, इसके दो कारण

हैं। एक तो समाज-विज्ञानों में यह विषय सबसे महत्त्वपूर्ण है, और दूसरे, बहुत रोचक भी। जहां तक इसके सामाजिक महत्त्व का संबंध है, यह कहना कोई अत्युक्ति न होगी कि यदि मानव-समाज, या यों कहें तो बेहतर होगा, कि उसके कर्णधार, समाजशास्त्र के तथ्यों पर ध्यान देते और उसके नतीजों से फायदा उठाते, तो मानव-समाज, बेकारी, तानाशाही, वर्ग-संघर्ष, साम्प्रदायिक तनाव, पारिवारिक कलह, युद्ध, जातिगत घृणा, अपराध, व्यभिचार, इत्यादि अनेक बुराइयों से बच जाता। अभी भी समय है कि हम पिछली गलतियों से कुछ सीखें और भविष्य में उन्हें न दोहरायें।

हिन्दी के हितैषी विद्वान् समाजशास्त्र के साहित्य के निर्माण की आवश्यकता को अनुभव भी करते हैं। कुछ व्यक्ति इसमें योगदान भी देना चाहते हैं। फिर उसे कैसे व्यावहारिक रूप प्रदान किया जाय? मैंने इसकी चर्चा अपने तरुण प्रकाशक श्री राजेन्द्र बंसल से की थी। यद्यपि आप प्रकाशन के क्षेत्र में एकदम नये हैं, किन्तु आपको उत्तम साहित्य के सृजन और प्रकाशन में विशेष उत्साह है। मैंने उन्हें लगभग बीस अत्यावश्यक समाजशास्त्रीय समस्याओं की सूची बनाकर दी है। इस दिशा में कार्ल मैनहाइम की समाजशास्त्र की अन्तर्राष्ट्रीय पुस्तकमाला अनुपम प्रयास है। उसमें लगभग दो सौ पुस्तकें हैं। लेकिन फिलहाल उनका अपनाना हमारी सामर्थ्य के बाहर है। और फिर उसमें अनेक व्यावहारिक कठिनाइयों के कारण भारतीय सामाजिक जीवन के अध्ययन को अभी तक कोई स्थान नहीं मिल पाया है। इन बातों को देखते हुए, यह आवश्यक हो जाता है कि हम हिन्दी में एक ऐसी समाजशास्त्र-ग्रन्थमाला का प्रकाशन करें जो कि भारत पर आंख रखकर लिखी गई हो, जिसमें हर स्थान पर अन्य देशों के उदाहरणों के साथ अपने देश के उदाहरण भी दिये गये हों। फिलहाल, कम से कम, परिवार, धर्म, शिक्षा, मनोरंजन, कानून, जनसंख्या, आर्थिक जीवन, राजनैतिक जीवन, नैतिकता, ज्ञान, प्रचार, नेतृत्व, काम, अपराध और स्वाधीनता के समाजशास्त्र तथा सामाजिक मनोविज्ञान इत्यादि विषयों पर भारतीय पृष्ठभूमि को लेकर अच्छी पुस्तकें प्रकाशित होने की आवश्यकता है। जो विद्वान् इस कार्य में रुचि रखते हों, उन्हें इसमें अवश्य अपना सहयोग देना चाहिए।

समाजशास्त्र की विभिन्न प्रमुख शाखाओं पर हिन्दी में पृथक्-पृथक् ग्रंथ निकालने से पहले यह आवश्यक था कि समाजशास्त्र पर एक ऐसी पुस्तक दी जाये जिसमें उसके सिद्धान्तों की सरल और सामान्य विवेचना हो। इसी चीज को दृष्टि में रखते हुए मेरे प्रकाशक ने पिछले साल 'समाजशास्त्र के सिद्धान्तों'

पर मेरी एक पुस्तक प्रकाशित की थी। विद्यार्थियों की तत्काल मांग होने के कारण उसे बहुत ही जल्दी में लिखना और प्रकाशित करना पड़ा, जिससे कि उसमें अनेक कमियां रह गईं। अगले संस्करण में उन्हें दूर करने तथा उसे पूर्णतः दुबारा लिखने और उसमें अनेक विषयों को बढ़ाने का प्रयास हो रहा है। बावजूद उन कमियों के, विद्वानों और पाठकों, अध्यापकों और विद्यार्थियों ने उस पुस्तक का अच्छा स्वागत किया। उसी से उत्साहित होकर मेरे प्रकाशक ने मुझे समाजशास्त्रीय दृष्टि से भारत में सामाजिक कल्याण और सुरक्षा विषय पर एक स्टैंडर्ड पुस्तक लिखने का आग्रह किया। प्रस्तुत पुस्तक उसी का परिणाम है।

× × ×

किसी भी देश के लिये अपने नागरिकों के कल्याण (Welfare) और सुरक्षा (Security) का अध्ययन विशेष महत्त्व रखता है। किसी भी सभ्य समाज के लिये अपने सदस्यों का सर्वांगीण शारीरिक, मानसिक और नैतिक विकास आवश्यक है। यह विकास किस भांति संभव है? इस विकास के क्या आधार होने चाहिए? इस विकास की क्या दर हो? क्या दिशा हो? यह महत्त्वपूर्ण सवाल हैं। इसके लिये हमें उस समाज की अतीत पृष्ठभूमि और वर्तमान अवस्था का परिचय होना चाहिए। साथ ही इसके लिये, पुनः एकांगी दृष्टि न रख, सार्वभौम सामाजिक दृष्टिकोण होना और अपनाना चाहिए।

प्रस्तुत पुस्तक में सामाजिक कल्याण, सामाजिक पुनर्निर्माण, सामाजिक सुधार, सामाजिक कानून; समाज में शिक्षा का स्थान, शिक्षा-सुधार के आन्दोलन, भारत में शिक्षा-संस्था का विकास, गांधीजी की बुनियादी शिक्षा और सार्जेंट-शिक्षा-योजना; भारत में निर्धनता और उसके कारण तथा उसके निवारण के उपाय, आर्थिक विकास की पंचवर्षीय योजना; जनसंख्या, उसकी समस्या और उसके समाधान के उपाय; स्वास्थ्य और पोषण, भारत में स्वास्थ्य-उन्नति की योजनाएं; ग्राम-जीवन, उसकी समस्याएं, ग्रामों का पुनर्निर्माण और आयोजन, इस दिशा में प्रयत्न, सामुदायिक योजनाएं (Community projects); नगरों का विकास और उनकी समस्याएं, उद्योगीकरण और उसके सामाजिक-आर्थिक प्रभाव, सामाजिक विघटन; अपराध और उसके कारण, भारत में अपराध, उस पर विशिष्ट सामाजिक प्रभाव, विद्यमान दण्ड-व्यवस्था, उसके दोष और उन्हें दूर करने के सुझाव, किशोर अपराधी (Juvenile Delinquents) और उन्हें सुधारने के प्रयत्न, भारत की अपराधी जातियां और उनका सुधार; भारतीय श्रमिकों की अवस्था, समस्याएं और सामाजिक

कल्याण, राज्य और श्रमिक, श्रम-कानून का विकास, सामाजिक सुरक्षा के सिद्धान्त, भारत में सामाजिक सुरक्षा का विकास; मातृत्व-संरक्षण, मजदूर-मुआवजा, बीमारी-बीमा, असमर्थता, बुढ़ापा, वैधव्य, अनाथपन और बेकारी के विरुद्ध सुरक्षा, नाविकों की सामाजिक सुरक्षा, कर्मचारी-राज्य-बीमा एक्ट (Employees' State Insurance Act) इत्यादि आवश्यक विषयों के सरल और विस्तृत विवेचन का प्रयास किया गया है।

हिन्दी में अपने विषय की यह पहली पुस्तक है और इसका क्षेत्र भी अत्यधिक विस्तृत है। इससे लेखक की कठिनाई बहुत बढ़ जाती है और सदा इस बात की आशंका रहती है कि किसी विषय-विशेष पर उसकी जानकारी में कुछ अपूर्णता या कमियां न रह जायं। प्रस्तुत पुस्तक में भी अनेक दोषों का रह जाना स्वाभाविक है। लेकिन फिर भी जब तक इस विषय पर अन्य कोई बेहतर पुस्तक उपलब्ध नहीं होती, इससे इस विषय के पाठकों को अवश्य कुछ सहायता मिलेगी। उक्त पुस्तक समाजशास्त्र और अर्थशास्त्र के बी० ए० और एम० ए० के विद्यार्थियों और इस विषय में रुचि रखनेवाले सामान्य पाठकों के लिये उपयोगी होगी। पुस्तक लिखने में आगरा तथा अन्य विश्वविद्यालयों के पाठ्य-क्रम का भी ध्यान रखा गया है। इसके अतिरिक्त, पुस्तक में सर्वत्र १ जनवरी १९५४ तक प्राप्त अप-टु-डेट सूचनाओं का प्रयोग किया गया है।

हिन्दी-पारिभाषिक शब्दों के चुनाव में इस बात का ध्यान रखा गया है कि वह सुबोध हों। विद्यार्थियों और अध्यापकों की सुविधा के लिये प्रायः हिन्दी-परिभाषिक शब्दों के साथ उनके अंग्रेजी पर्याय दे दिये गये हैं। इसके अतिरिक्त, केवल उन ग्रंथों की, जो कि विभिन्न विषयों के उच्च अध्ययन के लिये अत्यावश्यक और अधिक उपयोगी हैं, एक संक्षिप्त वर्गीकृत सूची भी बाद में संलग्न है। गंभीर पाठकों को इससे भावी अध्ययन में सुविधा होगी।

मैं पाठकों से निवेदन करूंगा कि वह पुस्तक के संशोधन के संबंध में यदि अपने कोई सुझाव भेजेंगे, तो मैं अनुगृहीत होऊंगा और अगले संस्करण में उनका उपयोग हो सकेगा।

अन्त में, मैं इस पुस्तक के निर्माण और प्रकाशन में सहयोगी मित्रों के प्रति अपना आभार प्रदर्शन करना अपना कर्तव्य समझता हूं।

यों तो मैंने इस पुस्तक के लिखने का संकल्प देहरादून में किया, जहां कि प्रायः मैं रहता हूं, किन्तु आवश्यक अध्ययन-सामग्री के अभाव में मुझे लखनऊ आना पड़ा और यहां पर तथ्यों और सूचनाओं के संकलन में चार महीने से अधिक लग गये। लेकिन यहां आना बहुत ही लाभकर सिद्ध हुआ; यहां की

विधान-सभा के बृहत् पुस्तकालय में मुझे अध्ययन की समस्त सुविधाएं प्राप्त हुई। इसके लिये मैं पुस्तकालय के समस्त कर्मचारियों, जो कि सदैव मुझे सहायता के लिये तत्पर रहे, विशेषत: श्री नरसिंह और श्री चौधरी, का हृदय से कृतज्ञ हूं। इसके अतिरिक्त, भाई रवि को लखनऊ में रहने का ठिकाना करने के लिये; और साथी गोपाल को रोज चाय पर साथ देने के लिये तथा श्री ज्ञानेद्र को अन्य प्रकार से कष्ट देने के लिये शुक्रिया देना जरूरी है। नेशनल हेराल्ड प्रेस के मैनेजर, श्री श्यामसुन्दर श्रीवास्तव, उनके प्रेस के कर्मचारी, जिन्होंने पुस्तक को समय पर निकालने में जो कोशिश की तथा प्रूफ-संशोधन में श्री रामनरेश पाण्डेय ने जो विशेष सावधानी बरती, इसके लिए यह सब मेरे धन्यवाद के पात्र हैं।

लखनऊ
गणतंत्र दिवस, २६ जनवरी १९५४

रघुराज गुप्त

विषय-सूची

पहला अध्याय

दूसरा अध्याय

फ्रोबल; शिक्षा का सामाजिक पहलू : जान डचूई, कार्ल मार्क्स, प्रिंस क्रोपाटकिन, सोवियत परीक्षण; भारत में शिक्षा-सुधार, गुरुकुल और विश्वभारती; वर्धा की बुनियादी शिक्षा-योजना; योजना का जन्म, शिक्षा पर गांधीजी के विचार; मुख्य विशेषताएं : १. सर्वभौम अनिवार्य बुनियादी शिक्षा, २. सात वर्ष का पाठ्य-क्रम, ३. प्राग्पाठशाला तथा बेसिकोपरांत शिक्षा को स्थान नहीं; ४. मातृभाषा शिक्षा का माध्यम, ५. दस्तकारी पर केन्द्रित, ६. दस्तकारी शिक्षा का उद्देश्य जीविका देना, ७. आर्थिक वस्तुओं का उत्पादन, ८. शिक्षक का वेतन निकालने में समर्थ, ९. राज्य पर अन्य व्ययों का भार, १०. राज्य पर निर्मित वस्तुओं की खरीद का दायित्व; योजना के संबंध में शंकाएं; योजना की समालोचना; स्वावलम्वन का सिद्धांत : १. शिक्षा राज्य का दायित्व, २. कच्चे माल की बर्बादी, ३. निर्मित वस्तुओं की बिक्री, ४. बच्चों के श्रम का शोषण; दस्तकारी-केन्द्रित शिक्षा : ५. संस्कृति की उपेक्षा, ६. असंतुलित समय-विभाग, ७. शिक्षा का एक नीरस पाठ्य-क्रम. ८. पूर्व-पक्व (Premature) विशिष्टीकरण और पेशे का चुनाव; शिक्षकों की समस्याएं : ९. शिक्षकों की कठिनाई, १०. शिक्षकों का वेतन, ११. शिक्षकों की ट्रेनिंग, १२. शिक्षकों का अभाव; योजना की त्रुटियां : १३. स्कूल-पूर्व शिक्षा, १४. अंग्रेजी की उपेक्षा, १५. शारीरिक शिक्षा की उपेक्षा, १६. धर्म की उपेक्षा; १७. पढ़ाई के दिनों की संख्या, १८. गांवों से शहरों को निष्क्रमण, १९. औद्योगिक प्रगति में रुकावट; बुनियादी शिक्षा का विकास और भविष्य; युद्धोत्तर-शिक्षा-विकास की योजना : सार्जेंट-योजना के प्रधान लक्षण : १. सार्वभौम निःशुल्क प्रारम्भिक शिक्षा, २. तीन से छः साल की उम्र के बच्चों की पूर्व-प्रारम्भिक शिक्षा, ३. चुने हुए बच्चों के लिए माध्यमिक शिक्षा, ४. चुने हुए विद्यार्थियों के लिए विश्वविद्यालय-शिक्षा, ५. टेक्नीकल, व्यापारिक और कला की शिक्षा, ६. प्रौढ़-शिक्षा, ७. अध्यापकों की ट्रेनिंग, ८. अनिवार्य शारीरिक शिक्षा और डाक्टरी परीक्षा, ९. रोजगार ब्यूरो की स्थापना, १०. शारीरिक और मानसिक अपाहिजों की शिक्षा, ११. सक्षम शासकीय संगठन का सूत्रपात, १२. चालीसवर्षीय शिक्षा-योजना, १३. क्षेत्रानुसार (Areawise) विकास; सार्जेंट-योजना की समालोचना : १. अराष्ट्रीय योजना, २. योजना की लागत असाधारण है; ३. प्रस्तावित समय बहुत लम्बा है; ४. क्षेत्रानुसार विकास का सिद्धांत ठीक नहीं; योजना का महत्त्व : १. समान सुविधाएं जुटाने का प्रयास, २. अध्यापक वर्ग का उचित सम्मान, ३. शिक्षा को समाज-आर्थिक जीवन में संयुक्त करने का प्रयास; सार्जेंट-योजना के बाद; पंचवर्षीय योजना में शिक्षा ।

तीसरा अध्याय

निर्धनता और जनसंख्या पृष्ठ ७९

सामाजिक सुरक्षा और कल्याण की आर्थिक स्थिति पर निर्भरता, राष्ट्रीय आय आर्थिक स्थिति का मापदण्ड, अधिक समान वितरण द्वारा कल्याण में वृद्धि; भारत की निर्धनता : औसत मुद्रा-आय रहन-सहन के दर्जे का भ्रान्त माप, आय का असमान वितरण, निर्धनता भारत की प्रधान सामाजिक समस्या; निर्धनता के कारण और लक्षण : १. पूंजी के संचय की कम दर(Low rate of capital formation), २. अनुत्पादक संचय, ३. कृषि और प्राथमिक उद्योगों पर अनुचित निर्भरता, ४. बुनियादी उद्योगों की कमी, ५. परिवहन (Transport) और संचार (Communication) के पिछड़े हुए साधन, ६. निम्न कार्यक्षमता, ७. जनसंख्या की वृद्धि, ८. राज्य की आर्थिक नीति, अंग्रेज़-अधीन नीति का दुष्प्रभाव, वर्तमान नीति; परिवर्तन की आवश्यकता : आर्थिक आयोजन (Planning) द्वारा निर्धनता का हल; भारत में आयोजन : भारत की प्रथम पंचवर्षीय योजना : प्रस्तावित व्यय, प्राथमिकताएं (Priorities) योजना के प्रमुख लक्षण और उनकी समालोचना : विकास की अत्यन्त कम दर, उद्योगीकरण की योजना नहीं, असंतुलित योजना, व्यक्तिगत क्षेत्रप्रधान मिश्रित अर्थ-व्यवस्था (Mixed Economy), वित्तीय (Financial) पहलू पर अनुचित जोर, परस्पर-विरोधी लक्ष्यों पर चलने का प्रयत्न, मुख्यतः आन्तरिक साधनों पर निर्भर, जनतंत्रीय आयोजन की भ्रांत व्याख्या, कुछ महत्त्वपूर्ण कृषि-समस्याओं की उपेक्षा, विद्यमान आर्थिक व्यवस्था की स्वीकृति, निर्धनता की समस्या का समाधान नहीं; जनसंख्या : जनसंख्या और सामाजिक कल्याण; भारत की जनसंख्या और उसके प्रमुख लक्षण : काम करनेवाली आयु के व्यक्तियों का कम अनुपात, अधिक जन्म और अधिक मृत्यु-दर, पिछले तीस सालों में जन्म और मृत्यु-दर में ह्रास, मृत्यु-दर में कमी नहीं, अधिक जन्म और मृत्यु-दर के कारण, स्वास्थ्य-रक्षा का अभाव, मृत्यु-दर का मुख्य कारण बच्चे, प्रसूताओं तथा प्रजनन-वयस की स्त्रियों की अत्यधिक मृत्यु, जीवितों का हीन स्वास्थ्य और कार्यक्षमता, कृषि पर अत्यधिक निर्भरता, भारतीय कृषि की कम उत्पादकता जनसंख्या-वृद्धि से सम्बद्ध, जनसंख्या का रुख : १९५३ की जनगणना-कमिश्नर-रिपोर्ट : १९२१ के बाद स्थिति बराबर बदतर; सम्भावित विकास : वृद्धि-दर में कमी की आशा नहीं, कृषि-विकास-दर जनसंख्या-वृद्धि-दर से पीछे रहेगी; जनसंख्या-समस्या के प्रस्तावित उपाय : १. भूमि-व्यवस्था में सुधार,

पिछड़े हुए खेती के तरीके, अनुन्नत उपकरण (Implements) दुर्बल पशुधन; संस्थागत कारण: खेतों का विभाजन (Subdivision) और उप-विभाजन (Fragmentation), दोषपूर्ण भूमि-व्यवस्था, विकृत विक्रय (Marketing) व्यवस्था : अन्य कारण : (ग) कुटीर उद्योगों का नाश और सहायक धंधों की कमी, (घ) बेकारी, (ङ) ऋणग्रस्तता (Indebtedness), बढ़ती जनसंख्या; अन्य आर्थिक पहलू : २. आत्मनिर्भरता (Self-sufficiency), ३. परिवहन (Transport) और संचार (Communication) साधनों का अभाव, ४ अनाज और उपहारों (Gifts) का विनिमय के माध्यम के रूप में प्रयोग, ५. भूमिहीन मजदूर; गैर आर्थिक पहलू : ६. गंदगी, ७. बुरा स्वास्थ्य ८. अशिक्षा ; भारतीय ग्राम-जीवन के कुछ सार्वभौम तत्त्व : ९. संयुक्त और बड़े परिवार, १०. परिवार-उत्पादन की इकाई, ११. पारिवारिक नियंत्रण की प्रभुता, १२. नारी का निम्न स्तर, १३. धर्म का व्यापक प्रभाव, १४. जाति-भेद और सामाजिक स्तरीकरण (Stratification), १५. पंचायतों का प्रभाव, १६. रिवाजों का प्रभाव, १७. मन्द-जीवन, १८. आदर्श और परम्पराओं की एकता, १९. संतोषी और भाग्यवादी दृष्टिकोण, २०. अपराधों की कमी, २१. मुकदमेबाजी और मारपीट, २२. प्रकृति से निकटता, २३. मनोरंजन में मुनाफाखोरी का अभाव; भारतीय ग्रामों का पुनर्निर्माण और आयोजन; सामुदायिक योजनाएं (Community Projects) : लक्ष्य सामुदायिक विकास, सार्वभौम और विस्तृत रूप, कृषि से सम्बन्धित कार्य, संचार का विकास, शिक्षा का विकास, स्वास्थ्य-सेवाओं का विकास, ट्रेनिंग सुविधाओं का विकास, रोजगार का विस्तार, गृह-निर्माण का विस्तार, सामाजिक कल्याण; अंतिम लक्ष्य की रूपरेखा : १. ग्राम-इकाई, पेशेवार पुनर्वितरण, २. मंडी-इकाई, चालू योजना में मंडी-इकाइयां सम्मिलित नहीं, ३. विकास-खंड (Devolopment Block), ग्राम-नगर-संयुक्त उपनगर भी चालू योजना में सम्मिलित नहीं ४. नगर-ग्राम-संयुक्त उपनगर, नगर-ग्राम-संयुक्त उपनगरों की स्थापना की सीमित व्यवस्था; वर्तमान योजना का क्षेत्र और मूल्यांकन।

छठा अध्याय

नगरों का विकास : दस्तकारी और व्यापार की वृद्धि से नगरों का उदय, उद्योगीकरण (Industrialisation), नगरों की वृद्धि और विस्तार, भारत में नगरों का विकास; नगर की विशेषता: नागरिक जीवन ग्राम-जीवन से

सातवां अध्याय

कृत्य, अपराध मे समाज की हानि, अच्छे सामाजिक जीवन के लिए अपराध का उन्मूलन आवश्यक; अपराध के कारण: १. मानवशास्त्रीय (Anthropological) व्याख्या, लोम्ब्रोजो का सिद्धांत, भारतीय सामुद्रिकशास्त्र, समालोचना: अपराध किसी विशिष्ट शारीरिक अवस्था का परिणाम नहीं; २. आर्थिक वातावरण की व्याख्या, अपूर्ण पर उपयोगी; समाजशास्त्रीय अन्वेषणों के परिणाम: (क) बच्चों की उपेक्षा इत्यादि, (ख) भुखमरी, (ग) प्रलोभन, (घ) व्यभिचार (Sexual demoralisation), (ङ) मद्यपान, मद्यपान की आदत, नशा और आक्रमणात्मक अपराध, (च) संस्कृति का अभाव, (छ) युद्ध; ३. भौतिक वातावरण, भौतिक वातावरण का प्रत्यक्ष प्रभाव नही, ४. प्राणिक-समाजशास्त्रीय व्याख्या : समालोचना : केवल अपराध तक सीमित नहीं, समान वातावरण की कल्पना भ्रांत, अपराध शारीरिक या मानसिक विकार का परिणाम नहीं, एक उदाहरण, समस्त मानव गुण अपराध के प्रेरक और निवारक, जन्मजात गुण अपराध से असम्बद्ध, ५. अध्यात्मवादी व्याख्या, समालोचना : अधार्मिकता और अपराधों में कार्य-कारण का संबंध नहीं, अधार्मिकता अपराध का कारण नहीं, अधार्मिकों में कम अपराध, धर्म नैतिकता का पर्याय नहीं, विशुद्ध नैतिकता दण्ड के भय से मुक्त, अपराध और दण्ड का इतिहास : समाज में कानून की आवश्यकता, आदिकालीन दण्ड-व्यवस्था, मध्यकालीन व्यवस्था, आधुनिक प्रवृत्तियां; भारतीय दण्ड और कानून का इतिहास; भारत में अपराध : भारत में अपराध पर विशिष्ट सांस्कृतिक प्रभाव: सामाजिक अवस्था का प्रभाव; आर्थिक अवस्था का प्रभाव; प्रथाओं का प्रभाव; पंचायत का प्रभाव; न्यायालय का प्रभाव; भारत की अपराधी जातियां और कबीले; अपराधी जातियों में अपराध के कारण; या नस्ली शारीरिक कारणों का अभाव, आर्थिक, सामाजिक और मनोवैज्ञानिक कारण, जातिधर्म; अपराधी जातियों के कुकृत्यों के नियंत्रण के प्रयत्न; नियंत्रण के लिए विशेष कानून और व्यवस्था की आवश्यकता, अपराधी जाति-कानून, अपराधी कानून की मुख्य धाराएं, सेटिलमेंटों की स्थापना का प्रस्ताव; और कार्य सुधार के प्रयत्न : सेटिलमेंट और कालनियों की स्थापना; अपराधी जाति-कानून में संशोधन और उसका रद्द होना, १९४७ की उ० प्र० अपराधी जाति जांच-समिति की सिफारिशें, अपराधी जाति कानून की हानियां और रद्दगी; किशोर अपराध (Juvenile Delinquency); किशोर अपराध के कारण: वातावरण से संबंधित और व्यक्तिगत, प्रमुख कारण बुरा वातावरण; किशोर अपराधियों के शुरू में ही सुधार की आवश्यकता: संरक्षण, पृथक्करण और समुचित शिक्षा; किशोर कानून, किशोर अपराधियों के लिए पृथक् व्यवस्था की आवश्यकता,

आठवां अध्याय

मालिकों के लिए अनुचित कार्य, श्रम-संघ बिल; औद्योगिक झगड़ों से संबंधित कानून : व्यावसायिक विवाद (Trade Disputes) एक्ट १९२९, औद्योगिक विवाद-एक्ट १९४७, १९४९ और १९५३ के संशोधन; कल्याण और सुरक्षा से संबंधित कानून; श्रम-कानून के विकास का मूल्यांकन।

नवां अध्याय

सामाजिक सुरक्षा (Social security) की परिभाषा : अभाव, अज्ञान, गंदगी, बेकारी और बीमारी के विरुद्ध सुरक्षा; पारिवारिक सुरक्षा की सीमितता, दान पर आधारित सुरक्षा की कमियां, कारण का निदान नहीं, राज्य द्वारा सामाजिक सुरक्षा का भार ग्रहण, सामाजिक सुरक्षा-संस्थाएं : सामाजिक सहायता (Assistance) और सामाजिक बीमा (Insurance;); भारत में सामाजिक सुरक्षा का महत्त्व; सामाजिक सुरक्षा का विकास; भारत में सामाजिक सुरक्षा में अभिरुचि, इस दिशा में अन्तर्राष्ट्रीय श्रम-सम्मेलन का कार्य, स्वीकृत कन्वेंशन और सिफारिशें, सम्मिलन और एकीकरण की प्रवृत्ति; मातृत्व-संरक्षण (Maternity Protection); संरक्षण की आवश्यकता, अल्पतम सामाजिक मान; भारत में मातृत्व कानून, कानूनी मातृत्व लाभ, यू० पी० मातृत्व लाभ अधिनियम १९३८, खान मातृत्व अधिनियम १९४१-४९; आवश्यक सुधार : क्षेत्र में विस्तार, योग्यताकाल की समाप्ति, मातृत्व अवकाश, लाभ : (क) नकद, (ख) डाक्टरी सहायता, (ग) अतिरिक्त लाभ, पुनः काम में लिए जाने की गारंटी, लाभों की वित्त-व्यवस्था (Finance) मजदूरों का मुआवजा (Workmans' Compensation) : आवश्यकता, तत्संबंधी अंतर्राष्ट्रीय श्रम-कन्वेंशन और सिफारिशें, भारत में मजदूर-मुआवजा : पेशेगत जोखिम (Occupational risk) का सिद्धांत, क्षेत्र, सम्मिलित धंधे और सेवाएं, असम्मिलित क्षेत्र, कर्मचारी राज्य बीमा एक्ट का क्षेत्र; (क) सम्मिलित मजदूर-वर्ग, (ख) जोखिम, (ग) नकद लाभ, लाभ की दर; नकद दर का रूप—किश्तें या एकमुश्त; (घ) प्रतीक्षाकाल, (ङ) आश्रित (Dependents), (च) अतिरिक्त मुआवजा, (छ) सेवा में (In kind) प्राप्त सुविधाएं; प्राप्ति की गारंटी, झगड़ों का निपटारा; राष्ट्रीय और विदेशी मजदूरों से समान व्यवहार, शासन; दोष, उन्हें दूर करने के उपाय, बीमे के सिद्धांत को अपनाने की आवश्यकता, बीमारी-बीमा; बीमारी में सुरक्षा की आवश्यकता, अंतर्राष्ट्रीय कन्वेंशन और सिफारिशें, लाभ,

भुगतान की शर्त्तें, रकम, अवधि (Duration), डाक्टरी लाभ, बीमा हुए व्यक्ति के परिवार के सदस्यों को प्राप्त लाभ, अन्त्येष्टि (Funeral) लाभ, असमर्थता (Invalidity), बुढ़ापा, वैधव्य और अनाथपन के विरुद्ध सुरक्षा : आवश्यकता, अंतर्राष्ट्रीय व्यवस्थाएं; भारत में प्राविडेंट फंड, ग्रेच्युटी और पेंशन, प्राविडेंट फंड-एक्ट १९२५-५३; बेकारी : पूंजीवादी अर्थ-व्यवस्था की सबसे भीषण समस्या; रोजगार-उत्पादन में धन लगाने (Investment) का परिणाम, बेकारी बीमा एक उपाय, अपनाने से पहले आर्थिक विकास आवश्यक, संबंधित अंतर्राष्ट्रीय मान; भारत में बेकारी : विस्तार का अनुमान कठिन; रोजगार को प्रभावित करनेवाले तत्त्व : राज्य की रोजगार-नीति, पूर्ण रोजगार-नीति, प्राप्ति की तीन शर्त्तें—पर्याप्त व्यय, उद्योगों की स्थापना पर नियंत्रण, श्रम की संगठित गतिशीलता, हमारी रोजगार-नीति, उसमें दृढ़ता का अभाव, मुद्राप्रसार (Inflation) और अल्प पूंजी-संचय (Low capital formatian,), सरकार की संतुलन नीति, पूंजीपतियों पर एकांत निर्भरता; रोजगार दिलाने के सरकारी प्रयत्न : रोजगार एक्सचेंज की डायरेक्ट्रेट; विस्तार, अत्यन्त सीमित क्षेत्र, बढ़ता व्यय, भविष्य, शीघ्र समाधान आवश्यक। नाविकों के लिए सामाजिक सुरक्षा नाविकों (Seafarers) के लिए पृथक् और विशेष सुरक्षा की आवश्यकता; भारत में नाविकों के लिए सामाजिक सुरक्षा : भारतीय नाविक ब्रिटिश फंड के लाभों से वंचित; भारतीय नाविकों के लिए अदारकर-बौडमर की सामाजिक सुरक्षा योजना; (१) मालिक का दायित्व, (२) सामाजिक बीमा, प्रस्तावित लाभों की दर, वित्तीय पहलू और शासन; भर्ती की पद्धति का पुनर्संगठन और नौशक्ति का विस्तार, नाविकों का अंतर्राष्ट्रीय सामाजिक सुरक्षा या चार्टर और उसकी आदर्श योजना, भारतीय जहाजरानी-एक्ट १९२३ के अन्तर्गत प्राप्त सुरक्षा, उसकी कमियां।

परिशिष्ट

व्यवस्थाएं : रक्षित जोखिम—बीमारी, मातृत्व और रोजगार-हानि; शासन की तीन संस्थाएं : (१) कर्मचारी राज्य-बीमा कार्पोरेशन, (२) कार्पोरेशन की स्थाई समिति, (३) चिकित्सा-लाभ-कौंसिल; विभिन्न वर्गों का प्रतिनिधित्व, कर्मचारियों का अल्प प्रतिनिधित्व, वित्त (Finance), भागदेयों (Contributions) की दर, लाभ : मातृत्व-लाभ की शर्तें और दर, असमर्थता

(Disablement) और आश्रितों के लाभ की शर्त्तें और दर, चिकित्सा-लाभ, अपर्याप्त लाभ; झगड़ों और दावों को निपटाने के लिए कर्मचारी-राज्य-बीमा अदालतों की स्थापना; मातृत्व-लाभ और मजदूर मुआवजा-कानूनों पर इस योजना का प्रभाव, क्षेत्र, लाभ पर, भागदेय, श्रेष्ठ शासन; सामाजिक सुरक्षा पर फैक्टरी-एक्ट १९४८ का प्रभाव, योजना का प्रारम्भ, १९५१ का संशोधन : समस्त मालिकों पर समान भार, योजना का विकास, वर्तमान स्थिति और भविष्य।

भारत में
सामाजिक कल्याण और सुरक्षा

पहला अध्याय

सामाजिक कल्याण और पुनर्निर्माण

सामाजिक कल्याण की कल्पना का जन्म. जैसे ही मनुष्य परिवार, गिरोह और कबीलों के छोटे-छोटे दायरों से निकलकर वह समुदायों, समाजों और राज्यों में संगठित होने लगे, उनमें श्रम-विभाजन बढ़ा, उत्पादन, वितरण और शासन के लिये पृथक्-पृथक् वर्गों का उदय हुआ, विभिन्न वर्गों को असमान शक्ति, सम्पत्ति और साधन प्राप्त हुए। इस सम्पत्ति और शक्ति के असमान वितरण ने शोषण और अन्याय को जन्म दिया तथा समाज के विभिन्न सदस्यों को व्यक्तित्व के विकास के असमान अवसर दिये। इन असमान सामाजिक सुविधाओं ने ही विभिन्न सामाजिक समस्याओं की सृष्टि की। निर्धनता, अज्ञान, रोग, अपराध—ये प्रमुख सामाजिक समस्याएं थीं जिन्होंने अतिप्राचीन काल से मानव-जाति के विचारकों का ध्यान आकर्षित किया। मनु, प्लेटो, टामस मोर, मार्क्स, गांधी इत्यादि विभिन्न विचारकों ने हमारे सामने विभिन्न आदर्श समाजों के चित्र उपस्थित किये जिनमें विद्यमान सामाजिक समस्याओं को स्थान न होगा। इनमें से कुछ तो विस्तृत सामूहिक सामाजिक सुधार की योजनायें थीं जिनके लिये समाज के प्रत्येक क्षेत्र में एक साथ परिवर्तन होना जरूरी था। इसके विपरीत विभिन्न अन्य विचारक थे जो निर्धनता, जन-संख्या, बेकारी, रोगों, अथवा अपराधों के अन्त के लिये विभिन्न पृथक्-पृथक् योजनायें प्रस्तावित करते रहे। किन्तु सर्वसाधारण जनता अथवा उसके प्रतिनिधियों के हाथ में शक्ति न होने के कारण यह बहुमुखी अथवा एकमुखी योजनाएं केवल बौद्धिक चर्चा का ही विषय रहीं और कार्यान्वित न की जा सकीं। साथ ही उस समय तक उन आर्थिक और सामाजिक टेकनीकों का भी आविष्कार नहीं हुआ था, जिनकी सहायता से समाज सुधार की विभिन्न योजनाओं को सफलता-पूर्वक एक व्यावहारिक स्वरूप प्रदान करना संभव होता। यही कारण था कि सामाजिक कल्याण के क्षेत्र में उस समय विशेष प्रगति न हो सकी।

सामाजिक कल्याण की सर्वमान्य परिभाषा नहीं. सामाजिक कल्याण की

कोई सर्वमान्य परिभाषा देना न तो सरल ही है न संभव ही। सामाजिक कल्याण के संबंध में विभिन्न विचारकों और वर्गों की पृथक्-पृथक् धारणाएं हैं। एक वर्ग की दृष्टि में विभिन्न व्यक्तियों की पूर्ण प्रतियोगिता और राज्य द्वारा समस्त आर्थिक और गैर-आर्थिक मामलों में पूर्ण निर्हस्तक्षेप (Laissez faire) द्वारा ही सर्वाधिक कल्याण संभव है। इसके विपरीत दूसरे विचारकों का कहना है कि सामाजिक कल्याण के लिये राज्य द्वारा सम्पूर्ण आर्थिक और सामाजिक क्रियाओं का नियंत्रण और एकीकृत परिचालन आवश्यक है। एक वर्ग की दृष्टि में विचारों की स्वाधीनता ही सामाजिक कल्याण का परम लक्ष्य है, दूसरे वर्ग की दृष्टि में आर्थिक समानता का ही परम महत्त्व है।

एकमतता की दिशा में. सामाजिक कल्याण के संबंध में बावजूद इन मतभेदों के हम धीरे-धीरे बहुत-सी बातों पर एकमत होते जा रहे हैं। सर्वसाधारण के रहन-सहन के स्तर में उन्नति, पर्याप्त और पौष्टिक भोजन, आवश्यक वस्त्रों, स्वास्थ्यकर और हवादार घरों की व्यवस्था, रोगी होने की अवस्था में चिकित्सा और देख-रेख का समुचित प्रबंध, उनमें शिक्षा, मनोरंजन की सुविधाओं का प्रसार, समाज-विरोधी वर्गों को सुधारने और पुनर्स्थापित करने के प्रयास, सामाजिक शांति के उद्देश्य से विभिन्न सामाजिक वर्गों में परस्पर सहयोग, सामाजिक कल्याण के मुख्य और सर्वस्वीकृत लक्ष्य बनते जा रहे हैं।

सामाजिक सुधार, सामाजिक कानून, सामाजिक सुरक्षा

सामाजिक कल्याण के लिए पुनर्निर्माण आवश्यक. जैसा कि हम संकेत कर चुके हैं, विभिन्न सामाजिक समस्याओं का समाधान सामाजिक कल्याण का प्रधान लक्ष्य है। आज यह अच्छी तरह अनुभव किया जा रहा है कि केवल व्यक्तिगत प्रयत्नों द्वारा सामाजिक कल्याण की ओर नहीं बढ़ा जा सकता। उसके लिये हमें कुछ सामाजिक अर्थात् सामूहिक, सार्वजनिक और सरकारी प्रयत्न करने होंगे। इसका अर्थ यह नहीं कि इन प्रयत्नों में व्यक्तिगत प्रयत्नों को कोई स्थान न होगा। इसका अर्थ केवल इतना ही है कि सामाजिक प्रयत्न व्यक्तिगत प्रयत्नों के अभाव को पूरा करेंगे और आवश्यकता पड़ने पर उन्हें प्रोत्साहन भी प्रदान करेंगे। इस भांति व्यक्तिगत और सामाजिक प्रयत्नों में किसी प्रकार का विरोध न हो, समन्वय की चेष्टा अधिक श्रेयस्कर होगी।

सामाजिक सुधार, कानून, सुरक्षा और पुनर्निर्माण के साधन. सामाजिक कल्याण को अपनी सामाजिक नीति का लक्ष्य स्वीकार करने के पश्चात् दूसरा कार्य उसे प्राप्त करने के साधनों को जानना है। अब तक का इतिहास इस बात

का साक्षी है कि केवल व्यक्तिगत प्रयत्न जो कि सामाजिक ढांचे, कानूनों, सम्बन्धों और व्यवस्थाओं में किसी प्रकार के परिवर्तन नहीं लाते, सामाजिक पुर्ननिर्माण के लिए सर्वथा अपर्याप्त हैं। ऐसी स्थिति में हमें विद्यमान सामाजिक अवस्था में परिवर्तन की आवश्यकता अनुभव होती है। इसी परिवर्तन को हम सामाजिक सुधार का नाम देते हैं।

सामाजिक सुधार का समाजशास्त्रीय अर्थ. रोजमर्रा की बोलचाल की भाषा में समाज-सुधार का बहुत ही सीमित और संकुचित अर्थ है। सामान्यतः अस्पृश्यता या बाल-विवाह या दहेज-प्रथा की कुरीतियां दूर करने या विधवा-विवाह चालू करने के प्रयत्नों को ही सामाजिक सुधार कहा जाता है। रहन-सहन के स्तर में सुधार, स्वास्थ्य में उन्नति, अपराधियों को अच्छे नागरिक बनाने अथवा जनता को शिक्षित करने के प्रयत्नों का इसमें समावेश नहीं होता। समाजशास्त्रीय दृष्टि से पारिवारिक, आर्थिक, यहां तक कि राजनैतिक और धार्मिक परिवर्तन के समस्त सक्रिय प्रयत्न, सामाजिक सुधार के अंग हैं।

सामाजिक परिवर्तन और सुधार. सामाजिक परिवर्तन और सामाजिक सुधार के अन्तर को समझ लेना भी आवश्यक है। सामाजिक परिवर्तन को हम एक स्वचालित प्रक्रिया कह सकते हैं। विशेष कारणों से परिवर्तन हो जाते हैं, हम उन्हें लाने का जान-बूझकर प्रयत्न नहीं करते। इसके विपरीत समाज-सुधार द्वारा हम एक विशेष प्रकार का इच्छित परिवर्तन लाना चाहते हैं, जिसमें हमारा उद्देश्य सामाजिक कल्याण होता है।

सामाजिक पुर्ननिर्माण और सुधार. सामाजिक पुर्ननिर्माण और सामाजिक सुधार के अन्तर को भी व्यक्त किया जा सकता है। सामाजिक सुधार की तुलना में सामाजिक पुर्ननिर्माण अधिक क्रांतिकारी इच्छित परिवर्तन कहा जा सकता है, जिसमें हम सामाजिक सम्बन्धों और ढांचे में आमूलचूल या युगान्तर-कारी परिवर्तन लाना चाहते हैं, जब कि सुधार में क्रमिक या धीरे-धीरे संशोधन और परिवर्धन का भाव है। लेकिन यह क्रमिक सुधार स्वयं मिलकर एक समय बाद एक क्रांतिकारी परिवर्तन अथवा पुर्ननिर्माण का रूप धारण कर सकते हैं।

सामाजिक कानून. सामाजिक कल्याण के उद्देश्य से विभिन्न सामाजिक सुधारों को व्यावहारिक रूप देने के लिये उन्हें सरकारी स्वीकृति देना आवश्यक है। इस सरकारी स्वीकृति देने का कारगर साधन कानून है। कानून वह नियम है जिनकी पाबन्दी के लिये सम्बद्ध व्यक्ति या संस्थाएं बाध्य हैं। उनके उल्लंघन करने पर दण्ड देने की व्यवस्था होती है। इस प्रकार

कानून का पालन स्वेच्छा या कृपा पर आधारित न होकर शक्ति पर होता है। पिछले सौ सालों का अनुभव हमें यह बतलाता है कि विभिन्न सामाजिक कानूनों ने समाज-सुधार के आंदोलन को आगे बढ़ाने में महत्त्वपूर्ण पार्ट अदा किया है। यह बात सर्वथा सत्य है कि केवल कानून के जोर पर कोई सामाजिक सुधार नहीं हो सकता। सामाजिक कानून बनाने से पूर्व उसके पालन-कराने की क्षमता तथा जनमत द्वारा उसका समर्थन जरूरी है।

सामाजिक कानूनों में श्रमिक कानूनों का प्रमुख स्थान रहा है। विभिन्न फैक्टरी-कानून, बच्चों और माताओं के संरक्षण के कानून, मातृत्व और मुआवजा कानून और अन्ततः श्रमिकों के कल्याण और उनकी सामाजिक सुरक्षा से सम्बद्ध विभिन्न कानून, सामाजिक कानून के क्षेत्र में महत्त्वपूर्ण स्थान रखते हैं।

यद्यपि सामाजिक कल्याण की समस्या का केवल कानूनी सुधार से हल नहीं हो जाता, फिर भी कानूनों का आवश्यक सुधार और नये कानूनों का निर्माण सामाजिक कल्याण की प्राप्ति के आवश्यक अंग हैं।

सामाजिक सुरक्षा. प्रसूति, अंगहानि, बीमारी, असमर्थता, बुढ़ापा और बेकारी ऐसी अवस्थाएं हैं जिसमें कि व्यक्ति को बाह्य सहायता की आवश्यकता होती है। इन जोखिमों के विरुद्ध सुरक्षा-व्यवस्था को सामाजिक सुरक्षा कहा जाता है। इस शती ने सामाजिक सुरक्षा के आंदोलन में विशेष रूप से प्रगति की है। सामाजिक सुरक्षा सामाजिक कल्याण की प्राप्ति का एक महत्त्वपूर्ण अंग है। सामाजिक सुरक्षा पर हमने पुस्तक के आखिरी अध्याय में विस्तार से विचार किया है।

सामाजिक सुरक्षा सामाजिक कल्याण का एक अनिवार्य अंग है। किन्तु सामाजिक कल्याण उससे अधिक विस्तृत वस्तु है, उसमें सामाजिक सुरक्षा के अतिरिक्त, सामाजिक उत्थान, जागृति, शिक्षा का भी समावेश है। इस प्रकार सामाजिक कल्याण की प्राप्ति के लिये सामाजिक सुरक्षा के अतिरिक्त उन अन्य चीजों की भी जरूरत है जो सामाजिक कल्याण में वृद्धि करती हैं।

सामाजिक कल्याण राज्य का दायित्व. अभी हाल तक व्यक्ति, परिवार, अथवा उसके उत्पादन-संघ (Guild), सम्प्रदाय या दानियों के बिखरे हुए प्रयत्न ही सामाजिक कल्याण के प्रमुख साधन थे। १९ वीं सदी में तो यह आम विश्वास था कि सामाजिक कल्याण की प्राप्ति के लिए किसी भी प्रकार का सरकारी हस्तक्षेप सर्वथा अनुचित है। किन्तु शीघ्र ही यह स्पष्ट हो गया है कि सामाजिक जीवन में यह निर्हस्तक्षेप भयानक शोषण और अन्याय की सृष्टि करेगा। इधर शोषित वर्गों ने भी अपने को संगठित किया।

जनतंत्र के विचारों और राजनैतिक जागृति ने भी सामाजिक कल्याण के सार्वजनिक दायित्व पर बल दिया।

इसके अतिरिक्त आधुनिक आर्थिक व्यवस्था ने अनेक नये जोखिमों, असुरक्षाओं, संकटों और समस्याओं की सृष्टि की जिन्हें व्यक्तिगत प्रयत्नों—पारिवारिक सहायता अथवा दान-धर्म से सुलझाना कठिन हो गया। आर्थिक ढांचे के परिवर्तित स्वरूप, बेकारी, समय-समय पर उपस्थित होनेवाले आर्थिक संकट, उद्योगजनित रोग और दुर्घटनाएं ऐसी ही समस्याएं हैं। ऐसी स्थिति में जिन्-जिन देशों में राष्ट्रीय आय बढ़ती जा रही है, जनतांत्रिक संस्थाओं की स्थापना हो रही है, राजनैतिक चेतना की वृद्धि हो रही है, समाज विभिन्न आपदाओं में नागरिकों की सहायता तथा उनके कल्याण की वृद्धि की जिम्मेदारी अपने कंधों पर ले रहा है।

नागरिक संस्थाओं को प्रोत्साहन. लेकिन सामाजिक कल्याण का समस्त कार्य राज्य के कंधों पर डालकर सामाजिक कल्याण की वृद्धि नहीं हो सकती। राज्य की नीति का उद्देश्य एक ओर उन क्षेत्रों में जहां व्यक्तिगत प्रयत्न अपूर्ण हैं, स्वयं मार्ग-दर्शन करना है, वहां दूसरी ओर विभिन्न क्षेत्रों में सुचारु रूप से काम करनेवाली नागरिक संस्थाओं को उचित प्रोत्साहन प्रदान करना है।

भारत की पंचवर्षीय योजना में सामुदायिक दृष्टिकोण (Community approach). भारत की पंचवर्षीय योजना में उसके निर्माताओं ने सामाजिक कल्याण के लिए न तो एकांततः व्यक्तिगत प्रयत्नों को और न ही सरकारी दायित्व को स्वीकार किया है। इसके विपरीत उन्होंने इन दोनों के बीच एक सामंजस्य स्थापित करने की चेष्टा की है। उनके अनुसार सामाजिक कल्याण का क्षेत्र उस अनुपात में विकसित होना चाहिए, जिस अनुपात में कि स्थानीय समुदाय उसके संचालन का दायित्व अपने कंधों पर ले सकें। वह इस संबंध में राज्य द्वारा महत्त्वपूर्ण पार्ट अदा करने की आवश्यकता को तो स्वीकार करते हैं। उनके सामाजिक कल्याण के कार्यक्रम में एक दूसरे से सम्बद्ध चार विचार जुड़े हैं:—(१) स्वयं अपनी सहायता (Self help) और पारस्परिक सेवा (Mutual Service), (२) संगठित सामुदायिक जीवन द्वारा स्थानीय साधनों का अधिकतम विकास, (३) सहकारी प्रयत्न में हिस्सा लेना और, (४) आर्थिक सुधार और सांस्कृतिक विकास। यह कार्यक्रम प्रारम्भ में मुख्यतः गांवों तक सीमित होगा और सामुदायिक योजनाओं (Community

Projects) में इसकी अभिव्यक्ति हुई है। ये कार्यक्रम गांव की जिन्दगी के कुछ बुनियादी पहलुओं पर केंद्रित हैं। इनका उद्देश्य केवल गांवों के वातावरण में ही परिवर्तन नहीं, प्रत्युत् सामाजिक और आर्थिक संगठनों में भी परिवर्तन लाना है। शहरों में भी यह सामुदायिक योजनाएं उपयोगी सिद्ध हो सकती हैं।

उक्त दृष्टिकोण की उपयुक्तता के सम्बन्ध में तत्काल कुछ कहना कठिन है। केवल अनुभव से ही हम यह जान पायेंगे कि यह कहां तक ठीक है और इसमें किन संशोधनों की आवश्यकता है।

सामाजिक कल्याण के सम्बन्ध में वैज्ञानिक दृष्टिकोण. अभी तक सामाजिक कार्य के पीछे विभिन्न व्यक्तिगत विश्वास, पूर्वधारणायें, आशाएं और सिद्धांत काम करते रहे हैं। इस क्षेत्र में निरीक्षण की वैज्ञानिक और आगमन (Inductive) पद्धति को अपनाना एक अनिवार्य आवश्यकता है। सामाजिक कल्याण को मूर्त रूप देने के लिये हमें विभिन्न विज्ञानों की खोजों से लाभ उठाना होगा। अध्यात्मवाद, साम्यवाद या अराजकतावाद के कल्पना-लोक के आधार पर हम सामाजिक कल्याण की दिशा में नहीं बढ़ सकते, साथ ही हम प्रचलित रूढ़ियों, कानूनों, परम्पराओं, प्रतिदिन के कार्यों और व्यवहारों को भी अपना मानदण्ड स्वीकार कर नहीं चल सकते। सामाजिक कल्याण की ओर बढ़ने में वैज्ञानिक पद्धति का अपनाना सर्वथा आवश्यक है।

दूसरा अध्याय

शिक्षा

सामाजिक जीवन में शिक्षा का स्थान. विस्तृत अर्थों में सामाजिक जीवन के प्रारम्भ के साथ ही किसी न कसी प्रकार की शिक्षा का श्रीगणेश हो जाता है। प्रत्येक समाज में अपनी भूमिका अदा करने के लिए, अपने पद की रक्षा के लिए, अपनी प्रतिष्ठा की वृद्धि के लिए अथवा अपनी जीविका के लिए कुछ विशिष्ट तथ्यों को जानने, कुछ विशिष्ट गुणों को अपनाने, कुछ विशिष्ट कार्यों का अभ्यास करने की आवश्यकता पड़ती है। अविकसित समाजों में प्रायः यह कार्य परिवार या कबीले के कुछ विशिष्ट व्यक्तियों के जिम्मे रहता है। लेखन-कला से अपरिचित होने के कारण इस शिक्षा का रूप मौखिक या क्रियात्मक रहता है। आविष्कारों और संगठित सरकार के अभाव में यहां पर शिक्षा की कोई सिलसिलेवार व्यवस्था अथवा विशिष्ट संस्था नहीं होती। फिर भी प्रत्येक समाज अपने आदर्शों, आवश्यकताओं और विश्वासों के अनुरूप अपने सदस्यों को विशेष सांचे में ढालने का प्रयत्न करता है। समाज के यह प्रयत्न शिक्षा के अन्तर्गत आते हैं।

शिक्षा का कार्य. बच्चे के अन्दर अन्तर्हित संभावनाओं को विकसित करना, उन्हें पूर्णता प्रदान करना तथा उनके अभ्यास के लिए उचित सुविधाएं प्रदान करना शिक्षा का प्रधान उद्देश्य है। हर एक मानव प्राणी एक माने में अपने आप में एक विशिष्ट और अनुपम इकाई है। इस प्रकार बच्चा एक कोरी तख्ती नहीं है जिसपर आप जो कुछ चाहें लिख दें। उसके अपने शारीरिक, मानसिक और नैतिक गुण हैं, जो कि अभ्यास के अभाव में विशिष्ट क्रिया सम्पन्न करने में असमर्थ हैं। उनमें अच्छी और बुरी प्रवृत्तियां हैं जो कि अत्यधिक अंशों में आनुवंशिकता, शारीरिक बनावट तथा वातावरण द्वारा निर्धारित होती हैं। अतएव शिक्षा का कार्य बच्चे की अन्तर्हित शक्तियों के अभ्यास और विकास की सुविधाएं प्रदान करना कहा जा सकता है।

हर संस्कृति के लिए पृथक् शिक्षा की आवश्यकता. यों तो एक प्रकार से सब मानव प्राणियों की एक ही प्रकृति है पर फिर भी कोई प्राणी यहां

तक कि जुड़वां बच्चे भी एक दूसरे की प्रतिलिपि नहीं हैं। यह तथ्य प्रत्येक प्राणी के लिए उसकी रुचि, क्षमता और कार्यक्षेत्र के अनुसार पृथक् शिक्षण-आवश्यकताओं की ओर संकेत करता है। यह पृथकता एक समाज के व्यक्तियों में तो इतनी नहीं, पर विभिन्न संस्कृतियों में अवश्य पर्याप्त अधिक हो जाती है। इसका प्रधान कारण एक संस्कृति की अपनी भाषा, रीति-रिवाज़, धर्म, प्राकृतिक वातावरण, जलवायु, भोजन, विचारधारा, इतिहास और परम्पराओं का होना है। यही कारण है कि यदि हम एक राष्ट्र को एक संस्कृति का प्रतिनिधि मान लें तो हमें उस राष्ट्र के लिए एक विशिष्ट शिक्षा-पद्धति की आवश्यकता अनुभव होती है जो कि उस राष्ट्र की प्रतिभा के अनुकूल हो।

आधुनिक युग में शिक्षा एक सामाजिक दायित्व. हम बता चुके हैं कि सामाजिक जीवन के प्रारम्भ से ही हम किसी न किसी प्रकार के शिक्षण-प्रयत्नों को देखते आ रहे हैं। पर जहां प्राचीन और आधुनिक शिक्षा की पद्धति या पाठ्यक्रम में पर्याप्त भेद है, जिसका प्रधान कारण सामाजिक ढांचे का परिवर्तन है, वहां उसके दायित्व के सम्बन्ध में भी महान् क्रान्ति घटित हुई। आज से सौ साल पहले प्रायः समस्त ही तथाकथित सभ्य राष्ट्रों में बच्चों की शिक्षा उनके मां-बाप का दायित्व था, जिसका परिणाम था कि समाज के केवल समृद्ध सबल और सम्मानित सदस्यों की संतान को ही शिक्षा की सुविधाएं और अधिकार प्राप्त थे। ऐसी स्थिति में यह स्वाभाविक ही था कि समुदाय का एक बड़ा भाग शिक्षा से वंचित रह जाता।

यह बात सौ से अधिक साल पुरानी नहीं है कि सभ्य राष्ट्रों में समाज के सारे बच्चों की शिक्षा का दायित्व सरकार का समझा जाने लगा। कल्याण-परक राज्य की कल्पना, औद्योगिक क्रान्तिजनित आर्थिक समृद्धि तथा राजकीय राजस्व की असाधारण वृद्धि ने इसे व्यावहारिक स्वरूप देना संभव बनाया। आज प्रायः सभी उन्नत राष्ट्रों में विशिष्ट अल्पतम शिक्षा प्रदान करना सरकार का प्रमुख कर्त्तव्य है और उन देशों की सामाजिक कल्याण-योजनाओं का अभिन्न अंग है। अनिवार्य और निःशुल्क प्राथमिक और माध्यमिक शिक्षा आज के प्रगतिशील राष्ट्रों का एक प्रधान लक्ष्य बन चुकी है।

भारत में शिक्षा-संस्था का विकास

शिक्षा के क्षेत्र में भारत की भूमिका. प्राचीन काल से लेकर आज तक हमारी क्या शिक्षा-व्यवस्था रही है, उसकी क्या विशेषताएं रही हैं, इसका

जानना केवल मनोरंजक ही नहीं अपितु उपयोगी भी है। आगे हम संक्षेप में भारत में शिक्षा के विकास और उसकी आधुनिक समस्याओं और पुनर्निर्माण की योजनाओं पर संक्षेप में प्रकाश डालेंगे।

आदिकाल से ही शिक्षा का सम्मान. यद्यपि प्राचीन भारत में शिक्षा सार्वभौम और अतिविस्तृत नहीं थी, फिर भी इसमें संदेह नही कि इस देश में शिक्षा का सदैव सम्मान किया गया है तथा शिक्षकों को योद्धाओं और शासकों से अधिक ऊंचा स्थान प्रदान किया गया है।

प्राचीन भारत में शिक्षा

वैदिक काल. प्राचीन भारत में शिक्षा का क्या स्वरूप था इस संबंध में निश्चितता से कुछ कह सकना कठिन है, फिर भी हम उसके बारे में जो कुछ जानते हैं उसका आधार तत्कालीन ग्रन्थ ही हैं।

यदि हम आर्यों की प्रथम रचना ऋग्वेद को छोड़ दें, तब भी महाभारत और रामायण से हमें तत्कालीन समाज में एक अच्छे शिक्षास्तर की सूचना मिलती है। किन्तु जब हम एक सिलसिलेवार शिक्षा-व्यवस्था के प्रमाण खोजते हैं, वह हमें नहीं मिलते। किन्तु वेदों और उपनिषदों से हमें यह ज्ञात होता है कि बच्चे के जीवन में कुछ समय शिक्षा के लिए निश्चित था। प्रारम्भिक वैदिक युग में कई ऐसे शिक्षक थे जिनके परिवारों में अनेक अन्तेवासी ब्रह्मचारी जाकर अध्ययन करते थे। इस तरह वहां पर शिक्षक और शिष्य के बीच घनिष्ठ व्यक्तिगत सम्पर्क था।

प्रवेश आयु. एक ब्राह्मण बालक प्राय: ८, क्षत्रिय ११, वैश्य १२ वर्ष की आयु में विद्याध्ययन प्रारम्भ करते थे। असाधारण अवस्थाओं में यह सीमा क्रमश: १६, २२ और २४ वर्ष तक विस्तृत की जा सकती थी।

शिक्षा का धार्मिक और वैयक्तिक स्वरूप. प्राचीन शिक्षा का प्रधान लक्षण उसकी धार्मिकता था। वास्तव में शिक्षा धर्म में प्रवेश का साधन थी। शिक्षक का प्रधान कार्य संध्या, यज्ञ, अनुष्ठान तथा वर्ण-आश्रम-धर्म की शिक्षा देना होता था। इसमें नि:संदेह व्याकरण, संहिता, गणित, पुराण और संभवत: ज्योतिष आदि सामान्य शिक्षा का भी समावेश था। फिर भी आधुनिक आवश्यकताओं की पृष्ठभूमि में प्राचीन भारतीय शिक्षा मूलत: धार्मिक और वैयक्तिक (Personal) थी।

शिक्षा-व्यवस्था. उक्त दोनों बातों को विद्यार्थियों के मनों पर अंकित करने के लिए प्रत्येक कार्य के लिए सूक्ष्म धार्मिक क्रियाओं का विधान था।

विद्यार्थी जंगल से लकड़ी लाते, अपने और शिक्षक के भरण-पोषण के लिए गृहस्थों से भिक्षा करते तथा गुरुकुल में परिवार के सदस्य की भांति कठोर और सरल जीवन व्यतीत करते थे।

पाठचक्रम में वैदिक संहिताओं का अध्ययन ही प्रमुख था। प्रायः श्रावण मास में अध्ययनसत्र प्रारम्भ होता और माघ के महीने में समाप्त होता। बीच-बीच में धार्मिक उत्सवों और अनुष्ठानों पर छुट्टियां भी होतीं।

जाति और पद के भेद से उपर्युक्त शिक्षा-व्यवस्था ऋग्वैदिक युग से लेकर वुद्ध और जैन-धर्म के उत्कर्ष तक चलती रही।

बौद्ध युग. बौद्ध और जैन-सुधारणा ने हमारे देश में मठ या बिहार-प्रणाली का सूत्रपात किया जो कि धीरे-धीरे मौलिक ब्राह्मण धर्म में भी प्रवेश कर गई। इसने बड़े-बड़े मठों की स्थापना की जहां कि नालन्दा की भांति बड़ी संख्या में शिक्षक और विद्यार्थी एक प्रकार का समुदाय बनाकर रहते थे। यह मठ, जहां कि बौद्ध धर्म की उच्च शिक्षा प्रदान की जाती थी—मध्यकालीन योरोप के मठों तथा विश्वविद्यालयों से मिलते-जुलते थे। बौद्ध बिहार और संघाराम आन्तरिक एकीकरण द्वारा विशाल शिक्षण-नगरों में विकसित हो गये। हाल में ही खुदा हुआ नालन्दा इसका एक उत्तम नमूना है।

एक संघाराम से प्रारम्भ हो अपने प्रसिद्ध दार्शनिक अध्यापकों की कीर्ति से आकर्षित हो वहां पर चीन और लंका जैसे सूदूर देशों से बौद्ध ही नहीं, अबौद्ध विद्यार्थी भी नालन्दा में अध्ययन के लिये जमा होने लगे। इस प्रकार नालन्दा ने एक विश्वविद्यालय का रूप धारण कर लिया, जहां कि देश-देशान्तरों से आये हुए विद्यार्थी और शिक्षक उसके विस्तृत भवन में एक सम्मिलित जीवन यापन करते थे। सातवीं शती में जिस समय ह्यून-सांग और इत्सिग यहां रहे, यहां पर ४,००० विद्यार्थी अध्ययन कर रहे थे। नालन्दा के अतिरिक्त विक्रमशिला, उदन्तपुरी, जग्गदाल और तक्षशिला भी इसी प्रकार के विश्वविद्यालय थे।

पाठच-क्रम. इन विश्वविद्यालयों में अध्ययन पर्याप्त विस्तृत था। और दर्शन में नालन्दा का नाम था। इसके अतिरिक्त यहां तर्कशास्त्र, व्याकरण, और गणित के अध्ययन की भी व्यवस्था थी तथा विद्यार्थी वाद-विवाद, रथों की दौड़, मल्ल-युद्ध, बाण चलाने, अभिनय और नृत्य में भी हिस्सा लेते थे। प्रवेश-परीक्षा (Entrance Examination) जो कि द्वार पर नियुक्त शिक्षकों द्वारा ली जाती थी पर्याप्त कठोर थी, क्योंकि दस में आठ बाहर के विद्यार्थी उसमें असफल होते थे।

इत्सिंग का उपर्युक्त वर्णन भारत में तत्कालीन उच्च शिक्षा की समृद्ध स्थिति को सूचित करता है। अभी भी शिक्षा धर्म से पृथक् न थी। पर जहां उच्च शिक्षा की संतोषजनक व्यवस्था थी वहां सर्वसाधारण जनता की प्रारम्भिक शिक्षा अधिक विस्तृत न थी।

मध्य युग. हिंदू और बौद्ध शिक्षा जिस समय तुलनात्मक दृष्टि से पर्याप्त उन्नत थी, हमारे यहां मुस्लिम आक्रमण शुरू हुए।

जहां तक इस्लाम के पैगम्बर के प्रारम्भिक अनुचरों का सम्बध है, वह शिक्षा की ओर से उदास न थे, जो कि इस उक्ति से स्पष्ट है—"खैरात में सोना देने से बच्चे को तालीम देना बेहतर है।" पहले चार खलीफाओं ने, विशेष कर उम्मयुद-काल में, नव-धर्मदीक्षित प्रदेशों में प्रारम्भिक शिक्षा की बुनियाद डाली थी। लेकिन जिस समय इस्लाम हिन्दुस्तान में आया वह उसकी शिक्षा में अन्धकार और पतन का युग था। उस समय तक उसकी विद्यापीठें संस्कृति के उदार आदर्शों को भूल संकीर्ण साम्प्रदायिक वाद-विवादों में लग गई थीं। छोटी ग्राम-पाठशालाएं अवश्य मस्जिदों के पास विकसित हुई जहां कुरान की आयतों और कहावतों के अलावा शायद ही कुछ और रटाया जाता हो। मुगलों के आगमन से पहले शिक्षा की दिशा में कोई भी व्यवस्थित प्रयत्न नहीं हुआ। बाबर ने शिकायत की न तो हिन्दुस्तान में मदरसे हैं न मस्जिदें और न ही तहजीबयाफ्ता सोहबत।

इसका यह तात्पर्य नहीं कि ८ वीं सदी से १६ वीं सदी तक मुस्लिम शासन-काल में बादशाहों ने शिक्षा के लिए कुछ नहीं किया।

११९२ में मुहम्मद गोरी ने दिल्ली में बसकर पाठशालाओं की जगह मकतबों की स्थापना की। उसके उत्तराधिकारी कुतुबुद्दीन ने भी कुछ मकतब बनवाए और उसी के शासन-काल में विक्रमशिला के प्रसिद्ध बौद्ध विश्वविद्यालय पर आक्रमण किया गया। इसके बाद अल्तमश, सुल्ताना रजिया, नजरुद्दीन और बलबन ने भी मकतबों को प्रोत्साहन दिया।

गुलामवंशी बादशाहों की भांति खिलजी शासकों ने शिक्षा को नहीं बढ़ाया। १३२५ से १४१३ तक शासन करनेवाले तुगलक बादशाहों ने पुनः इस ओर कुछ ध्यान दिया। 'फरिश्ता' के लेखक के अनुसार उसने ३६ लाख रुपया शिक्षा पर व्यय किया तथा मस्जिदों से मिले तीस मदरसे कायम किये जहां पर कि उस्तादों और तालिबिल्मों को मुफ्त खाना-कपड़ा मिलता था।

तुगलक के उत्तराधिकारियों से पुनः शिक्षा की उपेक्षा शुरू हुई। १३९८ में तैमूर ने दिल्ली के सारे मकतब और मदरसों को नेस्तोनाबूद कर दिया।

१४१४ से १५२६ तक शासन करनेवाले सैयद और लोदी बादशाहों ने भी, सिकंदर लोदी को छोड़, शिक्षा के लिए कुछ नहीं किया।

जब कि दिल्ली के शासक कभी शिक्षा को क्रमशः प्रोत्साहित और अनुत्साहित कर रहे थे, अमहदनगर, मालवा, गोलकुंडा, सिंध और बीजापुर जैसे छोटे स्वाधीन राज्यों के शासक छोटी-छोटी ग्राम-पाठशालाओं की स्थापना कर रहे थे।

फिर भी हम नहीं कह सकते कि मुगल बादशाहों से पहले मुस्लिम शासकों की कोई व्यवस्थित शिक्षा-नीति विद्यमान थी। बाबर ने शासन-सूत्र संभालते समय विद्या के पतन की शिकायत की थी। लेकिन वह भी इस दिशा में कुछ अधिक न कर सका। हुमायूं ने दिल्ली में सिर्फ एक मदरसे का निर्माण किया।

अकबर के सत्प्रयत्न. शिक्षा के प्रोत्साहन की एक निश्चित नीति का प्रारम्भ अकबर का ही काम था। उसने महाभारत, रामायण, अथर्ववेद, लीलावती और जातक तथा कश्मीर के इतिहास के फारसी में अनुवाद कराये। एक बृहत् पुस्तकालय की स्थापना की, चित्र-कला और संगीत को प्रोत्साहन दिया, और सबसे महत्त्वपूर्ण बात यह की कि हिंदू-मुसलमानों के लिए एक ही विद्यालय खोले जहां उन्हें एक ही पाठ्यक्रम पढ़ाया जाता था।

सबसे पहले विद्यार्थियों को उच्चारण के साथ फारसी अक्षरों का अभ्यास कराया जाता था। उसके बाद उन्हें गद्य और पद्य के कुछ सरल अंश पढ़ाये जाते थे जिनमें किसी धार्मिक या नैतिक सत्य पर जोर दिया रहता था। हर दिन उन्हें चार काम करने होते थे—अक्षर-ज्ञान, हिज्जे करना, बारहखड़ी तथा पिछले सबक को दोहराना। उच्च कक्षाओं के विद्यार्थियों को उस समय तक ज्ञान-विज्ञान निम्नक्रम में पढ़ाये जाते थे—आचार-शास्त्र, गणित, बहीखाता, ज्यामिति, ज्योतिष, अर्थशास्त्र, भौतिक विज्ञान, तर्कशास्त्र, दर्शन और इतिहास। मुसलमानों को कुरान और हिंदुओं को व्याकरण, वेदान्त और पतंजलि के योगसूत्रों का अध्ययन कराया जाता था।

अकबर ने फतेहपुर सीकरी, आगरे और गुजरात में अनेक मदरसे कायम किये। इनमें से अधिकांश ऐसे थे जहां विद्यार्थी रहकर पढ़ते थे। राजकीय संस्थाओं के अतिरिक्त कुछ व्यक्तिगत स्कूल भी थे जहां संगीत, चित्रकला, दर्शन और गणित की उच्चतम शिक्षा प्रदान की जाती थी।

शिक्षा के क्षेत्र में अकबर की सबसे बड़ी सफलता और देन एक ही स्कूलों में हिन्दू और मुसलमानों का सम्मिलित प्रवेश, हिन्दू और मुस्लिम कला और साहित्य को प्रोत्साहन, उनके श्रेष्ठ ग्रन्थों का अनुवाद, विभिन्न देशों और धर्मों के

विद्वानों का सत्कार तथा अपेक्षतया अधिक शिक्षण-संस्थाओं की स्थापना थी।

अकबर के लड़के जहांगीर को अच्छी शिक्षा मिली थी। उसने भी शिक्षा को पर्याप्त प्रोत्साहन दिया और उत्तराधिकारहीन सम्पत्ति को शिक्षा में लगाया। उसे चित्रों और पुस्तकों के संकलन का शौक था। प्रसिद्ध संगीतज्ञ, गणितज्ञ, इतिहासकार और कवियों को उसका संरक्षण प्राप्त था। किन्तु अकबर की तुलना में उसकी शिक्षा-नीति कम व्यवस्थित थी और उसके पुत्र शाहजहां की उससे भी कम व्यवस्थित। किन्तु दोनों में से कोई भी इस दिशा में प्रतिगामी न थे। जामा-मस्जिद के निकट शाही मदरसे की स्थापना के लिए जहांगीर प्रसिद्ध है। इसके अतिरिक्त उसने दारुलबका मदरसे की मरम्मत कराई और मौलाना मुहम्मद सदरुद्दीन को उसका संचालक नियुक्त किया।

औरंगजेब. दारा से उदार शिक्षा-नीति को अपनाने और व्यावहारिक रूप देने की आशा थी, किन्तु औरंगजेब के उत्कर्ष ने पांसा पलट दिया।

बहुसंख्यक हिन्दू प्रजा की शिक्षा के सम्बन्ध में औरंगजेब की नीति अकबर से उल्टी थी। अप्रैल १६६९ में उसने अपने सूबेदारों को अपने अधिकार-क्षेत्र के मन्दिर और पाठशालाएं तोड़ने का आदेश दिया। किन्तु उसने मुसलमानों की शिक्षा पर दिल खोलकर खर्च किया। उसने दीवानों को विद्यार्थियों की योग्यता के अनुसार छात्रवृत्ति देने का हुक्म दिया और अहमदाबाद, सूरत और पटना में शिक्षक और छात्रों की संख्या में वृद्धि करवाई।

राजकीय मदरसों के अतिरिक्त, व्यक्तियों द्वारा स्थापित मदरसे भी थे जिन्हें कभी-कभी औरंगजेब की सहायता भी मिलती थी। अहमदाबाद, स्यालकोट और बियाना में ऐसे कई मशहूर मदरसे थे।

औरंगजेब कला-शत्रु होने के साथ प्रबल विद्याप्रेमी भी था। अपने शिक्षक मुल्ला साले को बताई हुई निम्न फटकार में उसकी ज्ञानतृष्णा का अच्छा आभास मिलता है :

"क्या यह मेरे शिक्षक का दायित्व नहीं था कि वह मुझे पृथ्वी के समस्त राष्ट्रों के प्रमुख लक्षणों, उनके साधनों, उनकी शक्ति, उनकी युद्ध-प्रणाली, उनके रिवाज, मजहबों, शासन-प्रणालियों तथा उनके प्रधान स्वार्थों का ज्ञान कराता और इतिहास के नियमित अध्ययन द्वारा राज्यों के उद्गम, प्रगति और पतन, घटनाओं, दुर्घटनाओं या उन भूलों से परिचित कराता जिनके कारण ऐसे महान् परिवर्तन और शक्तिशाली क्रांतियां घटित हुई ?"

वावजूद इसके औरंगजेब की संकीर्ण साम्प्रदायिक मनोवृत्ति अधिकांश जनता की शिक्षा की उपेक्षा का प्रधान कारण थी।

औरंगजेब के उत्तराधिकारी. वहादुरशाह (१७०७-१२) को शिक्षा का अधिक शौक न था, यद्यपि उसके शासन-काल में दिल्ली में दो नये मदरसे स्थापित हुए। मुहम्मद शाह के शासन-काल (१७१९-४८) में सैयद-भाइयों के आपसी झगड़े ही चलते रहे। नादिरशाह के आक्रमण ने इनका अन्त किया। किन्तु इसी काल में ज्योतिष की शिक्षा को अवश्य प्रोत्साहन मिला और इसी समय जयपुर के राजा जयसिंह द्वारा दिल्ली के जंतर-मंतर की वेधशाला का निर्माण हुआ।

नादिरशाह मुगलों की मेहनत से बनाये शाही पुस्तकालय को लूटकर फारस ले गया। शाह आलम द्वितीय (१७५९-१८०६) ने पुनः एक सुन्दर पुस्तकालय वनवाया, जिसको पुनः गुलाम कादिर ने लूट लिया।

यह हमारी प्राचीन और मध्यकालीन अथवा तथाकथित हिन्दू और मुस्लिम शिक्षा-व्यवस्था की संक्षिप्त रूपरेखा है।

प्राचीन और मध्यकालीन शिक्षा की प्रमुख विशेषताएं

कुछ लोगों तक सीमित. प्राचीन और मध्यकालीन शिक्षा के इतिहास के अध्ययन से हम दो मुख्य निष्कर्षों पर पहुंचते हैं—यद्यपि शासक और माता-पिता प्राचीन काल से ही शिक्षा के महत्त्व को समझते थे पर फिर भी उनमें से अधिकांश अपनी प्रजा तथा अपने बच्चों की शिक्षा-व्यवस्था करने में समर्थ न थे। इसके कारण उतने आर्थिक न थे जितने कि सामाजिक और साम्प्रदायिक। यही कारण था कि हमारे यहां सार्वजनिक सार्वभौम शिक्षा नाम की चीज कभी स्थापित न हो सकी। बहुत पहले से ही शूद्रों तथा स्त्रियों से शिक्षा का अधिकार छिन गया और इस प्रकार लगभग दो-तिहाई जनता सदा के लिए ज्ञान के प्रकाश से वंचित कर दी गई। मध्यकाल में साम्प्रदायिक कारणों से जो भी थोड़ा-बहुत प्रोत्साहन मिला वह केवल कुछ मुस्लिम छात्रों के लिए खोले गये चन्द मकतवों और मदरसों तक सीमित रहा। पर इसका अर्थ नहीं कि सारी भारतीय जनता इस दीर्घकाल में अज्ञानान्धकार में भटकती रही। विद्याव्यसनी और निर्लोभी ब्राह्मण प्रायः प्रत्येक गांव में स्थित टोल और पाठशालाओं द्वारा कम से कम उच्च जातियों के बालकों को तो अवश्य अक्षर-ज्ञान कराते रहे और धार्मिक ग्रन्थ पढ़वाते रहे।

अव्यावहारिक शिक्षा. पर इसमें संदेह नहीं कि जो शिक्षा हमारे यहां

प्राचीन या मध्यकाल में पाठशालाओं और मकतबों में दी जा रही थी कुछ अपवादों को छोड़कर वह बहुत ही एकांगी थी। केवल अक्षर-ज्ञान तथा कुछ धार्मिक पुस्तकों को कंठस्थ कर लेने में ही उसकी इतिश्री थी। धर्म का उस पर अनुचित प्रभाव था। वैज्ञानिक, उपयोगी और व्यावहारिक शिक्षा की प्रायः दयनीय उपेक्षा थी। किन्तु हमें यह न भूलना चाहिये कि यह कोई ऐसी बात नहीं थी जो कि केवल भारत की ही विशेषता अथवा एकाधिकार रही हो। यदि हम मध्यकालीन योरोप के इतिहास पर दृष्टि डालें तो हमें पर्याप्त समानताएं नजर आयेंगी।

गुरु-शिष्य का निकट सम्पर्क. प्राचीन और मध्यकालीन भारतीय शिक्षा की एक अन्य विशेषता अध्यापकों और विद्यार्थियों के बीच घनिष्ठ वैयक्तिक सम्पर्क था जो कि मूलतः गुरुकुल या पारिवारिक प्रणाली पर आधारित था। सैकड़ों सालों में चाहे कितने ही नये शासक आये और गये, बने और बिगड़े, पर गुरु और शिष्य की यह एकात्मता, उनके वैयक्तिक सम्बन्धों की निकटता बहुत कुछ अक्षुण्ण ही रही।

धर्म और शिक्षा का घनिष्ठ सम्बन्ध. प्राचीन हिन्दू शिक्षक के सामने धर्म की समस्या न थी, जाति की अवश्य थी, पर इस्लाम के आगमन ने धार्मिक विभेद की समस्या को उपस्थित किया। चूंकि धर्म शिक्षा से अभिन्नतया जुड़ा हुआ था, अतः हिन्दू और मुसलमान शिक्षा की दृष्टि से पर्याप्त पृथक् हो गये। ऐसी स्थिति में मुस्लिम शासकों के लिए एक ही रास्ता था, कि या तो वह अपनी हिन्दू प्रजा की शिक्षा की उपेक्षा करें, अथवा उनके लिये पृथक् शिक्षण-संस्थाओं का प्रबन्ध करें। उनमें से अधिकांश शासकों ने पहले मार्ग का अनुसरण किया। पर अकबर जैसे कुछ शासकों ने दूसरे मार्ग को अपनाया। पर यह बात ध्यान देने योग्य है कि बिना राजकीय सहायता के केवल व्यक्तिगत सहायता से इस काल में भी हजारों हिन्दू पाठशालाएं चलती रहीं। उनमें से किसी ने इस सिद्धांत को, कि प्रत्येक बालक को अपनी धार्मिक शिक्षा का अधिकार है, चुनौती नहीं दी और एक धर्मरहित, तटस्थ शिक्षा द्वारा इस समस्या के समाधान करने का साहस नहीं किया। इस प्रकार ऐहिक शिक्षा और धर्म के बीच घनिष्ठता कायम रही और शिक्षा पर धार्मिक रंग चढ़ा रहा।

मुनाफा-वृत्ति का अभाव. इसके अलावा शिक्षा अभी तक न तो जीविकोपार्जन का साधन और न ही अध्यापकों के लिए वह कमाई का जरिया बन पाई थी। अध्यापक मुख्यतः कर्त्तव्य और प्रेम की भावना से ही अनुप्राणित हो शिक्षा-

दान देते थे। इस प्रकार शिक्षा में अभी तक व्यापारिक या मुनाफा-वृत्ति का प्रवेश नहीं हो पाया था, जो कि एक अच्छी बात थी। परीक्षा पास कर सर्टीफिकेट प्राप्त कर नौकरी पाना उस समय की शिक्षा का उद्देश्य न था। यदि हम अन्य उन्नत देशों के तत्कालीन इतिहास पर नजर दौड़ाएं तो हमें ज्ञात होगा कि यह नौकरी की प्रवृत्ति बाद की चीज है, जब कि राजनैतिक और यान्त्रिक विकास ने ज्ञान की कुछ शाखाओं को विक्रय की वस्तु बना दिया।

विकेन्द्रित और अनौपचारिक (Informal). उस समय का शिक्षा-संगठन बहुत ही विकेन्द्रित और अनौपचारिक था। उसका मुख्य कारण था कि अधिकांश शिक्षा राज्य द्वारा संचालित और उसकी आर्थिक सहायता पर अवलम्बित न थी। यही कारण था कि केन्द्रीय नियंत्रण और एक सामान्य शिक्षा-नीति का अभाव था। इसीलिए उस समय के शिक्षा-विस्तार के आंकड़े जुटाना भी एक असंभव कार्य है। फिर भी हम परोक्ष साक्षी के आधार पर इतना ही कह सकते हैं कि प्राचीन और मध्यकाल के अच्छे शासन-कालों में सारे देश में छोटी-बड़ी शिक्षण-संस्थाओं का अच्छा खासा जाल बिछा हुआ था।

अंग्रेज़ी शासन में शिक्षा

ईस्ट इंडिया कम्पनी के आगमन के समय शिक्षा की अवस्था. मुगल और मराठा-साम्राज्य के पतन के पश्चात् ईस्ट इंडिया कम्पनी के आगमन के समय शिक्षा की स्थिति का सही अनुमान बहुत ही कठिन है। इस संबंध में हमें दो सर्वथा विरोधी मतों का सामना करना पड़ता है। एक दल भारत में ब्रिटिश साम्राज्यसत्ता के पोषकों का है जिसके अनुसार यहां पर विद्यमान राजनैतिक अव्यवस्था और युद्धों के कारण शासक शिक्षा के प्रति सर्वथा उदास थे और भारतीय जनता अज्ञान के अन्धकार में गर्क थी।

डॉ० लीटनर और हार्डी जैसे योरोपियन भी थे जिन्होंने इस मत को चुनौती दी। उनके अनुसार अंग्रेजों के आगमन से पहले सारे देश में पाठशालाओं और मकतबों का जाल बिछा हुआ था तथा बीसवीं सदी की तुलना में अधिक प्रतिशत जनसंख्या साक्षर थी। समुचित एकीकरण की कमी और प्राचीन और अर्वाचीन के बीच अनियन्त्रित स्पर्धा इनके विनाश के मुख्य कारण थे। हार्डी के अनुसार ब्रिटिश शासन से पूर्व अकेले बंगाल में ८०,००० मकतब और मदरसे थे, जिसका अर्थ हुआ कि प्रत्येक चार सौ व्यक्तियों के लिए एक स्कूल था और अधिकांश जनता पढ़-लिख सकती थी।

प्राचीन व्यवस्था के विशृंखल होने के साथ गांव-पाठशालाएं छिन्न-भिन्न हो गई और निरक्षरता गांवों में छा गई।

विश्वस्त आंकड़ों के अभाव में इन दोनों मतों के सम्बन्ध में निश्चित निर्णय देना संभव नहीं है फिर भी इतना कहा जा सकता है, कि अंग्रेज-पूर्व युग जनता की शिक्षण-आवश्यकताओं के प्रति सर्वथा उदासीन या अन्धकारयुक्त नहीं था।

प्रारम्भिक काल में. जैसे-जैसे मुस्लिम सत्ता कमजोर होती जा रही थी, पश्चिम के व्यापारियों ने सुलभ बन्दरगाहों में बसना प्रारम्भ कर दिया और धीरे-धीरे व्यापार से प्रारम्भ कर एक शासक के अधिकार प्राप्त कर लिए। अपनी बस्तियों में इन्हें अपने कर्मचारियों के बच्चों की शिक्षा के लिए स्कूल स्थापित करने का अधिकार था। यहां पर भी भाषा की समस्या खड़ी हुई। पोर्चुगीज, फ्रेंच, अंग्रेजी और अन्त में मिश्रित भाषा फिरंगी शिक्षा के माध्यम के रूप में अपनाई गई। जैसे-जैसे इनका व्यापार बढ़ा शिक्षा की मांग भी बढ़ी। इन व्यापारिक योरोपियन कम्पनियों के शिक्षा-कार्यों में धार्मिक प्रचार की भावना भी अनुपस्थित न थी। पोर्चुगीज लोगों का तो प्रमुख ध्येय नव-दीक्षितों को ईसाइयत की शिक्षा देना था। इनके द्वारा संचालित स्कूलों म पोर्चुगीज और स्थानीय भाषा की शिक्षा के अतिरिक्त कैथोलिक धर्म की भी शिक्षा दी जाती थी। पांडिचेरी, माही, चन्द्रनगर और दमन में फ्रांसीसियों के ऐसे ही स्कूल थे। पोर्चुगीज और फ्रेंच दोनों ही कम्पनियों के स्कूलों में मिशनरियों का प्रमुख हाथ था। अंग्रेजों ने भी प्रारम्भ में इन्हीं की धर्म प्रसार की नीति का अनुसरण किया। इसमें उनका एक उद्देश्य कैथोलिक पोर्चुगीजों और फ्रांसीसियों के बढ़ते हुए प्रभाव को रोकना भी कहा जा सकता है। किन्तु बाद की ब्रिटिश शिक्षा-नीति पर इसका कोई विशेष प्रभाव नहीं पड़ा। पर इसमें संदेह नहीं कि किसी निश्चित सरकारी शिक्षा-नीति के उदय होने सें पहले मिशनरियों ने शिक्षा-प्रसार के कार्य में, विशेष रूप से दक्षिण में, एक महत्त्वपूर्ण पार्ट अदा किया। किन्तु भारत का कट्टरपंथी और विशेषकर कुलीन हिन्दू और मुस्लिम वर्ग इनके प्रभाव से पर्याप्त पृथक् रहा।

शीघ्र ही कम्पनी के संचालकों ने यह अनुभव किया कि जनता पर अपना अधिकार जमाने तथा शासन में उसका सहयोग प्राप्त करने के लिये शिक्षण-संस्थाओं का विकास जरूरी है। किन्तु शिक्षा का क्या स्वरूप हो, इस विषय पर उस समय के शासकों में पर्याप्त मतभेद था। शुरू में शासकों का ध्यान पूर्वीय शिक्षा अर्थात अरबी या संस्कृत के प्रोत्साहन पर ही विशेष रहा। १७८४ में

वारन हेस्टिंग्स ने कलकत्ते में मुस्लिम छात्रों की शिक्षा के लिये एक मदरसा तथा हिन्दू छात्रों के लिये १७९१ में संस्कृत कालिज प्रारम्भ किया।

१८३५ से १८५४ तक. १८३३ में यह प्रश्न प्रमुख रूप से डायरेक्टरों के सम्मुख आया कि उन्हें अब तक की भांति पूर्वीय शिक्षा को ही प्रोत्साहित करना चाहिए अथवा पाश्चात्य शिक्षा का प्रसार करना चाहिए। अभी तक शिक्षा-समिति में पूर्वीय शिक्षा के हिमायतियों, अर्थात् ओरियन्टलिस्टों का ही जोर था। धीरे-धीरे ऐंग्लिस्ट—अंग्रेजी शिक्षा के हिमायती भी काफी मजबूत हो गये। १८३५ में यह मामला लार्ड मैकाले के सामने आया और उसने अंग्रेजी शिक्षा के हक में अपना फैसला दिया। शिक्षा-समिति के पास शिक्षा के लिए खर्च करने के लिये धन की राशि बहुत थोड़ी थी, अतः ऐंग्लिस्ट लोगों का कहना था, कि सरकार के लिये सर्वसाधारण जनता को शिक्षित करना संभव नहीं है और इसलिए उसे उच्च वर्ग के थोड़े लोगों को शिक्षित करने का प्रयास करना चाहिए। इन थोड़े व्यक्तियों से ही छन-छनकर शिक्षा सामान्य जनता में पहुंचेगी। आनेवाले समय में यह छनने का सिद्धांत–फिलट्रेशन थ्यूरी ही हमारी शिक्षा-नीति का अंग बनी रही। १८४४ में लार्ड हार्डिज ने एक घोषणा की, जिसमें शिक्षा-कौंसिल से हर साल सरकारी नौकरी के उपयुक्त अंग्रेजी शिक्षाप्राप्त व्यक्तियों के नाम भेजने के लिए कहा गया। इस प्रकार सदा के लिये अंग्रेजी शिक्षा और अच्छी नौकरी के बीच एक अविच्छिन्न सम्बन्ध स्थापित हो गया।

योरोपियनों का एक अन्य वर्ग भी था जिसमें थामसन, एल्फिस्टन और ब्राइस मुख्य थे। यह लोग देशी भाषाओं—वर्नाक्युलर की सहायता से शिक्षा-प्रसार के पक्षपाती थे। बम्बई और उत्तर-पश्चिमी प्रांत में इन्होंने महत्त्वपूर्ण कार्य किया।

१८५४ से १९३५ तक. इस बीच सरकार ने शिक्षा में धार्मिक तटस्थता का सिद्धान्त स्वीकार किया और देश में प्रमुख विश्वविद्यालयों की स्थापना की। १८८२ में हन्टर कमीशन ने शिक्षा-व्यवस्था की जांच की और विशेषतः प्राथमिक शिक्षा के प्रसार की सिफारिश की। इसने राय दी कि प्राथमिक शिक्षा की जिम्मेदारी जिला बोर्डों और म्युनिसिपैल्टियों के सुपुर्द कर देनी चाहिए। १९०४ में पहली बार सरकार ने प्राथमिक शिक्षा के प्रसार की आवश्यकता को अनुभव किया।

१९१० में सर्वप्रथम गोपाल कृष्ण गोखले ने अनिवार्य प्राथमिक शिक्षा का प्रस्ताव केन्द्रीय असेम्बली के सम्मुख रखा, जिसका समस्त सरकारी सदस्यों ने विरोध किया। प्रथम महायुद्ध के चलने तक प्राथमिक शिक्षा के क्षेत्र

में कोई विशेष प्रगति नहीं हुई। युद्ध की समाप्ति के बाद राजनैतिक सुधारों के फलस्वरूप शिक्षा-सुधार की भी कुछ आशा बंधी और शिक्षा-समस्या की ओर भी सरकार का ध्यान गया। १९१८-२० में अधिकांश प्रांतीय प्राथमिक शिक्षा-एक्ट पास हुए, जिनमें सर्वप्रथम जिला बोर्डों को ६ से १० साल की उम्र के बच्चों के लिये शिक्षा को अनिवार्य करने का अधिकार दिया गया। किन्तु व्यवहार में सार्वजनिक शिक्षा की दिशा में विशेष प्रगति नहीं हुई।

१९३७ से १९४७ तक. १९३७ में विभिन्न प्रांतों में लोकप्रिय कांग्रेसी सरकारें बनने से पुनः शिक्षा-प्रसार और सुधार के प्रयत्न हुए। इनमें गांधीजी की सार्वभौम बुनियादी शिक्षा का आन्दोलन विशेष महत्त्व रखता है। कांग्रेसी सरकारें कठिनाई से दो साल काम कर सकीं और उन्हें स्तीफा देना पड़ा। इधर युद्ध छिड़ गया और हमारी शिक्षा-समस्या पुनः खटाई में पड़ गई। युद्ध-काल में निस्संदेह प्राथमिक, माध्यमिक और विश्वविद्यालय-शिक्षाप्राप्त छात्रों की संख्या में पर्याप्त वृद्धि हुई, पर अंग्रेजी शिक्षा के बुनियादी ढांचे में कोई परिवर्तन न हो सका। युद्ध के पश्चात् अवश्य शिक्षा-समस्याओं में सरकार ने दिलचस्पी दिखाई। सार्जेन्ट-योजना इसी का परिणाम थी।

स्वतंत्रता के बाद. १९४७ में शासन-सत्ता भारतीयों के हाथ में आ गई और उन्हें अपनी शिक्षा-व्यवस्था को स्वयं निश्चित, निर्माणित, पुनर्स्थापित और प्रसारित करने का अधिकार मिला। सरकार ने माध्यमिक और विश्वविद्यालय-शिक्षा के सुधार के लिए समितियां नियुक्त कीं। किन्तु अभी तक विद्यमान शिक्षा-व्यवस्था में कोई महत्त्वपूर्ण सुधार नहीं हो सका है। हमारी शिक्षा का ढांचा मूलतः वही है जो आज से सात साल पहले था। संक्षेप में विद्यमान शिक्षा-प्रणाली, उसके दोषों, उसके सुधार की योजनाओं पर विचार करना उपयोगी होगा।

विद्यमान शिक्षा-प्रणाली के दोष

विद्यमान शिक्षा-व्यवस्था हमें अंग्रेजों से विरासत में मिली है। स्वाधीन होने पर भी हम अभी तक उस शिक्षा-व्यवस्था में विशेष परिवर्तन नहीं ला सके हैं। प्रायः सभी समझदार व्यक्ति, जिन्हें देश के हित की चिन्ता है, यह स्वीकार करते हैं कि हमारे यहां प्रचलित शिक्षा-व्यवस्था में भयंकर भूलें, कमियें, बुराइयें और अनेक दोष हैं। यह व्यवस्था अच्छी और वैज्ञानिक शिक्षा के समस्त ज्ञात सिद्धांतों का उल्लंघन करती है। यह शिक्षा-शास्त्र, मनोविज्ञान और जन-स्वास्थ्य के नियमों के विरुद्ध है। संक्षेप में इसके प्रमुख दोषों पर दृष्टिपात करना अनुचित न होगा।

१. वास्तविक जीवन से दूर. प्रचलित शिक्षा-व्यवस्था बहुत ही कृत्रिम

और औपचारिक (Formal) है और इस प्रकार वास्तविकता और जीवन से सर्वथा पृथक् है। संकीर्ण अर्थों में यह बौद्धिक है। यह वस्तुओं की उपेक्षा कर उसके प्रतीकों को महत्त्व प्रदान करती है। वस्तुओं और तथ्यों को जुबानी विना दिखाये बता दिया जाता है। लिखित शब्दों के शिक्षा का प्रधान माध्यम होने के कारण रटाई इसका प्रमुख साधन है। वास्तविक तथ्यों और व्यावहारिक ज्ञान से इसका अल्प सम्पर्क है। वैज्ञानिक परीक्षण और प्रयोगशाला का इसमें प्रबल अभाव है। यह शिक्षा निष्क्रिय, वर्णनात्मक और अमूर्त है। इसीलिए इसमें निरीक्षण और उसके आधार पर किसी परिणाम पर पहुंचने की प्रवृत्ति नहीं है। शारीरिक दृष्टि से भी यह निर्जीव है। इसमें बढ़ते हुए बच्चे के लिए किसी प्रकार के स्वस्थ खेल-कूद और सृजनात्मक क्रियाओं को स्थान नहीं है। यह उसे क्लास के कमरे में बन्द रखती है। यह उसे ताजी हवा और सूरज की रोशनी से वंचित करती है। जो आंशिक ज्ञान यह प्रदान करती है वह न तो सम्पूर्ण ही होता है और न ही एकीकृत। विद्यार्थी की स्वाभाविक प्रवृत्तियों को विकसित करने में असमर्थ होने के कारण यह उसके व्यक्तित्व के विकास में रुकावट डालती है। बौद्धिकता के बाहरी आडम्बर के बावजूद भी यह उनमें निरर्थक अन्धविश्वासों, कट्टरताओं को पोषित करती है। इसी का परिणाम हमारे यहां पढ़े-लिखे निकम्मों की सृष्टि है। जब उन्हें जीवन की वास्तविकताओं का सामना करना पड़ता है वह असफल रहते हैं। इसीलिए प्रायः वह विद्यार्थी जो किताबें रटने में प्रवीण नहीं होते और परीक्षाओं में अच्छा परिणाम नहीं दिखाते जीवन में अधिक सफल होते हैं। वह अधिक व्यावहारिक और वास्तविक जीवन के निकट होते हैं।

२. **पढ़े-लिखे बेकारों की सृष्टि.** देश की आर्थिक आवश्यकता और श्रम की मांग को बिना ध्यान में रक्खे हमारे यहां लाखों विद्यार्थी प्रतिवर्ष स्कूल, कालिज और यूनिवर्सिटियों से डिग्रियां लेकर बाहर निकल रहे हैं। संकीर्ण साहित्यिक शिक्षा-प्राप्त श्रम की मांग बहुत सीमित है और फिर यह शिक्षित वर्ग केवल कुछ सफेदपोश कलमघिसाई के सम्मानित कहे जानेवाले बौद्धिक पेशों को ही अपना सकता है। इसी का यह परिणाम है कि उनमें से अधिकांश लोग बेकार रह जाते हैं अथवा उन्हें अपनी रुचि के विरुद्ध अन्य, उनकी दृष्टि में निकृष्ट, पेशों को अपनाने पर मजबूर होना पड़ता है।

आज की व्यवस्था में अधिकांश विद्यार्थियों को अपनी कालिज-शिक्षा के अन्त तक भी इस बात की कोई स्पष्ट धारणा नहीं होती कि वह अपनी शिक्षा समाप्त कर क्या करेंगे। तरुण लड़के और लड़कियां, जब तक कि उनके माता-

पिता उन्हें पढ़ाने में सर्वथा असमर्थ नहीं होते, एक बड़े खर्चे पर प्रारंभिक से माध्यमिक . स्कूलों, माध्यमिक स्कूलों से कालिजों में चढ़ते चले जाते हैं। उन्हें इस बात का भी कोई ज्ञान नहीं होता कि वह और क्या कर सकते हैं अथवा उन्हें क्या करना चाहिए। वह केवल परेशान करनेवाले प्रश्न को, कि "उन्हें आखिर क्या कैरियर अपनाना है" स्थगित करने के लिए, अपने अध्ययन को जारी रखते हैं। इस प्रकार निरुद्देश्य तरीके से जीवन के विकास-काल के पन्द्रह-बीस सालों को खो देने का एकमात्र परिणाम उन छात्रों में अनिश्चितता, साहसहीनता और टाल-मटोल करने की प्रवृत्ति को पैदा करने के अतिरिक्त और क्या हो सकता है? इस अनियोजित शिक्षा से हमारे जैसे निर्धन राष्ट्र के विपुल श्रम, समय और सम्पत्ति की ही भयंकर बरबादी हो रही है। इस शिक्षा का जीवन में कोई वास्तविक उपयोग नहीं है।

३. राष्ट्रीयता का अभाव. अभी तक हमारी शिक्षा, विशेषकर उच्च शिक्षा, बुरे अर्थों में अंग्रेजी शिक्षा-प्रणाली की एक भद्दी नकल रही है जिसमें सदैव मानसिक गुलामी की गन्ध रही है। इसी कारण आज लाखों पढ़े-लिखे व्यक्तियों के होते हुए भी हम एक शिक्षित राष्ट्र नहीं कहे जा सकते। कोई भी राष्ट्र किसी अन्य राष्ट्र की चाहे वह कितना ही उन्नत हो, शिक्षा-प्रणाली का अन्धानुकरण कर अपने नागरिकों को शिक्षित नहीं बना सकता। उसे अपने राष्ट्र के इतिहास, परम्परा, भाषा, प्रतिभा और विचारों के अनुकूल और अनुरूप शिक्षा-प्रणाली का विकास करना होगा।

विद्यमान भारतीय शिक्षा का सबसे बड़ा दोष है कि यह देश में मौजूद भाषा, कला, इतिहास और दर्शन पर आधारित नहीं है, अपितु इसने इनकी निर्मम उपेक्षा की है और इसके स्थान पर विदेशी भाषा, विदेशी परम्परा, विदेशी इतिहास, विदेशी कला, विदेशी दर्शन को अपने ऊपर लाद दिया है। इस प्रकार पाठशाला परिवार का पूरक और परिवर्धक न हो ६ घंटे रोज का एक अवास्तविक स्वप्न बन गई है, जिस बीच बच्चा घर से भिन्न भाषा सुनता है, अपने अनुभव से दूर चिड़ियों, पशुओं, घटनाओं और तथ्यों का वर्णन पढ़ता है अथवा उन रिवाजों और संस्थाओं की प्रतिष्ठा करना सीखता है, जो उसके जीवन से सर्वथा असम्बद्ध हैं। एक संवेदनशील बालक के लिए उसकी पुस्तकों का संसार ही वास्तविक और आदर्श बन जाता है। इस प्रवृत्ति का स्वाभाविक परिणाम होता है कि बच्चा अपने ही माता-पिताओं की भाषा, पोशाक, रीति-रिवाज और परम्पराओं को घृणा की दृष्टि से देखने लगता है। एक साहब या मेमसाहब बनना ही उसके जीवन की बड़ी आकांक्षा रह जाती है।

शिक्षा-सुधार की आवश्यकता

उपर्युक्त विवेचन से स्पष्ट है कि भारत में प्रचलित शिक्षा एक शिक्षित भारतीय में संतुलित व्यक्तित्व, उदार दृष्टि और युक्तियुक्त दृष्टिकोण के निर्माण में बहुत कुछ असफल रही है। उसमें शीघ्र ही क्रांतिकारी परिवर्तनों और सुधारों की आवश्यकता है।

ऐसी बात नहीं है कि संभ्रांत देशी और विदेशी शिक्षाविद्, हमारे समाज-सेवक और राष्ट्रीय जीवन के कर्णधार विद्यमान शिक्षा-प्रणाली के दोषों से अपरिचित और उदासीन रहे हैं। समय-समय पर उन्होंने इसकी बुराइयों के विरुद्ध आवाज उठाई है, उसकी कमियों की ओर हमारा ध्यान आकर्षित किया है तथा उसके सुधार और पुनर्निर्माण के रचनात्मक सुझाव प्रस्तुत किए हैं। यह सत्य है कि अभी तक इनमें से अधिकांश योजनाएं केवल सहानुभूति अथवा बेमन से स्वीकृति पाकर ही रह गई हैं और उन्हें कार्यान्वित करने की दिशा में कोई ठोस कदम नहीं उठाए गए हैं। आगे हम संक्षेप में भारत में शिक्षा-सुधार की प्रमुख योजनाओं पर प्रकाश डालने का प्रयत्न करेंगे। किन्तु इससे पहले कि हम यह करें, शिक्षा के सही उद्देश्य, आदर्श और इस दिशा में अभी तक हुए कुछ महत्वपूर्ण आन्दोलनों का सामान्य ज्ञान होना जरूरी है।

शिक्षा-सुधार की दिशा—कुछ नये परीक्षण

आदिमकालीन व्यावहारिक शिक्षा. आदिमकाल में, यद्यपि कोई विशिष्ट संगठित और समाज द्वारा संचालित शिक्षण-संस्था नाम की चीज न थी, फिर भी बच्चा जो शिक्षा ग्रहण करता था, उसका माध्यम निरीक्षण और कार्य था। कार्य और शारीरिक श्रम का उसमें विशेष स्थान था। शिकारजीवी, मछली पकड़नेवाली और खेती करनेवाली प्राग्क्षर संस्कृतियों में कार्य और अनुभव ही ज्ञान-प्राप्ति का एकमात्र साधन था। सीखनेवाले किशोर की स्थिति आज के-से विद्यार्थियों की-सी न होकर शागिर्द या अप्रेन्टिस-सी थी। कुछ विकसित अवस्था में वह मठों या आश्रमों में शिक्षकों के साथ रहते और सब प्रकार के कामों को स्वयं अपने हाथों से करते थे। इस प्रकार उनकी शिक्षा यथार्थ और स्थूल से अपृथक् न थी, वह वस्तुगत तथ्यों से जुड़ी हुई थी। उसकी उच्चतम उड़ानों में भी स्थानीय मिट्टी की ताजी गंध थी। तत्कालीन धर्म भी मूर्त और वस्तुगत था। उसके अनुष्ठान, क्रिया-कर्म व्यावहारिक थे। कर्मयोग उस समय की शिक्षा का मूल मन्त्र था।

मध्यकाल की अव्यवहारिक शिक्षा. मध्यकाल में यह स्थिति बदल गई। वर्गसमाज, सामन्तवाद और अवास्तविक पलायनवादी धर्म का उदय इसके प्रधान कारण थे। पुरोहित वर्ग एक विशिष्ट जाति बन गया। यह केवल धार्मिक रहस्यों का ही नहीं, समस्त ज्ञान का भी एकमात्र स्वामी बन गया। अब शिक्षा व्यावहारिक और वस्तुगत न रहकर अमूर्त, और इस भांति शब्दों और विचारों तक सीमित हो गई। यह स्वाभाविक भी था। शिक्षा का उद्देश्य बालक की अन्तर्हित शक्तियों का बहुमुखी विकास न होकर एक पुरोहित वर्ग का निर्माण बन गया। पुरोहित वर्ग की शिक्षा चाहे पूर्व में हो या पश्चिम में उसका रूप अमूर्त और औपचारिक ही होता है। इसके अतिरिक्त तापसवाद (asceticism) और मठवाद (monastism) के अन्तर्गत आध्यात्मिकता में वस्तुगत और स्थूल तथ्य को एक गौण स्थान प्राप्त होता है। संसार से दूर, ध्यान और समाधि का जीवन ही उच्चतम जीवन माना जाता है और सब जीवन भौतिक और संसारी कहकर निन्दित किया जाता है। इस विचारधारा के अनुसार भौतिक जीवन व्यतीत करनेवाले किसान, कारीगर और मजदूर हीन और नीच समझे जाते हैं। साधु और वैरागी का जीवन आदर्श माना जाता है। युद्ध और हिंसा के वातावरण में सैनिक जीवन का सम्मान भी स्वाभाविक ही है।

मध्यकालीन शिक्षा पर पुरोहितों का प्रभुत्व होने के कारण वह अव्यावहारिक, अमूर्त, शाब्दिक और वास्तविकता से दूर थी। शब्दों और औपचारिक तर्क द्वारा ही किसी तथ्य को सिद्ध और असिद्ध करने का प्रयत्न किया जाता था। निगमन-प्रणाली (deductive method) का बोलबाला था। इस प्रकार समस्त ज्ञान आन्तरिक (subjective) और वस्तु-जगत् से पृथक् था। निगमन तर्क पर आधारित ज्ञान आकर्षक तो प्रतीत हो सकता है, किन्तु उसके अंदर कुछ तत्त्व नहीं होता। इस पद्धति का स्वाभाविक परिणाम शुष्क और वन्ध्या या बौद्धिकवाद (barren scholasticism) है। इस शुष्क बौद्धिकवाद ने मध्यकाल में हमारे यहां तथा अन्य देशों में स्वाधीन चिन्तन और ज्ञान की प्रगति को रोकने की पूरी कोशिश की। शीघ्र ही यह महसूस किया जाने लगा कि यदि ज्ञान को आगे बढ़ाना है, तो उसे कम निगमित (deductive) और कम कल्पनागत और अधिक आगमित (inductive) और वस्तुगत होना होगा।

मध्यकालीन शिक्षा वस्तुगत यथार्थ से यदि बिलकुल ही पृथक् न हो सकी तो इसका एकमात्र कारण कृषक और ग्राम्य-संस्कृतियों और विशेष रूप से स्वनियंत्रित

और आत्मनिर्भर मठों और धार्मिक संस्थाओं में उसका प्रकृति के साथ निकट संपर्क तथा जीवन की प्रतिदिन की आवश्यकताओं के लिए पर्याप्त शारीरिक श्रम था।

मध्यकालीन शिक्षा के विरुद्ध विद्रोह. पुनर्जागरण (renaissance) के फलस्वरूप योरोप में औपचारिक और अमूर्त शिक्षा के विरुद्ध आवाज-उठी। वस्तुगत तथ्यों के अध्ययन पर अधिकाधिक जोर दिया जाने लगा। आधुनिक विज्ञान और दर्शन वस्तु-जगत् के तथ्यों को ज्ञान से मिलाने की एक सतत चेष्टा है। जब हम यह कहते हैं कि मध्यकालीन शिक्षा एकांततः निगमन पर आधारित थी, तो इसका यह तात्पर्य नहीं है कि वह आगमन से सर्वथा अपरिचित थी। प्रश्न उसके तुलनात्मक महत्त्व का है। मध्यकाल का निगमन पर जोर था।

बेकन मौन्टेन, लौक और विश्वकोष-निर्माताओं से प्रारम्भ हो आज के दार्शनिकों और शिक्षा-शास्त्रियों ने इस बौद्धिकवाद, प्रकृति और वास्तविकता से पृथक्ता का घोर प्रतिवाद किया। सबसे पहला विद्रोह स्वभावतः दर्शन और विज्ञान के क्षेत्र में हुआ। शिक्षा बहुत समय तक इससे अछूती रही किन्तु वह भी अधिक समय तक इसके प्रभाव से बच न सकी।

आधुनिक शिक्षा-सुधारक

रूसो. आधुनिक शिक्षा-शास्त्र के जन्मदाता रूसो ने शिक्षा के क्षेत्र में इस आंदोलन का नेतृत्व किया। शिक्षा में रूसो का बुनियादी सिद्धान्त प्रकृति का अनुसरण और बच्चे को बच्चा समझना था। उसके अनुसार बच्चों को एक तंग कमरे में बन्द कर बेंत और कोड़े का भय दिखाकर अमूर्त ज्ञान से परिचित कराना किसी भी दशा में शिक्षा नहीं कहा जा सकता। उसने बच्चे को दण्ड देने का निषेध किया और सिखाने के बजाय उसे स्वयं सीखने और खोजने का अभ्यस्त बनाने और कोरी किताबें रटाने के स्थान पर उसे वर्कशाप में व्यस्त रखने का सुझाव दिया। संक्षेप में सादगी और स्वाभाविकता रूसो की शिक्षा का आदर्श है। उसके मतानुसार इस प्रक्रिया में बच्चा स्वयं प्रमुख कर्त्ता है और उस पर किसी प्रकार का शारीरिक या बौद्धिक दबाव डालना अनुचित है। उसे जीवन और उसके कार्यों को स्वयं सीखना चाहिए और शिक्षा को उसे जीवन के लिए तैयार करना चाहिए।

रूसो के बाद, पेस्तोलौजी, फ्रोबल तथा स्पेंसर आदि शिक्षा-सुधारकों और व्यावहारिक शिक्षकों से लेकर आधुनिक शिक्षा-शास्त्री जान ड्यूई और रूस के सोवियत सुधारक, सभी किसी न किसी रूप में इस बात की पैरवी करते हैं

कि केवल व्यावहारिक कार्य द्वारा ही सर्वोत्तम रीति से बच्चे को शिक्षण और किताबी ज्ञान पहुंचाया और बच्चे की क्षमता को विकसित किया जा सकता है।

पेस्तोलौजी. पेस्तोलौजी के मत में शिक्षा व्यक्ति का सर्वांगीण विकास है जिसमें मानसिक, नैतिक और शारीरिक तीनों का समावेश है। यह विकास कर्म की प्रवृत्ति और उससे प्राप्त अनुभव द्वारा ही प्राप्त होता है। इसीलिए इन्द्रिय-बोध शिक्षा का आधार होना चाहिए न कि स्मृति को। शिक्षा का उद्देश्य साम्प्रदायिक उपदेश न होकर व्यक्तित्व और वैयक्तिकता का विकास होना चाहिए।

फ्रोबल. पेस्तोलौजी के पश्चात्, फ्रोबल ने शिक्षा में वस्तुगत विधि को आगे बढ़ाने में पर्याप्त योग दिया। उसने बाल-मनोविज्ञान और कर्म की प्रवृत्ति की व्याख्या की और इस कल्पना को विकसित किया कि इन्द्रिय-बोध, सरल रचनात्मक कार्य, प्रकृति के अध्ययन तथा किंडरगार्टन द्वारा सर्वोत्तम रीति से शिक्षा दी जा सकती है। यह सब सिद्धान्त आज सब शिक्षाविदों द्वारा स्वीकार्य हैं। भारत में इनका व्यावहारिक न हो, मुख्यतः सैद्धान्तिक सम्मान है।

इन्द्रिय-बोध और रचनात्मक कार्य द्वारा शिक्षा के नये विचारों ने शिक्षा को केवल वैज्ञानिक, अर्थपूर्ण और उपयोगी ही नहीं बनाया, प्रत्युत् उस कार्य को जो कि अभी तक संभव न था, अर्थात् अपाहिजों, गूंगों, बहरों और अन्धों की शिक्षा को भी संभव बनाया। हाथ की शिक्षा ने अपाहिजों को काम दिया और उन्हें आर्थिक स्वाधीनता और उसके साथ सम्बद्ध आत्मसम्मान और आत्मविश्वास प्रदान किया। इसने शिक्षा द्वारा किशोर अपराधियों के सुधार को भी संभव बनाया।

शिक्षा का सामाजिक पहलू

शिक्षा-सुधार का केवल सैद्धांतिक पहलू न होकर एक सामाजिक पहलू भी है और अधिकांश शिक्षा-सुधारकों की दृष्टि में यह तथ्य महत्त्वपूर्ण रहा है। उनमें से बहुतों ने शिक्षा-सुधार को सामाजिक और राजनैतिक पुनर्निर्माण का एक अंग माना है, अनेक परीक्षण किए हैं और शिक्षण-संस्थाओं का संचालन किया है। उनमें से कई हमारे सम्मुख व्यक्ति और जाति की आध्यात्मिक थाती का प्रश्न लेकर आये हैं, कई भौतिकवादी और समाजवादी हैं जो शिक्षा पर सर्वहारा के कल्याण और वर्गरहित समाज की दृष्टि से विचार करते हैं। कई सामाजिक व्यवस्था में कोई क्रांतिकारी परिवर्तन किये बिना शिक्षा को केवल वैज्ञानिक तथा मनोवैज्ञानिक बनाना चाहते हैं। इस बात पर यह सभी

सहमत हैं कि शिक्षा अधिक वस्तुगत, कम शाब्दिक और व्यावहारिक होनी चाहिए। सभी व्यावहारिक और सृजनात्मक क्रियाओं पर बल देते हैं। सभी परीक्षण की पद्धति का समर्थन करते हैं।

जान ड्यूई. आज शिक्षा के सामने औद्योगिक समाज और उसके जीवन की आवश्यकताओं के अनुरूप अपने को ढालने की बहुत जरूरी और जटिल समस्या है। इस युग के प्रसिद्ध विचारक जान ड्यूई ने इस सम्बन्ध में गम्भीर अध्ययन किया है। उनका कहना है कि अमरीका-जैसे उन्नत देशों में भी स्कूल का संगठन समाज के संगठन और समय की मांग के अनुकूल नहीं है। उनके अनुसार संस्कृति और सांस्कृतिक शिक्षा की प्राय: सभी कल्पनाएं उस समय की उपज हैं जब कि श्रमिक वर्ग पर अवकाशप्राप्त निष्क्रिय वर्ग का प्रभुत्व स्वाभाविक माना जाता था। इसलिए सामाजिक दृष्टि से हमारी शिक्षा-व्यवस्था में आमूलचूल परिवर्तन की आवश्यकता है।

जान ड्यूई ने शिक्षा-सुधार के तीन निम्न मार्ग-दर्शक सिद्धान्त प्रस्तुत किये हैं:—

१. आज की तुलना में पहले कभी भी यह बात इतनी महत्त्वपूर्ण नहीं थी कि प्रत्येक व्यक्ति को अपने सम्मान की रक्षा के लिए अपने भरण-पोषण और बुद्धिमत्तापूर्ण कार्य करने में समर्थ होना चाहिए।

२. पहले कभी भी एक व्यक्ति का कार्य आज जैसे बड़े पैमाने पर दूसरों के हितों को प्रभावित नहीं करता था।

३. पहले किसी भी युग म औद्योगिक विधियां और प्रक्रियाएं प्राकृतिक और सामाजिक विज्ञानों के तथ्यों और नियमों के ज्ञान पर इतना आधारित नहीं थीं जितना कि आज। हमारी रेलें और जहाज, फार्म और फैक्टरियां, यहां तक कि हमारे घरेलू काम की वस्तुएं, गणित, भौतिकशास्त्र और प्राणिशास्त्र के सूक्ष्म ज्ञान और प्रयोग पर अवलम्बित और आधारित हैं। वह अन्ततोगत्वा अपने उपयोग के लिए तथ्यों की जानकारी और सामाजिक जीवन से उसके सम्बन्ध पर अवलम्बित हैं। यदि मजदूर केवल मशीन का एक निर्जीव पुर्जा भर नहीं बनना चाहते, तो उन्हें अपने भौतिक यन्त्रों के पीछे और आगे निहित भौतिक और सामाजिक तथ्यों को समझना होगा।

पुन: वह कहते ह, "हमें लकड़ी और धातु के काम, बुनाई, सिलाई और खाना पकाने को पृथक् शास्त्र न मान, रहने और सीखने की विधियां समझकर प्रयोग में लाना चाहिए। हमें उन्हें उनके सामाजिक महत्त्व में, एक सामाजिक प्रक्रिया के टाइप, जो कि समाज को चलता रखते हैं, एक साधन जो कि बच्चे को सामु-

दायिक जीवन की मूल आवश्यकताओं से परिचित कराते हैं, एक रीतियां जिसमें कि मनुष्य की जरूरतें मनुष्य की बढ़ती अन्तर्दृष्टि और चातुर्य से पूरी होती हैं, संक्षेप में उसकी साध्यता, जिसके द्वारा स्कूल पाठ सीखने के लिए निर्धारित एक स्थान बनैने के बजाय स्वयं सक्रिय सामुदायिक जीवन का एक सच्चा रूप बन सके समझना चाहिए ।"

कार्ल मार्क्स. विभिन्न प्रकार के समाजवादी भी बहुत पहले से श्रम और सक्रियता को अच्छी शिक्षा का आधार मानते आ रहे हैं। स्वयं मार्क्स ने लिखा था, "हमारे लिए शिक्षा का अर्थ यह बातें हैं:—(१) बौद्धिक विकास, (२) शारीरिक विकास, (३) पॉलीटेकनीक शिक्षा, जो कि उत्पादन-प्रक्रियाओं के सामान्य वैज्ञानिक सिद्धांतोंसे सम्बन्धित ज्ञान प्रदान करेगी और साथ ही साथ बच्चों और युवकों को उत्पादन की समस्त शाखाओं के सरल यंत्रों का अभ्यास करायेगी।'

प्रिंस क्रोपाटकिन. प्रसिद्ध क्रांतिकारी लेखक प्रिंस क्रोपाटकिन ने समकालीन शिक्षा-विधि में आमूलचूल परिवर्तन की आवश्यकता बताते हुए समाज में दिमाग और हाथ का काम करनेवाले कमकरों के बीच विद्यमान विभाजन का विरोध करते हुए दोनों प्रकार के श्रम के सम्मिलन पर बल दिया और एक एकीकृत (Integrale) शिक्षा की वकालत की, जो कि विद्यमान हानिकर विभाजन और विभेदों को समाप्त कर सके। उनके अनुसार स्कूल का उद्देश्य निम्न है:—अठारह या बीस वर्ष की आयु पर जब एक लड़का या लड़की स्कूल छोड़कर निकले उसे विज्ञान का पूरा ज्ञान होना चाहिए—ऐसा ज्ञान जो कि उन्हें टेक्नीकल शिक्षा के आधारों से परिचित करा सके और किसी विशेष कार्य में उसकी ऐसी दक्षता उत्पन्न कर सके जिससे कि वह सम्पत्ति के उत्पादन में अपना शारीरिक सहयोग दे अपनी भूमिका अदा कर सके ।

सोवियत परीक्षण. शिक्षा-सुधार की दिशा की ओर संकेत करते समय शिक्षा के क्षेत्र में सोवियत रूस के परीक्षण का संक्षिप्त परिचय व्यर्थ न होगा । 'सामाजिक शिक्षा के बुनियादी सवाल' पर लिखते हुए शूलगिन लिखता है, "श्रम हमारे लिए बच्चों को कमकरों के सार्वभौम परिवार में प्रविष्ट कराने का एक साधन है जिसके द्वारा कि वह सर्वहारा के संघर्ष को जान सकें, मानव-जाति के इतिहास को समझ सकें, संगठन और सामूहिक कार्य की आदतें और कार्य के अनुशासन को सीख सकें।" सोवियत शिक्षा के इतिहासकार पिंकविच के अनुसार, "स्कूल छोड़ने से पहले बच्चे को इस बात का सैद्धांतिक और व्यावहारिक स्पष्ट ज्ञान हो जाना चाहिए कि किस भांति कमकरों के राज्य का निर्माण किया जाता है। जनता का श्रम शिक्षा का केंद्र है। अपने

कार्य में स्कूल को वास्तविकता से घनिष्ठतया सम्बद्ध होना चाहिए। उत्पादक-श्रम को उसमें प्रमुख स्थान मिलना चाहिए। श्रम का अर्थ न तो श्रम-प्रक्रियायें हैं और न ही आत्मसेवा, न ही स्कूल का काम और न ही दूकान, बल्कि वह समस्त स्कूल की केंद्रीय धुरी है। सोवियत शिक्षा के संबंध में लेनिन ने जिस बात पर सबसे अधिक जोर दिया वह शिक्षा का बहुटेक्नीकरण (Polytechnisation) थी। लेनिन के मत में बहुटेक्नीकरण का सवाल केवल शिक्षा का सवाल न होकर एक सामान्य राजनैतिक सवाल है जिसमें दिमागी और हाथ के कमकर के विभेद के अन्त का प्रश्न अन्तर्हित है। लेनिन के लिए बहुटेक्नीकरण का अर्थ प्रचलित टेक्नीकल शिक्षा नहीं है। बहुटेक्नीकरण एक प्रणाली है और साथ ही एक विधि। एक प्रणाली के रूप में इसका कार्य जीवन और शिक्षा के बीच की खाई को पाटना है; एक विधि के रूप में इसे बच्चे को समुदाय के लिए एक कुशल और समझदार मजदूर बनाना है—वह मजदूर जो कि एक बहुमुखी व्यक्ति है, जो हाथ का काम करते हुए भी बुद्धिवादी है।

वर्तमान सोवियत शिक्षा के अंतिम लक्ष्य के बारे में हमारा मतभेद हो सकता है। सामाजिक और राजनैतिक प्रश्नों की स्वाधीन चर्चा के संबंध में सोवियत शिक्षा की अनुदारता, असहिष्णुता, कट्टरता और मदान्धता से हम असहमत हो सकते हैं, फिर भी हम इस बात से इनकार नहीं कर सकते कि सोवियत शिक्षा-विधि, कम से कम अधिक वैज्ञानिक, उपयोगी और व्यावहारिक है।

भारत में शिक्षा-सुधार

जब हम भारत में शिक्षा-सुधार की बात करते हैं तो हमें शिक्षा के क्षेत्र में अन्य देशों में हुई सैद्धांतिक और व्यावहारिक क्रांति और उसके आधारों को ध्यान में रखना जरूरी है।

यों तो भारत पर थोपी गई प्रचलित शिक्षा-प्रणाली के विरुद्ध अनेक विचारवान् व्यक्तियों ने इसके प्रारम्भ से ही आवाज उठाई थी और उसके दोषों की ओर हमारा ध्यान आकर्षित किया था। पर जहां एक ओर यह विद्रोह नव-स्थापित शिक्षा के विरुद्ध था, वहां दूसरी ओर उसे अंग्रेजी शासन से पूर्व प्रचलित अवैज्ञानिक, साम्प्रदायिक और संकुचित शिक्षा-पद्धति से ही विशेष सहानुभूति थी।

गुरुकुल और विश्वभारती. इस शती के प्रारम्भ में उत्तर भारत और बंगाल में स्वामी श्रद्धानन्द और रवीन्द्रनाथ ठाकुर ने क्रमशः गुरुकुल विश्वविद्यालय और विश्वभारती की स्थापना कर प्राचीन प्राच्य और आधुनिक पाश्चात्य शिक्षा के समन्वय का सर्वप्रथम प्रयास किया। यद्यपि सरकारी उदासीनता और अस्वीकृति,

सरकारी तथा अन्य सार्वजनिक नौकरियों में उसकी पूछ और कीमत न होने के कारण यह शिक्षण-संस्थाएं विशेष प्रगति न कर सकीं तथा देश के कोने-कोने में इस प्रकार की शिक्षण-संस्थाओं के विस्तार में सफल न हो सकीं, फिर भी जिन सिद्धान्तों और आदर्शों पर यह परीक्षण आधारित थे, वह भारतीय शिक्षा के सुधार में अभिरुचि रखनेवाले व्यक्तियों के लिए विशेष महत्त्व रखते हैं। भारतीय शिक्षा को सही मानों में भारतीय अर्थात् भारतीय भाषा, संस्कृति और प्रतिभा के अनुरूप बनाने, साथ ही वैज्ञानिक, स्वाभाविक, व्यावहारिक, उपयोगी और मनोवैज्ञानिक बनाने के यह प्रथम प्रयत्न थे। इनमें धर्म और विज्ञान, राष्ट्रीयता और अन्तर्राष्ट्रीयता, तर्क और श्रद्धा, कर्म और क्रीड़ा, कला और कौशल, अनुशासन और स्वाधीनता, प्राचीन और अर्वाचीन, पूर्व और पाश्चात्य, परम्परा और नवीनता का सुन्दर समन्वय था। केवल परिणाम और परिमाण की दृष्टि से हम इन परीक्षणों के महत्त्व को नहीं समझ सकते। इसके लिए हमें उनमें अन्तर्हित विचारों पर ध्यान देना होगा। वास्तव में गुरुकुल और विश्वभारती की शिक्षा विद्यार्थी के शारीरिक, मानसिक और बौद्धिक विकास के लिए अपेक्षतया अधिक अनुकूल थी।

जहां गुरुकुल और विश्वभारती की शिक्षा-पद्धति में पर्याप्त समानताएं थीं वहां उनमें कुछ बातों पर पर्याप्त पार्थक्य भी था। दोनों ही पद्धतियों के अन्तर्गत शिक्षक और शिक्षित के बीच घनिष्ठ संपर्क विद्यमान था। गुरु और शिष्य एक परिवार के सदस्य की भांति साथ-साथ रहते थे। प्रकृति से उनका सामीप्य था। विद्यार्थियों का जीवन सादा और स्वच्छ था। उनमें ऊंच-नीच का किसी प्रकार का भेद न था। अध्ययन की विधि पर्याप्त अनौपचारिक थी। अध्ययन का क्षेत्र पर्याप्त विस्तृत था और उच्चतम शिक्षा का माध्यम मातृभाषा थी। पर वर्तमान गुरुकुल-पद्धति पर अनुदार आर्यसमाजी वर्ग का अनुचित प्रभाव होने के कारण, वेदाध्ययन पर विशेष बल दिया जाता है। यहां पर सहशिक्षा नहीं है तथा ललित कलाओं की शिक्षा की सर्वथा उपेक्षा है। इसके विपरीत विश्वभारती की शिक्षा में धार्मिक कट्टरता का सर्वथा अभाव है तथा कुटीर-उद्योगों और ललित कलाओं की शिक्षा के प्रति विशेष प्रयत्न और अनुराग है। साथ ही यहां पर लड़के-लड़कियां प्रारम्भ से ही साथ-साथ पढ़ते और खेलते-कूदते हैं। इस प्रकार विश्वभारती की शिक्षा-पद्धति अपेक्षतया अधिक सृजनात्मक है।

स्वाधीनता के बाद दोनों ही संस्थाओं को सरकारी मान्यता प्रदान की जा चुकी है, पर साथ ही यह भी खेद का विषय है कि दोनों महान् गुरुओं की मृत्यु

के पश्चात् दोनों ही शिक्षण-संस्थाएं अपनी प्रारम्भिक ताजगी और जीवन-शक्ति को क्रमशः खोती जा रही हैं। अपने मौलिक आदर्शों को दृष्टि में रखते हुए दोनों ही संस्थाओं का भविष्य बहुत उज्ज्वल नहीं कहा जा सकता। कोई आश्चर्य नहीं कि आज से दस साल बाद इन संस्थाओं और बाहरी संस्थाओं में कुछ बाह्य असमानताएं रहते हुए भी कोई मौलिक असमानताएं न रह जायें।

उपर्युक्त प्रयत्नों के बाद शिक्षा-सुधार की दिशा में अत्यन्त महत्त्वपूर्ण क्रान्तिकारी और प्रगतिशील योजना १९३८ में गांधीजी द्वारा प्रेरित वर्धा की बुनियादी शिक्षा-योजना है।

वर्धा की बुनियादी शिक्षा-योजना

जब कि हमारे राजनैतिक जीवन में गांधीजी की अनुपम देनें हैं, वहां शिक्षा के क्षेत्र में उनका दान कम नहीं है। राजनैतिक क्षेत्र की भांति शिक्षा के क्षेत्र में भी गांधीजी की देन विचारों की दृष्टि से उतनी मौलिक नहीं, जितनी कि उन्हें व्यावहारिक रूप प्रदान करने की दृष्टि से। सत्य और अहिंसा के सिद्धांत दुनिया के लिए कोई नये आविष्कार न थे पर जिस भांति उनका सार्वजनिक जीवन में व्यावहारिक उपयोग किया गया, वह सर्वथा नई चीज थी। इसी भांति शिक्षा के क्षेत्र में गांधीजी ने जो विचार रखे वह कम से कम आधुनिक शिक्षा-शास्त्र के ज्ञाताओं के लिए नए न थे, पर उन विचारों को भारतीय वातावरण और आवश्यकताओं के अनुसार एक व्यावहारिक स्वरूप प्रदान करना गांधीजी का एक महान् कार्य था। निस्संदेह इस कार्य में उन्हें देश के अनेक गण्यमान्य शिक्षाविदों और समाज-सेवकों का सहयोग प्राप्त था।

योजना का जन्म. १९३७ में 'हरिजन' में गांधीजी ने विशेष रूप से प्रचलित शिक्षा-पद्धति के दोषों तथा भारतीय जनता के लिए उसकी अनुपयोगिता की ओर हमारा ध्यान आकर्षित किया और सर्वप्रथम शिक्षा के संबंध में अपने विचारों को मोटे तौर पर प्रस्तुत किया। उनको लेकर देश की शिक्षा-समस्याओं में अभिरुचि रखनेवाले प्रायः सभी प्रतिष्ठित लोगों में इसकी चर्चा और पर्याप्त आलोचना-प्रत्यालोचना हुई। देश के शिक्षाविदों की राय लेने के लिए अक्टूबर १९३७ को वर्धा में एक सम्मेलन बुलाया गया। सामान्यतः इन विचारों का स्वागत किया गया। इन विचारों को व्यावहारिक और ठोस रूप देने के लिए उसी समय प्रसिद्ध शिक्षक डा० जाकिर हुसेन की अध्यक्षता में एक कमेटी का निर्माण हुआ जिसने कई महीने मेहनत कर एक योजना की रूपरेखा प्रस्तुत की। वर्तमान शिक्षा-सचिव प्रो० ख्वाजा गुलाम सैयदउद्दीन, काका

कालेलकर, किशोरीलाल मशरूवाला, श्रीमती आशादेवी, प्रो० के० टी० शाह, जे० सी० कुमारप्पा तथा इ० डब्ल्यू आर्यनायकम् इसके अन्य सदस्य थे। कमेटी ने अपनी प्रथम रिपोर्ट दिसम्बर १९३७ तथा द्वितीय रिपोर्ट अप्रैल १९३८ में प्रस्तुत की। बुनियादी शिक्षा के मूल तत्त्वों और उसके पीछे काम करनेवाले सिद्धांतों तथा उसकी योजना को समझने में इन दोनों रिपार्टों का महत्त्वपूर्ण स्थान है।

शिक्षा पर गांधीजी के विचार. गांधीजी के अनुसार अंग्रेजी सरकार द्वारा स्थापित प्रचलित शिक्षा केवल बेकार ही नहीं बल्कि नुकसानदेह भी है। इसके द्वारा अधिकांश लड़के अपने माता-पिता के हाथ से ही नहीं निकल जाते, प्रत्युत् अपनी पैतृक जीविका से भी हाथ धो बैठते हैं। शिक्षा का अर्थ केवल अक्षर-ज्ञान करा देना तथा कुछ सूचनाओं को याद करा देना भर नहीं है, अपितु बालक और मनुष्य के सर्वोत्तम शारीरिक, बौद्धिक और आत्मिक गुणों को विकसित करना है। इसके लिए वह दो बातें आवश्यक समझते हैं—

१. हमारी प्राथमिक शिक्षा सात वर्ष तक फैली हो जिसमें अंग्रेजी को छोड़, मैट्रिक स्टैंडर्ड तक के सभी विषय होने के अतिरिक्त एक पेशे—कुटीर-उद्योग की शिक्षा हो जिसे कि लड़के-लड़कियों की शक्तियों को विकसित करने का माध्यम बनाया जाय।

२. यह शिक्षा समग्र रूप में स्वावलम्बी होनी चाहिए।

मुख्य विशेषताएं

संक्षेप में गांधीजी के शिक्षा-सुधार के निम्न प्रमुख अंग हैं :—

१. सार्वभौम अनिवार्य बुनियादी शिक्षा. एक विशेष स्तर तक शिक्षा प्रत्येक नागरिक के लिए, चाहे वह स्त्री हो या पुरुष, अनिवार्य होनी चाहिए। प्रारम्भ में भले ही यह अनिवार्य न हो, पर जैसे-जैसे सुविधाएं प्राप्त होती जायें, इसे अनिवार्य करना होगा। यह अल्पतम सार्वभौम शिक्षा बुनियादी शिक्षा है। विद्यमान शिक्षा-प्रणाली की भांति यह विदेश से न आई हुई होने के कारण राष्ट्रीय कही गई है।

२. सात वर्ष का पाठ्यक्रम. इस बुनियादी शिक्षा की अवधि सात वर्ष रखी गई है। इस भांति हम देखते हैं कि इसमें प्राथमिक और माध्यमिक दोनों ही प्रकार की शिक्षा का समावेश है।

३. प्राग्पाठशाला तथा बेसिकोपरान्त शिक्षा को स्थान नहीं. बुनियादी शिक्षा की योजना पाठशाला में जाने लायक आयु से पूर्व छोटे बच्चों तथा सात

वर्ष की शिक्षा प्राप्त कर निकलनेवाले तरुण बालक-बालिकाओं की शिक्षा का समावेश नहीं है ।

४. **मातृभाषा शिक्षा का माध्यम.** प्रत्येक स्तर पर मातृभाषा द्वारा ही प्रत्येक विषय की शिक्षा का दिया जाना इसकी अन्य विशेषता है ।

५. **दस्तकारी पर केन्द्रित.** यह शिक्षा किसी एक कला या कुटीर-उद्योग पर आधारित है। इसमें बौद्धिक शिक्षा के लिए भी दस्तकारी को साधन बनाया जाता है ।

६. **दस्तकारी शिक्षा का उद्देश्य जीविका देना.** इसके अन्तर्गत दस्तकारी शिक्षा का उद्देश्य केवल बौद्धिक सक्रियता पैदा करना नहीं, प्रत्युत एक उद्योग को व्यवस्थित और पूर्ण रूप से सिखाना है ताकि शिक्षा समाप्त कर विद्यार्थी उस उद्योग को अपनी जीविका-प्राप्ति का साधन बना सकें ।

७. **आर्थिक वस्तुओं का उत्पादन.** वस्तुओं के निर्माण में इस बात का ध्यान रखा जाना आवश्यक है कि ऐसी वस्तुओं का उत्पादन हो जिनको कि बाजार में वेचा जा सके ।

८. **शिक्षक का वेतन निकालने में समर्थ.** इस बात का प्रयत्न होना चाहिए कि छात्रों द्वारा निर्मित वस्तुओं की कीमत से कम से कम शिक्षक के वेतन का खर्च निकल सके ।

९. **राज्य पर अन्य व्ययों का भार.** स्कूल की इमारत, फर्नीचर, पुस्तकों, नक्शों, औजारों इत्यादि से सम्बद्ध अन्य खर्चों को जुटाने की जिम्मेदारी राज्य की है ।

१०. **राज्य पर निर्मित वस्तुओं की खरीद का दायित्व.** अपनी तथा अन्य स्थानीय मण्डलों (Bodies), जिनमें कि स्कूल अवस्थित है, की आवश्यकताओं की पूर्ति के लिए राज्य का यह कर्तव्य है कि वह स्कूलों में तैयार वस्तुओं को स्वयं खरीदने का दायित्व ले ।

योजना के संबंध में कुछ शंकायें

जहां एक ओर कुछ लोगों ने बुनियादी शिक्षा को सर्वोत्तम और सम्पूर्ण कह कर स्वागत किया है, वहां दूसरी ओर कुछ लोगों ने उसकी व्यावहारिकता के संबंध में अपनी शंकायें भी प्रकट की हैं। इनमें से निम्न मुख्य हैं :—

१. **क्या दस्तकारी द्वारा सब कुछ सिखाया जा सकता है ?.** कुछ लोगों के मत में यद्यपि बहुत-से विषयों को एक बुनियादी दस्तकारी से संयुक्त किया जा सकता है, किंतु प्रत्येक विषय और उसका प्रत्येक पहलू दस्तकारी द्वारा नहीं

सिखाया जा सकता। इस संबंध में गांधीजी का कहना है कि वह जहां तक जितना अधिक संभव होगा किसी बुनियादी दस्तकारी द्वारा सिखायेंगे, किंतु बाकी अंश को वह नहीं छोड़ेंगे। इसके लिए पाठ्यक्रम में व्यवस्था करनी होगी।

२. **कताई बुनाई पर विशेष जोर क्यों ?.** बुनियादी शिक्षा में कताई-बुनाई-शिक्षा पर अनुचित जोर दिया गया है तथा अन्य उद्योगों की उपेक्षा की गई है। इस आपत्ति का निराकरण गांधीजी ने निम्न युक्ति द्वारा किया है—"तकली एक सस्ता यंत्र है और कताई एक ऐसी चीज है जिसे भारत के प्रायः समस्त भागों में सरलता से सिखाया जा सकता है और कपड़ा बनाने की कला प्रायः समस्त देश में प्रचलित है और यह ऐसा उद्योग है जिसमें अनगिनत आदमियों को लगाया जा सकता है। पर यदि किसी स्थान में अन्य उपयोगी दस्तकारी विद्यमान हो तो उन्हें उसे स्वीकार करने में कोई आपत्ति न होगी।

३. **क्या अन्य दस्तकारियों को बुनियादी दस्तकारी के रूप में स्वीकार नहीं किया जा सकता ?.** इस संबंध में वर्धा-कमेटी का मत है–अवश्य। छात्रों की रुचि की विभिन्नता को देखते हुए हमें अधिक से अधिक प्रकार की दस्तकारियों की व्यवस्था करने का प्रयत्न करना चाहिए। स्वयं बुनियादी शिक्षा के पाठ्यक्रम में कताई-बुनाई के स्थान पर कृषि, गत्ते, काठ और धातु के काम तथा अंतिम दो सालों में अन्य दस्तकारियों के अपनाने की व्यवस्था की गई है।

४. **क्या एक स्कूल सारी या अनेक दस्तकारियां सिखा सकता है ?.** यह तो बहुत अंश में स्कूल में शिक्षा प्राप्त करनेवाले छात्रों की संख्या पर निर्भर है। योजना के अन्तर्गत लगभग २५ छात्र एक शिक्षक के साथ पढ़ेंगे। इसलिए अधिक विद्यार्थियों की संख्या पर ही अधिक दस्तकारियों का खोलना संभव होगा।

५. **इन दस्तकारियों में उच्च शिक्षा की क्या व्यवस्था होगी ?.** इस योजना में उच्च शिक्षण-संस्थाओं की व्यवस्था के संबंध में भी सोचा गया है। डा० जाकिर हुसेन ने प्राथमिक अवस्था के बाद दो-तीन साल के उच्च और विशेष पाठ्यक्रम की सुविधा जुटाने की ओर निर्देश किया है। वास्तव में उन व्यक्तियों के लिए जो कि दस्तकारी-विशेष में विशेष योग्यता प्राप्त करना चाहते हैं, विशेष कला-स्कूलों, टेक्नालॉजी या टेक्सटाइल इन्स्टीट्यूटों की स्थापना करनी पड़ेगी।

६. **क्या एक दस्तकारी सीखने के लिए सात वर्ष जरूरी हैं ?.** गांधीजी के मत में एक दस्तकारी में पूर्ण दक्षता प्राप्त करने के लिए लगभग सात वर्ष की ट्रेनिंग आवश्यक है। इसका कारण है, उनकी योजना के अन्तर्गत छात्र उस दस्तकारी को यन्त्रवत् नहीं सीखता और दूसरे वह उसके साथ अन्य विषयों का भी ज्ञान प्राप्त करता है। इसलिए इतना समय लगना स्वाभाविक है।

७. **क्या अन्य प्रकार के स्कूल भी रहेंगे ?.** विशेष भारी अथवा सार्वजनिक उद्योगों अथवा सेवाओं के प्रशिक्षण के लिए अन्य विशेष शिक्षण-संस्थाओं की स्थापना का योजना कोई मनाही नहीं करती ।

८. **विद्यमान स्कूलों का क्या होगा ?.** इस संबंध में कमेटी की रिपोर्ट में प्रांतीय सरकारों को सार्वभौम अनिवार्य शिक्षा को कार्यान्वित करने के लिए एक २० अथवा २५ वर्षीय योजना बनाने का सुझाव दिया गया है जिसके अन्तर्गत वह नये स्थानों में बुनियादी स्कूल स्थापित करें तथा विद्यमान स्कूलों को क्रमशः एक वर्ष की अवधि में बेसिक स्कूलों में परिवर्तित कर दें।

९. **क्या यह योजना शहरों और कस्बों में सफल हो सकती है ?.** बहुतों की यह भ्रान्त धारणा है कि बुनियादी शिक्षा की योजना केवल गांवों के ही लिये है। निःसन्देह यह योजना प्रधानतः गांवों के लिए है, किंतु यह एकान्ततः गांवों के लिए नहीं है। यह शहरों और कस्बों के लिए भी है। इसमें सन्देह नहीं कि शहरों में दस्तकारी शिक्षा और उसकी विविधता का क्षेत्र पर्याप्त विस्तृत होगा। इसका मुख्य कारण छात्रों की अधिक संख्या होगी ।

१०. **कालिज-शिक्षा का क्या होगा ?.** इस योजना में कालिज-शिक्षा की समाप्ति की आकांक्षा नहीं, किंतु यह उसमें क्रांति अवश्य लाना चाहती है और उसे राष्ट्रीय जीवन की आवश्यकताओं से मिलाना चाहती है। मिकेनिकल तथा अन्य इंजीनियरों की शिक्षा के लिए कालिजों का होना जरूरी है किन्तु यह विभिन्न उद्योगों से संयुक्त होने चाहिए और यह उन उद्योगों का ही दायित्व होगा कि वह उनके शिक्षा-व्यय का भार सहें तथा उनके छात्रों को अपने यहां रोजगार दें। इस प्रकार कला, कृषि, चिकित्सा आदि के लिए विभिन्न प्रकार के कालिज हो सकते हैं। पर इनके संचालन का दायित्व राज्य का न होकर व्यक्तियों का ही होना चाहिए ।

योजना की समालोचना

किसी भी नये विचार की भांति बुनियादी शिक्षा-योजना की उसके जन्म से ही पर्याप्त अन्ध-प्रशंसा अथवा निरर्थक निन्दा, स्वागत और सम्मान हुआ है। योजना के आलोचकों को हम सुविधा की दृष्टि से तीन वर्गों में बांट सकते हैं। एक वर्ग जिसका कि विरोध वैयक्तिक, दलगत अथवा विनिहित स्वार्थ (Vested interest) के कारण है। दूसरे, जिन्होंने योजना को भलीभांति न समझे ही उसकी आलोचना शुरू कर दी है अथवा उसके सिर वह बातें मढ़ दी हैं, जो कि उसमें नहीं हैं। तीसरा वह वर्ग है जो कि शिक्षण-सुधार के लिए सचाई से

व्यग्र है किंतु उसे इस योजना में अनेक अच्छाइयां होते हुए भी कुछ विशिष्ट त्रुटियां नजर आती हैं ।

अगले पृष्ठों में हम इस योजना की प्रमुख आलोचनाएं और प्रत्यालोचनाएं देने का प्रयत्न करेंगे ।

स्वावलम्बन का सिद्धांत

१. **शिक्षा राज्य का दायित्व.** कुछ आलोचकों ने इस योजना के स्वावलंम्बन के सिद्धांत की आलोचना की है । उनके अनुसार यह सिद्धांत शिक्षा देने के संबंध में राज्य का उसके दायित्व से मुक्त करने का अच्छा रास्ता है । वास्तव में अपने समस्त नागरिकों को कम से कम निःशुल्क प्राथमिक शिक्षा प्रदान करना किसी भी सभ्य राष्ट्र का प्रथम कर्तव्य है ।

इस संबंध में दो बातें ध्यान देने योग्य हैं । पहले तो यह, कि बुनियादी शिक्षा में केवल प्राथमिक शिक्षा ही नहीं, प्रत्युत् माध्यमिक शिक्षा का भी समावेश है । इसलिए जब हम निःशुल्क प्राथमिक शिक्षा की बात करते हैं, तो हमें माध्यमिक शिक्षा के व्यय को न भूलना चाहिए । दूसरे, इस योजना में सारा व्यय छात्रों द्वारा उठाये जाने का जिक्र नहीं है, केवल अध्यापकों के वेतन भर का है जो कि समस्त शिक्षा-व्यय का लगभग ५० प्रतिशत होगा । इस भांति इस योजना के अन्तर्गत भी राज्य को बाकी आधे व्यय की व्यवस्था करनी होगी ।

भारत-जैसे निर्धन देश में जहां पर करोड़ों बच्चों को शिक्षित करने का प्रश्न है, और जहां राज्य की आय के साधन बहुत सीमित हैं, शिक्षा को अधिकाधिक स्वावलम्बी बनाना व्यावहारिक दृष्टि से सर्वथा उचित है । इसके अतिरिक्त, यह अर्ध-स्वावलम्बन बच्चों में आत्मसम्मान के भावों को भरने और अपने पैरों पर स्वयं खड़ा हाने की सामर्थ्य प्रदान करने में सहायक होगा । जब हम एक उपयोगी दस्तकारी सिखाते हैं तो उसकी वस्तुओं से पर्याप्त आय होना एक अनिवार्य परिणाम है ।

२. **कच्चे माल की बर्बादी.** जब छोटे-छोटे बच्चे कच्चे माल का प्रयोग करेंगे तो क्या पर्याप्त मात्रा में उसकी बर्बादी न होगी और हमें उसका हिसाब न लगाना होगा ? इसके उत्तर में यह स्वीकार किया जाता है कि बर्बादी अवश्य होगी पर पहले साल के अन्त में प्रत्येक छात्र से कुछ न कुछ लाभ ही होगा । प्रारम्भ में बर्बादी अवश्यम्भावी है, लेकिन एक बुद्धिमान् शिक्षक इसके लिए पूर्णतया प्रयत्नशील होगा कि यह बर्बादी कम से कम हो । रिपोर्ट में भी इस बात का निर्देश है कि स्कूल की बचत निकालते समय हमें बर्बाद कच्चे माल की

कीमत को घटाना होगा। उदाहरण के लिए कताई के संबंध में ही कताई और पिनाई में १० प्रतिशत बर्बादी तथा छात्र की अनुपस्थिति और बीमारी तथा अन्य कारणों का ध्यान रखते हुए कुल उत्पादन निकालते समय बर्बादी का औसत २५ प्रतिशत रक्खा गया है। इस प्रकार योजना के प्रवर्तक ने बर्बादी की समस्या को गणना करते समय ध्यान में रक्खा है।

३. **निर्मित वस्तुओं की बिक्री.** अनेक लोगों को इसमें बड़ा संदेह है कि बच्चों द्वारा बनाई गई वस्तुएं कौन खरीदेगा। इसके लिए यह कहा जाता है कि यदि वस्तुएं उपयोगी हुईं तो उन्हें बेचने में विशेष कठिनाई नहीं होनी चाहिए। राष्ट्रीय भावना से अनुप्राणित व्यक्ति, चाहे वह वस्तुएं कुछ अधिक महंगी भी हों, बच्चों के हाथ की बनी वस्तुएं खरीदना और इस्तेमाल करना पसंद करेंगे। इसके अतिरिक्त सरकार का यह कर्तव्य है कि वह अपनी आवश्यकताओं के लिए इन वस्तुओं की खरीद की गारंटी दे और उन्हें विशेष संरक्षण और प्रोत्साहन प्रदान करे। सेना, पुलिस और दफ्तरों के लिए आवश्यक कपड़ा, फर्नीचर, स्टेशनरी तथा अन्यान्य वस्तुएं स्कूलों की वस्तुएं बेचनेवाली सहकारी दूकानों से खरीद सकती है। एक राष्ट्रीय और उत्तरदायी सरकार इस कार्य को सुचारु रूप से सम्पन्न कर सकती है।

४. **बच्चों के श्रम का शोषण.** "शिक्षा के लिए रुपया जुटाने की आवश्यकता ने गांधीजी को स्कूलों में श्रम और दासता को प्रविष्ट कराने तथा स्कूलों को एक कारखाने में परिवर्तित करने को बाध्य किया है।" बुनियादी शिक्षा-समिति के एक सदस्य प्रो० शाह के शब्दोंमें—"शिक्षा को स्वावलम्बी बनाकर आप बच्चों में शुरू से ही क्रय-विक्रय की भावना भर देंगे, जो कि किसी भी तरह श्रेयस्कर नहीं है।...... ७ वर्ष की आयु में छात्रों को यदि आप इस प्रकार आर्थिक झमेले में डालेंगे, अवश्य ही एक प्रकार की दासता आ घुसेगी।" इस आपत्ति का निराकरण इस प्रकार किया गया है—"हममें से प्रत्येक व्यक्ति को आठ घंटे काम करना चाहिए। कोई व्यक्ति काम करने से गुलाम नहीं बन जाता। जिस प्रकार हम घर पर अपने माता-पिता का काम करने से गुलाम नहीं बन जाते, इस प्रकार हमारे प्रस्तावित स्कूलों में गुलामी का सवाल नहीं उठता।....... किसी भी अच्छी चीज के बारे में यह आक्षेप लगाया जा सकता है। कोई भी अच्छी चीज बुरे हाथों में पड़कर बुरी हो सकती है।..... प्रस्तावित स्कूल के बच्चों की लंका के चायबगानों में काम करनेवाले बच्चों से तुलना करना सर्वथा भ्रामक है। श्रम उनकी शिक्षा का अंग नहीं है। बुनियादी शिक्षा में अंग्रेजी को छोड़, हाई-स्कूल के समस्त विषयों के अतिरिक्त व्यायाम, संगीत, चित्रांकन और एक पेशे

की शिक्षा है। इस प्रकार इन्हें फैक्टरी कहना सर्वथा मिथ्या है।........वास्तव में एक दस्तकारी द्वारा बच्चे का विकास स्वतः ही स्कूलों को एक कारखाना बनने से बचाता है।"

दस्तकारी-केन्द्रित शिक्षा

५. **संस्कृति की उपेक्षा.** "यह शिक्षा-पद्धति केवल जुलाहे और बढ़ई तैयार करने भर के लिए ठीक है, पर वास्तविक सुसंस्कृत स्त्री-पुरुष बनने के लिए नहीं, क्योंकि इसमें दस्तकारी के लिए सांस्कृतिक विषयों की उपेक्षा की गई है।" इस संबंध में दक्षिण-भारत-अध्यापक संघ की रिपार्ट के शब्द ध्यान देने योग्य हैं—"योजना में सम्मिलित विषय तथा ध्येय ७ से १४ साल की आयु के बच्चों के लिए उपयुक्त हैं, चूंकि उसमें साहित्य, भौतिक विज्ञानों, मानव-विज्ञानों, कला, दस्तकारी और सौंदर्य-शास्त्र सबका समावेश है। इस भय का काई औचित्य नहीं है कि वर्धा-योजना में संस्कृति की उपेक्षा होगी।" रेवरेंड टी० एन० सीकरा के मत में—"एक दस्तकारी द्वारा गांवों के छात्रों को शिक्षित करने मे कोई घबड़ाने का कारण नहीं है। वास्तव में बनिस्बत प्रचलित प्राथमिक स्कूलों की कृत्रिम, अवास्तविक और अबौद्धिक रीति के वह इस प्रकार अधिक स्वाभाविकता से शिक्षित किये जा सकते हैं। वह अपनी चुनी दस्तकारी के सिवा अन्य विषयों की कम बातों को जान सकते हैं, किंतु वह निश्चित रूप से उस अल्प को अधिक समझदारी और सजीवता से जानेंगे।" इस पद्धति के अन्तर्गत शिक्षाशास्त्रीय दृष्टि से छात्र समस्त विषयों को जिन्हें वह सीखता है आत्मस्थ करता है, क्योंकि वह बच्चे के स्थूल व्यक्तित्व में स्वाभाविक और मौलिक रूप में संयुक्त होते हैं। रिपोर्ट के शब्दों में—"इस शिक्षा का उद्देश्य केवल प्रधानतः दस्तकार तैयार करना नहीं जो कि यन्त्रवत् अपनी दस्तकारी का अभ्यास करें, प्रत्युत् दस्तकारी में अन्तर्हित साधनों का शिक्षा के लिए उपयोग है।" अतः बुनियादी शिक्षा पर संस्कृति की उपेक्षा का आक्षेप अनुचित है।

६. **असंतुलित समय-विभाग.** वर्धा-योजना में स्कूलों के लिए निम्न समय-विभाग प्रस्तावित किया गया है—बुनियादी दस्तकारी ३ घंटे २० मिनिट; संगीत, ड्राइंग, गणित ४० मिनिट; मातृभाषा ४० मिनिट; सामाजिक अध्ययन और सामान्य विज्ञान ३० मिनिट; शारीरिक शिक्षा १० मिनिट; वपफा १० मिनिट। इस प्रकार ५ घंटे ३० मिनिट के प्रतिदिन के समय-विभाग में अकेले दस्तकारी को ३ घंटे २० मिनिट प्रदान किये गये हैं। दस्तकारी समय-विभाग पर हावी है।

वास्तव में दस्तकारी के लिए ३ घंटे २० मिनिट का समय अधिकतम है, इस संबंध में आवश्यक हेर-फेर किया जा सकता है। रिपार्ट के शब्दों में—"बुनियादी दस्तकारी के लिए निश्चित समय को केवल यन्त्रवत् दस्तकारी के अभ्यास के लिए ही नहीं रक्खा गया है, किंतु उसमें उससे स्वभावतः सम्बद्ध मौखिक कार्य, ड्राइंग और अभिव्यक्ति और साथ ही प्रक्रियाओं के कारणों और उद्देश्यों, अर्थात् उनका वैज्ञानिक ज्ञान, जो कि दस्तकारी के काम का एक महत्त्व-पूर्ण शैक्षणिक पहलू है, इसी समय के बीच कराया जायेगा।" इसके अलावा ३ घंटे २० मिनिट का सारा समय एक लगातार अवधि न होगी किंतु सारे दिन में फैली होगी। साथ ही उसमें बराबर हाथ का काम न होगा।

७. शिक्षा का एक नीरस पाठ्यक्रम. वर्धा-योजना क्या दस्तकारी पर अनुचित जोर देकर शिक्षा को बिलकुल नीरस बना देगी और बच्चे के मस्तिष्क की वृद्धि को रोकेगी ?

बुनियादी शिक्षा के पोषकों का कहना है कि यह शिक्षा प्रचलित शिक्षा की तुलना में अधिक सरस, रुचिकर विचारोत्तेजक और प्रेरणादायक होगी। इस योजना में सक्रियता (Activity) के सिद्धांत पर अमल किया गया है। अतः काम करते हुए सीखने में और स्वयं वस्तुओं के निर्माण में बच्चे को अद्भुत सृजनात्मक आनन्द प्राप्त होगा और उसकी कलात्मक प्रवृत्तियों की स्वच्छन्द अभिव्यक्ति होगी।

८. पूर्व-पक्व (Premature) **विशिष्टीकरण और पेशे का चुनाव.** बुनियादी शिक्षा के अन्तर्गत ७ साल की कच्ची उम्र में ही एक बच्चे को सदा के लिए अपना एक पेशा चुनना पड़ता है। यह उम्र उसके सहज और स्वाभाविक रुझान को जानने के लिए बहुत ही असंतोषजनक है, अतः इस उम्र में उसके समस्त भावी कैरियर का निर्णय कर देना कभी भी उचित नहीं ठहराया जा सकता।

उक्त आलोचना में अवश्य कुछ सचाई है, पर यदि हम विद्यमान शिक्षा-प्रणाली पर दृष्टि डालें, जिसमें अंत तक छात्र अपने कैरियर के बारे में अनिश्चित रहता है, तथा उसे स्थगित करता जाता है और परिणामतः किसी भी पेशे के अयोग्य हो जाता है, तो हमें मालूम होगा कि प्रारम्भ में ही इसका निर्णय इतना अनुचित नहीं है, जितना कि प्रतीत होता है। साथ ही एक स्कूल में अथवा एक ही क्षेत्र के विभिन्न स्कूलों में अनेक दस्तकारियों के सिखाने की व्यवस्था कर हम बहुत अंश में बच्चे या उसके अभिभावकों को उनकी सहज अभिरुचि के अनसार पेशे के चुनाव में मदद कर सकते हैं।

शिक्षकों की समस्याएं

९. **शिक्षकों को कठिनाई.** शिक्षकों की दृष्टि से, यह योजना उनपर पर्याप्त बोझ और नये उत्तरदायित्व डालती है। निस्संदेह एक बुनियादी स्कूल में, जिसमें कि सक्रिय पाठ्यक्रम पर अमल होगा, एक शिक्षक का कार्य काफी बढ़ जायगा और कठिन भी हो जायगा। वह यहां आराम से कुर्सी पर बैठे-बैठे बच्चों से पुस्तक न पढ़वा सकेगा अथवा कुछ नोट लिखा अपने काम से छुट्टी न पा जायेगा। उसे निरन्तर जागरूक और कार्यरत रहना होगा। उसे कार्य द्वारा सिखाना होगा तथा प्रत्येक छात्र पर व्यक्तिगत ध्यान देना होगा। वास्तव में यह कार्य कठिन होगा। इसीलिए जाकिर हुसेन कमेटी ने वर्धा-स्कूलों के लिए ठीक प्रकार के शिक्षकों को चुनने पर विशेष बल दिया है। बिना सही किस्म के शिक्षक मिले इस योजना को सफल नहीं बनाया जा सकता।

१०. **शिक्षकों का वेतन.** बहुत-से आलोचकों का कहना है कि बुनियादी स्कूलों के शिक्षकों के लिए प्रस्तावित वेतन बहुत ही कम है। सर पी० सी० रामस्वामी अय्यर के शब्दों में—"गांधीजी की शिक्षा में सबसे बड़ा दोष यह है कि वह यह मान लेते हैं कि सब लोग उन्हीं की भांति त्यागी और संयमी बन सकते हैं, मेरी राय में उनकी यह कल्पना अव्यावहारिक है।"

इसके जवाब में बुनियादी शिक्षा के पैरोकारों का कहना है, "निस्संदेह पुरानी शिक्षा के वातावरण में पली वर्तमान संतति का प्रस्तावित वेतन को कम समझना स्वाभाविक है, किंतु ऐसे लोगों की सर्वथा कमी नहीं है जो कि देश-सेवा की भावना से अनुप्राणित हैं और कम वेतन पर भी सहर्ष कार्य करने को तैयार हैं अथवा किये जा सकते हैं। फिर भी शिक्षक वर्ग में एक ऐसी चेतना उत्पन्न करने की आवश्यकता रह जाती है कि वह शिक्षा को पैसा कमाने का साधन न समझें। और फिर कमेटी द्वारा युद्ध से पूर्व प्रस्तावित अल्पतम वेतन २० रुपये और यदि संभव हो तो २५ रुपये मासिक था, जो कि उस समय के मूल्य-स्तर को देखते हुए बहुत कम नहीं कहा जा सकता। इसके अलावा उस समय सरकारी ग्राम्य स्कूलों में भी शिक्षक का वेतन इससे कहीं कम था। हाल में तालीमी संघ ने वर्तमान मूल्य-स्तर को देखते हुए उसे ७५ रु० मासिक कर दिया है।

निस्संदेह शिक्षकों से आशा की गई योग्यताओं को देखते हुए बुनियादी शिक्षकों का वेतन बहुत कम है, किंतु यदि हम अपने देश की असीम निर्धनता, उसके सीमित साधनों तथा उसकी शिक्षा की शीघ्र आवश्यकता का विचार करें, तो शायद इस वेतन को बहुत अनुचित न कहा जा सके। फिर भी शिक्षा-सुधार के लिए शिक्षकों के जीवन-स्तर में उन्नति सर्वथा आवश्यक है। जहां तक

बलिदान का प्रश्न है हम केवल शिक्षकों को ही इसका एकमात्र निशाना नहीं बना सकते, अन्य सब सार्वजनिक सेवाओं में भी त्याग और बचत की उतनी ही जरूरत है ।

११. **शिक्षकों की ट्रेनिंग.** कुछ लोगों की शिकायत है कि वर्धा-योजना में प्रस्तावित शिक्षकों की ट्रेनिंग की तीन साल की अवधि बहुत अधिक है । एक साल के एल० टी०, बी० टी० अथवा बी० एड० के कोर्सों से अभ्यस्त व्यक्तियों को इसका अधिक मालूम होना कुछ स्वाभाविक ही है । किंतु यदि हम ट्रेनिंग के क्षेत्र पर दृष्टि डालें तो हमें यह अवधि बहुत लम्बी न मालूम होगी । शिक्षकों को केवल एक विशेष दस्तकारी में ही प्रवीणता नहीं प्राप्त करनी होगी, अपितु विभिन्न विषयों की बुनियादी शिक्षा से संबंध स्थापित करने की कला भी सीखनी होगी ।

पर शिक्षकों की ट्रेनिंग का एक और भी पहलू है, वह है सस्ती और सार्वभौम शिक्षा । तीन साल की ट्रेनिंग का आग्रह कर हम एक ओर ट्रेनिंग-व्यय को बढ़ाते हैं तथा दूसरी ओर शिक्षकों की संख्या को सीमित करते हैं । इसलिए यदि हम इस ट्रेनिंग-काल में कुछ कमी कर सकें तो दोनों समस्याओं के ही समाधान में मदद मिलेगी । प्रयत्न करने पर इस ट्रेनिंग-काल को शायद एक साल घटाया जा सकता है ।

१२. **शिक्षकों का अभाव.** कुछ आलोचकों का कहना है कि हमें समस्त देश में बुनियादी शिक्षा के प्रसार के लिए आवश्यक शिक्षकों का प्राप्त करना संभव न होगा ।

निस्संदेह देश के समस्त बच्चों को शिक्षित करने के लिए आवश्यक शिक्षकों को प्राप्त करना हमारे लिए संभव नहीं है । और फिर कम वेतन पर तो जितने व्यक्ति मिल सकते हैं, उन्हें भी प्राप्त करना कठिन है । किंतु फिर भी इसमें निराशात्मक धारणा उचित नहीं कही जा सकती । आज भी यदि विशेष रूप से देश के शिक्षित नवयुवक और नवयुवतियों का आवाहन किया जाये और उनके मन में शिक्षा-प्रसार के कार्य के प्रति उत्साह जाग्रत् किया जाये तो कोई कारण नहीं कि हजारों पढ़े-लिखे व्यक्ति आज भी केवल भरण-पोषण के लिए पर्याप्त वेतन पर शिक्षक बनने को तैयार होंगे ।

योजना की त्रुटियां

१३. **स्कूल-पूर्व शिक्षा.** बुनियादी योजना में बच्चे की शिक्षा शुरू करने की उम्र सात साल मानी गई है जो बहुत अधिक है । यह आलोचना सही है

और कमेटी ने स्वयं बच्चे के जीवन में इस स्कूल-प्रवेश से पहले की शिक्षा के महत्त्व को स्वीकार किया है। उसने यह भी माना है कि यह शिक्षा प्रायः अशिक्षित और उदासीन माता-पिताओं द्वारा गांवों के गरीब घरों में सर्वथा असंतोषजनक वातावरण में प्रदान की जायगी, किंतु उन्होंने तीन साल से सात साल के बच्चों की राज्य द्वारा संचालित या सहायता-प्राप्त किसी प्रकार की शिक्षा की आवश्यकता का निर्देश मात्र कर उसे छोड़ दिया है। निस्संदेह वर्धा-योजना की यह एक बड़ी कमी है।

यदि सात साल की उम्र को घटाकर पांच वर्ष कर दिया जाय, तो बहुत अंशों में इस कमी को दूर किया जा सकता है, किंतु इस प्रकार अनिवार्य शिक्षा की अवधि सात साल से बढ़कर नौ साल हो जायेगी। केन्द्रीय शिक्षण-बोर्ड द्वारा नियुक्त खेर-उपसमिति ने भी वर्धा-योजना में इस संशोधन की सिफारिश की थी और बाद में सार्जेन्ट युद्धोत्तर-शिक्षा-योजना में भी इसे स्थान दिया गया है।

१४. **अंग्रेजी की उपेक्षा.** कुछ लोगों का ख्याल है कि गांधीजी द्वारा अंग्रेजों का विरोध शायद बुनियादी शिक्षा से अंग्रेजी भाषा के अध्ययन के बहिष्कार का कारण था। उनके अनुसार भारतीय शिक्षा में अंग्रेजी का होना एक आवश्यक चीज है। भारतीय भाषाओं में वैज्ञानिक पुस्तकों का सर्वथा अभाव है और न ही वह वैज्ञानिक विषयों और विशेषकर उच्च शिक्षा के लिए एक उचित माध्यम हैं। इसके अतिरिक्त अंग्रेजी भाषा ही एक ऐसी कड़ी है जो कि हमें प्रगतिशील संसार से संयुक्त कर सकती है।

सभी निःस्वार्थ और निष्पक्ष शिक्षा-शास्त्री यह स्वीकार करते हैं, कि प्राथमिक अथवा माध्यमिक किसी भी अवस्था में एक विदेशी भाषा को एक अनिवार्य विषय अथवा शिक्षण का माध्यम बनाना सर्वथा अवैज्ञानिक और बेहूदा है। आज हमारे छात्रों का अधिकांश समय एक विदेशी भाषा से माथापच्ची करने में चला जाता है और दस-बारह साल उसका अभ्यास कर भी वह उस पर अधिकार प्राप्त नहीं कर सकते। पाठ्यक्रम से अंग्रेजी के पृथक्करण द्वारा ही आप शिक्षा में व्यायाम, दस्तकारी, ड्राइंग और संगीत-जैसे उपयोगी विषयों को स्थान दे सकते हैं तथा पाठ्यक्रम में सम्मिलित विषयों का वास्तविक ज्ञान प्राप्त कराने में समर्थ हो सकते हैं। बुनियादी शिक्षा माध्यमिक शिक्षा के साथ समाप्त हो जाती है। कुछ विशेष विषयों में उच्च अध्ययन के लिए अंग्रेजी अथवा अन्य समृद्ध विदेशी भाषा का ज्ञान आवश्यक हो सकता है। ऐसे विद्यार्थियों के लिए जो ऐसे विषयों में उच्च शिक्षा प्राप्त करना चाहते हैं, अंग्रेजी अथवा अन्य आवश्यक भाषाओं की शिक्षा की व्यवस्था की जा सकती है। लेकिन इसकी आवश्यकता

माध्यमिक शिक्षा की समाप्ति के बाद ही होगी। प्राथमिक और माध्यमिक शिक्षा में उसे कोई स्थान नहीं दिया जा सकता।

अंग्रेजी के स्थान पर अन्तःप्रांतीय सम्पर्क और भारत की सांस्कृतिक एकता को सुदृढ़ करने के लिए माध्यमिक अवस्था में हिंदी की अनिवार्य शिक्षा की व्यवस्था अधिक उपयोगी है। संस्कृत से निकलने और भारत की समस्त अन्य भाषाओं के अति समीप होने के कारण उसका अच्छा ज्ञान प्राप्त करने में एक-डेढ़ साल से अधिक समय न लगेगा।

१५. **शारीरिक शिक्षा की उपेक्षा.** समय-विभाग में केवल १० मिनिट का समय शारीरिक शिक्षा के हिस्से पड़ा है, जिसके कारण कुछ लोगों का अनुमान है कि उसपर बहुत कम ध्यान दिया गया है।

इस आपत्ति का उत्तर देते हुए कमेटी ने निम्न कैफियत दी है—"हमने योजना में खेल को एक अलग और विशेष स्थान नहीं दिया है, क्योंकि यह मूलतः पाठ्य-क्रम से बाहर की क्रिया है। यदि इसे भी पाठ्यक्रम का अंग बना दिया जाय तो वह अपनी सहज स्वाभाविकता को खो देती है और मनोवैज्ञानिक मानों में एक क्रीड़ा नहीं रह जाती........। साथ ही यह भी स्मरण रखना आवश्यक है कि एक सक्रिय स्कूल (Active School) में खेल उसकी शिक्षण-विधि का एक अभिन्न अंग बन जाता है, उसे शैक्षणिक अरुचिकर श्रम से मुक्ति पाने का साधन नहीं समझा जाता।" बावजूद इसके पाठ्यक्रम में शारीरिक शिक्षा तथा वैयक्तिक तथा सामूहिक खेलों की व्यवस्था है। उदाहरणार्थ, शारीरिक शिक्षा में केवल कवायद ही नहीं, अपितु मैदान में खेले जानेवाले खेल, बिना किसी उपकरण के खेले जानेवाले गांवों के खेल, कल्पनात्मक तथा अनुकरणात्मक खेल, तालयुक्त व्यायाम तथा लोकनृत्यों का भी समावेश किया गया है। इसके अति-रिक्त जहां तक शारीरिक शिक्षा के नियमात्मक ज्ञान का संबंध है, पाठ्यक्रम में सामान्य विज्ञान के कोर्स द्वारा आरोग्य-शास्त्र, भोजन-शास्त्र और शरीर-शास्त्र के आवश्यक ज्ञान की शिक्षा की व्यवस्था है और जहां तक व्यावहारिक शिक्षा का प्रश्न है, स्कूल का सारा कार्य ही इस भांति परिचालित है कि जिससे बच्चे के स्वास्थ्य और शारीरिक स्फूर्ति के विकास में सहायता मिले।

१६. **धर्म की उपेक्षा.** कुछ लोगों ने इस बात को लेकर बुनियादी शिक्षा की आलोचना की है कि इसमें धार्मिक शिक्षा की कोई व्यवस्था नहीं है। यह बड़े आश्चर्य की बात है कि गांधीजी ने, जिन्होंने शिक्षित भारतीयों के धर्म के प्रति उदासीनता की तीव्र शब्दों में भर्त्सना की थी, अपनी शिक्षा-योजना में धार्मिक शिक्षा को कोई स्थान नहीं दिया है। वास्तव में उसे शारीरिक और बौद्धिक

शिक्षा से अधिक महत्त्व मिलना चाहिए था, क्योंकि नश्वर शरीर से अमर आत्मा कहीं अधिक महत्त्वपूर्ण है। इस संबंध में गांधीजी के अनेक भक्तों को भी पर्याप्त निराशा हुई है।

इस आलोचना का उत्तर देते हुए गांधीजी ने कहा था, "लोग पूछते हैं, मैं धर्म पर क्यों जोर नहीं देता? क्योंकि मैं उन्हें व्यावहारिक धर्म, आत्मनिर्भरता (Self-help) का धर्म सिखा रहा हूं।" किंतु केवल आत्मनिर्भरता को धर्म नहीं कहा जा सकता। धर्म का ईश्वर से सम्बन्ध होना जरूरी है।

वास्तव में बुनियादी योजना में धार्मिक शिक्षा का अभाव उसकी एक बड़ी सफलता और विशेषता है। धर्म के संबंध में व्यक्तियों में कोई एकमतता नहीं है। सामान्यतः सभी धर्मों ने अपने धर्म को सबसे श्रेष्ठ और अन्य धर्मों को उससे निकृष्ट ठहराया है। इस भांति धर्म ने मनुष्य और मनुष्य के बीच विभेद और घृणा के प्रसार में बड़ा योग दिया है। जिन देशों में केवल एक ही धर्म के लोग रहते हों वहां तो धार्मिक शिक्षा की समस्या पर्याप्त सरल है, किंतु भारत-जैसे देश में जहां अनेक धर्मों के लोग निवास करते हैं और जहां पर कोई राज्य-धर्म नहीं है, धार्मिक शिक्षा की व्यवस्था सरल नहीं है। वह केवल विभिन्न धर्मों के बीच वैमनस्य तथा यहां की जनता के बीच विभेद पैदा करने का ही साधन बन सकती है। कहने को तो कहा जा सकता है कि धर्म और साम्प्रदायिकता एक चीज नहीं है। लेकिन यह केवल सैद्धांतिक प्रश्न नहीं है। सिद्धांत से अधिक महत्त्व-पूर्ण चीज व्यवहार है। जब कि प्रचलित धर्मों ने साम्प्रदायिकता की वृद्धि ही की है, तो उनकी शिक्षा का बहिष्कार उचित ही कहा जायगा और जहां तक सच्ची सार्वभौम और मानवीय आध्यात्मिकता का संबंध है उसे तथाकथित अधार्मिकता अथवा ऐहिकता (Secularism) से किसी प्रकार का खतरा नहीं है।

जहां तक सच्ची आस्तिकता और आध्यात्मिकता का प्रश्न है, जो कि निःसंदेह धर्म और सम्प्रदाय-विशेष से ऊपर है, इस योजना में उसे उचित स्थान प्राप्त है और साथ ही उसमें उसके किसी प्रकार के विरोध की भी कोई चेष्टा नहीं है। उसमें निरपेक्षता अथवा तटस्थता की नीति का अवलम्बन किया गया है। किंतु जहां तक धर्म के नैतिक पहलू का संबंध है, उसे योजना में उचित स्थान प्रदान कर नैतिक भावना को दृढ़ करने की ओर विशेष ध्यान दिया गया है। इस भांति हम कह सकते हैं कि धर्म के संबंध में योजना का रुख सर्वथा उचित और युक्तिसंगत है।

समालोचना के कुछ और पहलू

१७. पढ़ाई के दिनों की संख्या. कमेटी के अनुसार एक साल में एक

स्कूल में २८८ दिन कार्य करने की आशा की जाती है। इसका औसत महीने में २४ दिन बैठता है। यह गणनात्मक दृष्टि से तो ठीक है १२×२४=२८८, किंतु क्या यह व्यावहारिक दृष्टि से संभव है ? क्या हम स्कूल से सारे साल एक ही रफ्तार से काम करने की उम्मीद कर सकते हैं ?

वर्धा-योजना के उत्साही समर्थक मशरूवाला तक ने स्वीकार किया है कि हमें एक शिक्षण-सत्र को नौ महीने (अर्थात् २४×९=२१६) का बनाना होगा। दक्षिण-भारत-शिक्षक संघ ने २२० कार्य के दिन रखने का सुझाव दिया है। यह एक युक्तिसंगत सुझाव है। शिक्षा को स्वावलम्बी बनाने की धुन में उससे समस्त त्योहारों और ऋतुओं की छुट्टियों को निकाल देना उचित न होगा।

१८. गांवों से शहरों को निष्क्रमण. कुछ आलोचकों के मत में इस योजना का उद्देश्य अथवा परिणाम गांवों से शहरों में होनेवाले निष्क्रमण को रोकना है।

यह तो स्वाभाविक ही है कि एक ग्राम्यक्षेत्र में बालक एक ग्रामीण दस्तकारी को ही लेगा। किंतु यदि वह शिक्षा समाप्त कर शहर को निष्क्रमण करना चाहे तो उसपर कोई रोक नहीं है। निस्संदेह बुनियादी शिक्षाप्राप्त व्यक्ति गांवों में ही रहना अधिक पसन्द करेंगे। वास्तव में गांवों से शहरों में निष्क्रमण एक मौलिक सामाजिक समस्या है, जिसका मूल कारण गांवों की आर्थिक निर्धनता है। बुनियादी शिक्षा की योजना उस मूल समस्या का समाधान कर इस सामाजिक समस्या को उचित रीति से हल करने का प्रयास करती है।

१९. औद्योगिक प्रगति में रुकावट. बुनियादी शिक्षा की योजना केवल 'गांवों की ओर लौटने' की नहीं, 'अपितु आदिम युग की ओर वापस लौटने' की चेष्टा है। यह योजना आधुनिक औद्योगिक प्रगति की विरोधी है।

निस्संदेह इस योजना पर गांधीजी के समाज-दर्शन की छाप स्पष्ट है जिसके अनुसार राष्ट्रीय आत्मनिर्भरता (National self-sufficiency) और कुटीर-उद्योग ही हमारी आर्थिक व्यवस्था का आधार होना चाहिए। गांधीजी की दृष्टि में बृहत् उद्योगों या भारी मशीनों के प्रयोग और शोषण के बीच कार्य-कारण का संबंध है। यह सत्य है कि सम्पत्ति पर कुछ शक्तिशाली व्यक्तियों के अबाधित व्यक्तिगत स्वामित्व के अन्तर्गत यह शोषण भलीभांति सम्पन्न हुआ, किंतु यदि बृहत् उद्योगों पर सार्वजनिक स्वामित्व और जनतान्त्रिक नियंत्रण हो तो कोई कारण नहीं कि शोषण का अन्त न किया जा सके। इसलिए दोष मशीनों का नहीं, उनके स्वामित्व का है। समस्या मशीनों के उपयोग की नहीं, उनके नियंत्रण की है। पर यह कार्य केवल जनतन्त्रीय आयोजन द्वारा ही संभव है।

वर्तमान भारत में कुटीर-उद्योगों के पक्ष में अवश्य एक बात कही जा सकती है, वह यह कि हमारे यहां पूंजी की भीषण कमी और श्रम का प्रबल प्राचुर्य है। ऐसी स्थिति में देश की सारी कार्य करने में समर्थ जनसंख्या को रोजगार प्रदान करने के लिए हमें कम पूंजी चाहनेवाले उद्योगों को अपनाना होगा। इस दृष्टि से भारत में कुटीर-उद्योगों की उपयोगिता सिद्ध होती है। इस संबंध में एक बात और स्मरणीय है, वह यह कि कुटीर-उद्योग शब्द बहुत व्यापक है। यदि श्रमिक कताई-बुनाईका काम अपने-अपने घरों में बिजली के छोटे मोटर को लगाकर करें, जैसा कि जापान में होता है, तो क्या हम उसे कुटीर-उद्योग न कहेंगे ? इस भांति हम आधुनिक विज्ञान के प्रवेश द्वारा मरणासन्न कुटीर-उद्योगों में प्राणों का संचार कर सकते हैं और साथ ही बृहत् उद्योगजनित औद्योगिक नगरों की सामाजिक समस्याओं से भी बहुत कुछ बच सकते हैं। फिर जब तक हम देश के समस्त आर्थिक यन्त्र को समाज के स्वामित्व, नियंत्रण और लोकतांत्रिक संचालन के नीचे नहीं ला देते हमारे पास यही एक मार्ग रह जाता है जिसके द्वारा हम अपनी शिक्षा को अधिक व्यावहारिक बना सकते हैं।

क्या इसका यह अर्थ है कि बुनियादी शिक्षा केवल कुटीर-उद्योगों और कृषि पर निर्भर समाज के लिए ही उपयुक्त है और आधुनिक औद्योगिक समाज की आवश्यकताओं के अनुपयुक्त है ? इसका संक्षिप्त उत्तर है, नहीं। यही बुनियादी शिक्षा थोड़े हेर-फेर से एक औद्योगिक समाज की आवश्यकताओं को पूरा कर सकती है। वास्तव में औद्योगिक दृष्टि से अति उन्नत देशों में भी कम से कम प्राथमिक अवस्था में केवल सरल और प्रारंभिक औजारों का प्रयोग करना सिखाया जाता है। इस प्रकार दस्तकारी शिक्षा का जितना महत्त्व व्यावहारिक है, उससे कहीं अधिक शैक्षणिक है। बुनियादी शिक्षाप्राप्त छात्र अपने हाथ, आंख के प्रयोग के अभ्यासी, व्यावहारिक कुशलता, निरीक्षण-शक्ति तथा हाथ के काम में दक्ष होने के कारण आज की कोरी किताबी और साहित्य-शिक्षा की तुलना में उच्च यान्त्रिक शिक्षा ग्रहण करने में भी बहुत चुस्त और उपयुक्त होंगे। इस प्रकार बुनियादी शिक्षा की योजना औद्योगिक विकास में किसी प्रकार भी बाधक न होगी, प्रत्युत् यदि यह कहें तो अधिक अच्छा होगा, कि देश को उद्योगीकरण की दिशा में बढ़ाने में इसका अच्छा उपयोग किया जा सकेगा।

उपसंहार

बुनियादी शिक्षा के मूल तत्त्वों, उसके संबंध में प्रचलित शंकाओं तथा उसकी समालोचना से यह स्पष्ट हो जाता है कि बावजूद कुछ सीमितताओं के

शिक्षा की यह योजना सर्वाधिक विस्तृत, वैज्ञानिक, व्यावहारिक और भारतीय परिस्थितियों और आवश्यकताओं के बहुत अनुकूल है।

यों तो जिन सिद्धांतों पर यह आधारित है वह कम से कम दुनिया के प्रगतिशील देशों और शिक्षा-शास्त्रियों के लिए नये नहीं हैं। निरीक्षण और कार्य द्वारा शिक्षा के सिद्धांत को आज सभी स्वीकार करते हैं। सभी जगह आजकल छोटे बच्चों के लिए किंडरगार्टन और मौंटेसरी पद्धति का प्रचार है। प्रयोगशाला की डाल्टन पद्धति तथा प्रोजेक्ट पद्धति का बोलबाला है। इन नई पद्धतियों ने अन्य देशों में भले ही चाहे कितनी सफलता प्राप्त की हो, किंतु भारत में इन्हें विशेष सफलता नहीं मिली है। इसका प्रमुख कारण इन पद्धतियों की महंगाई है। साधारण-से किंडरगार्टन स्कूल की फीस ८ रुपये से १५ रु० मासिक है। अमीर और उच्च मध्यम वर्ग के सिवा दूसरों के बच्चों को इनमें पढ़ाना असम्भव है। प्रोजेक्ट पद्धति तो इससे भी महंगी है। ये पद्धतियां वैज्ञानिक होते हुए भी भारत-जैसे निर्धन देश के लिए अनुपयुक्त हैं। अतः विद्यमान भारतीय परिस्थितियों में बुनियादी शिक्षा हमारी शिक्षा-समस्याओं का एक संतोषजनक समाधान है।

बुनियादी शिक्षा का विकास और भविष्य

जैसा कि हम बता चुके हैं कि कहीं १९३८ के मध्य में जाकर बुनियादी शिक्षा, उसके पाठ्यक्रम और प्रणाली ने एक व्यावहारिक रूप धारण किया। उस समय भारत के अधिकांश प्रांतों में कांग्रेस की उत्तरदायी सरकारें थीं। शिक्षा एक प्रांतीय विषय होने के कारण उन्हें शिक्षा-सुधार की नई योजना को अपनाने का अधिकार था। समस्त कांग्रेसी सरकारों द्वारा प्रशासित प्रांतों तथा कश्मीर राज्य ने बुनियादी शिक्षा के सिद्धांत को स्वीकार किया और उसको क्रमशः कार्यान्वित करने का संकल्प किया। इसी बीच सारे देश में हजारों बुनियादी स्कूल खोले गये, अथवा विद्यमान स्कूलों में बुनियादी शिक्षा की व्यवस्था की गई तथा उनके लिए सैकड़ों नये अध्यापकों की ट्रेनिंग की व्यवस्था की गई। यह प्रयत्न और परिवर्तन अभी प्रारम्भ ही हुआ था कि बिना पूछे भारत को युद्ध में धकेल देने की ब्रिटिश नीति के विरोध में समस्त कांग्रेसी मंत्रिमंडलों ने अक्टूबर १९३९ में इस्तीफा दे दिया। इसका बुनियादी शिक्षा के विकास पर बहुत बुरा असर पड़ा। यों तो युद्धकालीन गवर्नरी शासन में भी बुनियादी स्कूल चलते रहे; किंतु न तो उनकी विशेष प्रगति हो सकी और न अधिक विस्तार ही।

१९४३-४४ में हमारे यहां पुनः युद्धोत्तर-शिक्षा-विकास की चर्चा प्रारंभ हुई। केन्द्रीय सलाहकार बोर्ड ने एक विस्तृत युद्धोत्तर-शिक्षा-विकास की योजना का

निर्माण किया। इस योजना की अनेक विशेषताओं में एक प्रमुख विशेषता, यदि शत-प्रतिशत नहीं तो बहुत अंशों में, बुनियादी शिक्षा के सिद्धांत की स्वीकृति थी।

१९४५ में पुनः भारत के अधिकांश प्रांतों में उत्तरदायी शासन की स्थापना हुई। प्रांतीय कांग्रेसी सरकारों ने पुनः बुनियादी शिक्षा को प्रोत्साहित करने के प्रयत्न प्रारम्भ किये। १९४७ में केन्द्र में भी राष्ट्रीय सरकार की स्थापना के पश्चात् बुनियादी शिक्षा के अधिकाधिक प्रसार की आशाएं अधिक बढ़ गई। वस्तुतः इसके बाद बुनियादी शिक्षा को केन्द्रीय सरकार का समर्थन भी प्राप्त हो गया।

इसमें संदेह नहीं कि सिद्धांततः हमने कम से कम प्राथमिक अवस्था में बुनियादी शिक्षा के सिद्धांत को स्वीकार किया, पर यह भी सत्य है कि व्यवहारतः हमने इस दिशा में संतोषजनक प्रगति नहीं की है। फिर भी देश की शिक्षा को वैज्ञानिक रूप देने के प्रयत्नों को दृष्टि में रखते हुए बुनियादी शिक्षा का भविष्य पर्याप्त उज्ज्वल प्रतीत होता है।

युद्धोत्तर-शिक्षा-विकास की योजना

भारतीय शिक्षा का पिछले डेढ़ सौ साल का इतिहास अत्यधिक निराशाजनक कहा जा सकता है। उदासीनता, निराशा, गलत नीतियां, अथवा शिक्षा-सुधार के साथ खिलवाड़ इसकी मुख्य विशेषताएं रही हैं। १९३७ में गांधीजी द्वारा प्रस्तुत बुनियादी राष्ट्रीय शिक्षा की योजना, हमारे सरकारी और सार्वजनिक मस्तिष्क के लिए पहला झटका थी। इसके अतिरिक्त, सार्वभौम लोकशिक्षा की दिशा में दूसरा और दृढ़ कदम केन्द्रीय शिक्षण-सलाहकार बोर्ड द्वारा तैयार की गई युद्धोत्तर-शिक्षा-विकास की योजना है, जिसे कि संक्षेप में सार्जेंट-योजना भी कहा जाता है। १९४४ में यह योजना प्रकाशित हुई। सर जान सार्जेंट उस समय भारत-सरकार के शिक्षण-सलाहकार थे और इस योजना के प्रमुख प्रेरक।

वास्तव में यह योजना भारतीय शिक्षा के क्षेत्र में पहला विस्तृत प्रयत्न है जिसमें पूर्व प्रारंभिक शिक्षा से लेकर विश्वविद्यालय तक की समस्त शिक्षा-समस्याओं की एक व्यवस्थित पड़ताल, मूल्यांकन, समाधान और साथ ही उनके समस्त वित्तीय (Financial) और शासकीय (Administrative) पहलुओं को एक ठोस रूप देने का प्रयत्न है। इस योजना की एक अन्य विशेषता यह है कि यह किसी एक शिक्षाशास्त्री या सैद्धांतिक के दिमाग की उपज न होकर बहुत-से सरकारी और गैर-सरकारी गंभीर और शिक्षा का व्यावहारिक अनुभवप्राप्त व्यक्तियों के श्रम का परिणाम है। वास्तव में इसके निर्माण में केंद्रीय

बोर्ड द्वारा समय-समय पर नियुक्त अन्यान्य उपसमितियों की रिपोर्टों से पूरी सहायता ली गई है और उन्हें सम्मिलित रूप प्रदान करने की चेष्टा की गई है।

इस बात से इस योजना के समर्थक और विरोधी सभी सहमत हैं कि भारतीय शिक्षण-पद्धति को साहस और दूरदर्शिता से समग्र रूप में देखने तथा उसे अन्य प्रगतिशील देशों के समकक्ष लाने के उद्देश्य से यह प्रथम व्यवस्थित प्रयास है।

इस योजना के प्रमुख लक्षणों, विशेषताओं अथवा कमियों की विवेचना और समालोचना करने से पहले योजना में अन्तर्हित कुछ मुख्य बातों को ध्यान में रखना आवश्यक है। पहले यह कि यह योजना संयुक्त भारत को दृष्टि में रखकर बनाई गई थी। दूसरे, इसमें केवल उस समय विद्यमान ब्रिटिश भारत का ही समावेश था, देशी रियासतें इसके दायरे से बाहर थीं। तीसरे, इसमें प्रयुक्त जनसंख्या के आंकड़े और अंदाज १९४१ की जनगणना-रिपोर्ट के आधार पर थे। इस भांति वर्तमान भारत, किंतु जिसमें देशी राज्यों का एकीकरण हो चुका है, तथा आज की जनसंख्या तथा मूल्य-स्तर को दृष्टि में रखकर उसमें आवश्यक परिवर्तन करने होंगे।

सार्जेन्ट-योजना के प्रधान लक्षण

१. **सार्वभौम निःशुल्क प्रारंभिक शिक्षा.** योजना में पांच या छः साल की उम्र से लेकर १४ साल की उम्र तक के लगभग ६० लाख लड़के-लड़कियों के लिए साक्षरता और नागरिकता की अल्पतम तैयारी के लिए निःशुल्क शिक्षा की व्यवस्था है, जिसे निम्न बेसिक (६–११) और उच्च बेसिक (११–१४) दो भागों में बांट दिया गया है।

२. **तीन से छः साल की उम्र के बच्चों की पूर्व प्रारंभिक शिक्षा.** अनिवार्य रूप से स्कूल में जाने की उम्र से पहले छोटे बच्चों की शिक्षा के लिए नर्सरी स्कूल तथा कक्षाओं की व्यवस्था इसकी अन्य विशेषता है। बच्चों के स्वास्थ्य तथा उन क्षेत्रों में जहां घरों की अवस्था शोचनीय है, यह बहुत आवश्यक है।

३. **चुने हुए बच्चों के लिए माध्यमिक शिक्षा.** जो बच्चे माध्यमिक शिक्षा प्राप्त करने की योग्यता रखते हैं उनके लिए माध्यमिक अथवा हाईस्कूल शिक्षा-की व्यवस्था करना इसका उद्देश्य है। आयोजकों की राय में लगभग २० प्रतिशत छात्र ही इस श्रेणी के अन्दर आ सकेंगे। माध्यमिक शिक्षा के लिए विद्यार्थियों के रुझान और रुचियों को तथा विभिन्न पेशों के लिए आवश्यक मांग को ध्यान में रखते हुए स्कूलों के रूप और पाठ्यक्रम में पर्याप्त विविधता रखी जायेगी।

इसके अतिरिक्त कोई विशेष क्षमताप्राप्त लड़का या लड़की निर्धनता के कारण शिक्षा से वंचित न रह जाये, इसका ध्यान रखते हुए मुफ्त पढ़ाई तथा छात्रवृत्ति की व्यवस्था होगी।

४. **चुने हुए विद्यार्थियों के लिए विश्वविद्यालय-शिक्षा.** यद्यपि विश्वविद्यालय की शिक्षा के लिए योग्य विद्यार्थियों की संख्या का निर्धारण कठिन है, फिर भी सामान्यतः १५ माध्यमिक शिक्षाप्राप्त छात्रों में से एक छात्र विश्व-विद्यालय शिक्षा के लिए योग्य समझा जायेगा। इसके लिए हमें पर्याप्त कठोर परीक्षा की व्यवस्था करनी होगी ताकि निकम्मे लोगों की विश्वविद्यालयों में भरमार न हो।

५. **टेक्नीकल, व्यापारिक और कला की शिक्षा.** उद्योग और व्यापार की आवश्यकताओं के अनुसार, टेक्नीकल, व्यापारिक और कला के शिक्षण की व्यवस्था करना भी योजना का एक उद्देश्य है।

६. **प्रौढ़-शिक्षा.** १० साल से ४० साल के आयु-वर्ग के लगभग ९० लाख प्रौढ़ों, जिसमें स्त्री-पुरुष दोनों सम्मिलित हैं, की शिक्षा की व्यवस्था और इस प्रकार २० वर्ष में निरक्षरता का उन्मूलन भी योजना का एक अंग है।

७. **अध्यापकों की ट्रेनिंग.** योजना को कार्यान्वित करने के लिए लगभग २२,१७,७३३ अध्यापकों की आवश्यकता होगी, जिसमें से २० लाख नानग्रेजुएट होंगे। उसमें से ३३,३३३ पूर्व-प्रारंभिक स्कूलों के लिए, ११,९६,२०० निम्न बेसिक ६२५,५६० उच्च बेसिक तथा ८१,३२० अध्यापकों की हाई स्कूल के निम्न विभाग के लिए जरूरत होगी। शिक्षा में योग्य व्यक्तियों को आकर्षित करने के लिए उपयुक्त वेतन की व्यवस्था की गई है। ग्रेजुएट अध्यापकों की ट्रेनिंग के लिए तीन प्रकार के ट्रेनिंग स्कूल सुझाये गये हैं—(१) पूर्व-प्रारंभिक अध्यापक, (२) बेसिक अध्यापक, (३) हाई स्कूल के नानग्रेजुएट अध्यापक। बेसिक अध्यापकों की ट्रेनिंग के लिये तीन साल तथा अन्यों के लिए दो साल की अवधि रखी गई है।

८. **अनिवार्य शारीरिक शिक्षा और डाक्टरी परीक्षा.** बच्चों के स्वास्थ्य की उन्नति और रक्षा के लिए शारीरिक शिक्षा, डाक्टरी परीक्षा तथा चिकित्सा-व्यवस्था पर योजना में विशेष जोर देते हुए स्कूल मेडिकल सर्विस के लिए ७,५००० डाक्टरों तथा १५,००० नर्सों की नियुक्ति का सुझाव दिया गया है।

९. **रोजगार-ब्यूरो की स्थापना.** विद्यार्थियों को विभिन्न पेशों की शिक्षा में से चुनाव व तत्संबंधी सलाह, मार्ग-दर्शन तथा उनकी शिक्षा के पश्चात् उन्हें कार्य दिलवाने के लिए एक रोजगार-ब्यूरो होगा।

१०. **शारीरिक और मानसिक अपाहिजों की शिक्षा.** जो व्यक्ति जन्म, अंग-हानि, अथवा मानसिक दोष के कारण शिक्षा और जीविका की सुविधाओं से वंचित रहे हैं, उनकी शिक्षा की व्यवस्था भी योजना के अन्तर्गत है।

११. **सक्षम शासकीय संगठन का सूत्रपात.** वर्तमान शिक्षा-संगठन में सुधार भी इस योजना का एक अंग है। इसमें केन्द्र और प्रांतों की शिक्षा-नीति के अधिक केन्द्रीकरण और एकीकरण का सुझाव दिया गया है तथा शिक्षा को केन्द्रीय और प्रांतीय सरकारों का प्रमुख दायित्व बताया गया है।

१२. **चालीसवर्षीय शिक्षा-योजना.** रिपोर्ट के अनुसार भारत की समस्त शिक्षण-आवश्यकताओं को पूरा करने में लगभग ४० वर्ष की आवश्यकता होगी। पहले पांच साल तो आयोजन, प्रचार आदि, विशेषतः अध्यापकों की ट्रेनिंग के लिए जरूरी संस्थाओं के जुटाने में ही लग जायेंगें। बाकी ३५ वर्ष का समय सात पंचवर्षीय योजनाओं में विभक्त होगा जिसमें कि एक अथवा कई क्षेत्रों को लिया जायेगा।

१३. **क्षेत्रानुसार (Areawise) विकास.** योजना का एक अन्य लक्षण देश में शिक्षा का क्षेत्रानुसार विकास है। चूंकि अध्यापकों तथा अर्थ के अभाव में सारे देश में एक साथ पूरी योजना लागू नहीं की जा सकती, इसलिए अपने साधनों के अनुसार एक के बाद एक अधिक उपयुक्त क्षेत्र को चुनना होगा।

१४. **३१३ करोड़ वार्षिक व्यय.** योजना को चलाने के लिए लगभग ३१३ करोड़ रुपये वार्षिक व्यय की आवश्यकता पड़ेगी। अभी तक सरकार द्वारा शिक्षा पर व्यय किये जानेवाली रकम की तुलना में यह रकम असाधारण रूप से अधिक होगी।

सार्जेन्ट-योजना की समालोचना

एक ओर सामान्य रूप से जहां पर सार्जेन्ट-योजना का स्वागत हुआ, वहां दूसरी ओर उसकी कुछ बातों को लेकर कठोर आलोचना भी हुई है। इन आलोचनाओं को हम दो भागों में बांट सकते हैं—एक तो वह जो कि योजना की कुछ कमियों अथवा छूटों की ओर संकेत करती है तथा दूसरी वह जिनका कि योजना की किसी मौलिक बात से ही मतभेद है।

पहली श्रेणी में इस प्रकार की आलोचनाएं हैं—योजना में अन्तर्हित आदर्शों और नीतियों का ब्योरेवार विवेचन नहीं किया गया है ; सक्रियता द्वारा शिक्षा के सिद्धांत की ठीक प्रकार व्याख्या नहीं की गई है; धार्मिक शिक्षा की महत्त्वपूर्ण समस्या का कोई निर्देश नहीं है, लड़कियों की शिक्षा की विशेष आवश्यकताओं का विवेचन नहीं हुआ है, इत्यादि।

निस्संदेह यह बातें महत्त्वपूर्ण हैं, किंतु इस संबंध में यह याद रखना जरूरी है कि इस प्रकार की सामान्य शासकीय योजना में, न तो आदर्शों तथा विधियों की बहस में जाना उचित ही है और न संभव ही। और फिर कुछ सामाजिक, सांस्कृतिक, राजनैतिक और आर्थिक प्रस्थापनाएं तो योजना में अन्तर्हित हैं ही। एक अच्छी समालोचना का कार्य उन प्रस्थापनाओं का विवेचन कर उनकी पृष्ठभूमि और सारता पर प्रकाश डालना है। जहां तक धार्मिक शिक्षा का प्रश्न है, वह छूट अस्थायी है।

वास्तव में योजना की समालोचना में वह आलोचनाएं विशेष महत्त्व रखती हैं जिनका कि योजना के मौलिक आधारों से ही मतभेद है। इस श्रेणी में आने-वाली आलोचना को हम तीन भागों में बांट सकते हैं—(१) यह योजना राष्ट्रीय नहीं है, (२) इसकी लागत असाधारण है, (३) इसके पूर्ण रूप में कार्यान्वित होने की अवधि अनुचित रूप से लम्बी है। आगे हम संक्षेप में इन आपत्तियों पर विचार करेंगे।

१. अराष्ट्रीय योजना

एक पहलू. एक राष्ट्रीय शिक्षा-पद्धति के लिए आवश्यक है कि वह उस राष्ट्र की परम्परा, संस्कृति, आदर्शों और आकांक्षाओं से उद्भूत हो। इस दृष्टि से इस योजना में भारतीय परम्परा की सर्वथा उपेक्षा की गई है। उदाहरणार्थ, प्रौढ़-शिक्षा की चर्चा करते हुए उस शिक्षा को वास्तविक और व्यावहारिक बनाने के लिए चित्रों, कलात्मक तथा अन्य वस्तुओं, मैजिक लालटेन, ग्रामोफोन और रेडियो का जिक्र किया गया है, किन्तु भारत में पूर्व-प्रचलित प्रौढ़-शिक्षा के सुलभ साधनों—कथा, कीर्तन और भजन को आधुनिक युग की आवश्यकताओं के अनुरूप सुधारने और ढालने और अपनाने का कहीं जिक्र भी नहीं है।

१८३५ में मैकाले का यह मत था कि भारतीय भाषाएं पाश्चात्य ज्ञान के प्रसार के माध्यम के लिए अनुपयुक्त हैं। आज सौ से अधिक साल बाद सार्जेन्ट-योजना भी इसी कल्पना पर आधारित प्रतीत होती है। इस योजना से प्रचलित शिक्षा की समस्त बुराइयों के कायम रहने की ही नहीं, बल्कि कुछ बढ़ने की भी आशंका है। एक शिक्षा-योजना, जिसके अन्तर्गत एक विदेशी भाषा उच्च शिक्षा का माध्यम मानी गई हो, कदापि राष्ट्रीय शिक्षा-पद्धति नहीं कही जा सकती। इंग्लैंड की शिक्षा-पद्धति बहुत कुछ वैसी ही है जिसका कि खाका सार्जेन्ट-योजना में दिया गया है। यदि फ्रेंच अथवा जर्मन को इंग्लैंड में उच्च शिक्षा के माध्यम के रूप में अपना लिया जाय तो क्या अंग्रेज जनता उसे राष्ट्रीय कहने के लिए तैयार

होगी ? अतः हम किसी भी प्रकार सार्जेन्ट-योजना को राष्ट्रीय करार नहीं दे सकते।

दूसरा पहलू. उपर्युक्त आक्षेप के उत्तर में भी बहुत कुछ कहा जा सकता है। यदि हम ध्यानपूर्वक योजना का अध्ययन करें तो हमें ज्ञात होगा कि इस योजना में कोई ऐसी बुनियादी बात नहीं है जिसे कि हमारे राष्ट्रीय हितों अथवा विचार-धारा के विरुद्ध कहा जा सके। निस्संदेह यह योजना बहुत-से अन्य देशों की प्रगति-शील शिक्षा-योजनाओं से बहुत बातों में मिलती-जुलती है, किंतु क्या इस बिना पर इसे समाजविरोधी अथवा अराष्ट्रीय कहना उचित होगा ? आज के शीघ्र यात्रा और विचारों एवं व्यक्तियों के बढ़ते हुए अन्तर्राष्ट्रीय सम्पर्क की सुविधाओं को देखते हुए राष्ट्रीय संस्कृतियों की पृथक्ता बहुत कुछ नष्ट होती जा रही है और एक ऐसी सामान्य भूमि तैयार होती जा रही है जहां पर सभी विभिन्न संस्कृतियां समान रूप से सम्मिलित हो सकती हैं। चाहे गहरी विचारात्मक शक्तियां कितनी ही भिन्न क्यों न हों, यदि विभिन्न देशों के शिक्षण-संगठन में पर्याप्त सादृश्य दिखाई दे, तो इसमें कोई आश्चर्य या दुःख की बात नहीं है।

आलोचकों की इस बात में अवश्य बड़ा वजन है कि कालिजों और विश्वविद्यालयों में विदेशी भाषा शिक्षा का माध्यम नहीं होनी चाहिए। देशी भाषाओं को उच्च शिक्षा का माध्यम बनाने में अनेक कठिनाइयां होने के बावजूद भी इस स्थिति में सुधार हो सकता है और होना चाहिए। किंतु इस मसले को योजना का एक बुनियादी लक्षण नहीं कहा जा सकता। क्योंकि शिक्षा-विभागों और विश्वविद्यालयों के लिए, बिना इसके ढांचे में बड़ा व्याघात पहुंचाये, शिक्षा के उचित माध्यम को अपनाना संभव है। इन तथ्यों को देखते हुए यह कहा जा सकता है कि विस्तृत अर्थों में योजना का सामान्य रुझान राष्ट्रीय ही है।

२. योजना की लागत असाधारण है

१९४४ में ब्रिटिश भारत में हमारा प्रतिव्यक्ति शिक्षा-व्यय लगभग ८ आने वार्षिक था, जब कि योजना में लगभग १० रु० वार्षिक व्यय करने का प्रस्ताव है। क्या शिक्षा पर ३१३ करोड़ वार्षिक व्यय भारत जैसे निर्धन देश के लिए संभव है ? यह योजना इस कल्पना पर आधारित है कि भारत सरकार और जनता शिक्षा को राष्ट्रीय समृद्धि और कल्याण का सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण अंग समझेगी। किंतु अभी तक के अनुभव को देखते हुए यह हठात् परिवर्तन यथार्थवादी नहीं कहा जा सकता। जहां तक योजना की लागत का संबंध है यह कहा जा सकता है कि उसने भारतीय जनता की आर्थिक और सामाजिक स्थिति को ध्यान में नहीं रखा है और इसलिए इस योजना की सराहना और

सम्मान तो किया जा सकता है किंतु इसे व्यावहारिक नहीं कहा जा सकता। अवश्य ही ऐसा कहनेवालों को विकृतमना और निराशावादी कहा जायेगा, पर इसमें संदेह नहीं कि योजना की लागत पर बिना समुचित, सूक्ष्म और गंभीर विचार किये उसे चालू कर देना, हमें भीषण कठिनाई में डाल सकता है। राष्ट्र-निर्माण की योजनाओं में अतिआशावादी होने से सावधान होना अधिक उचित है। यहां यह निर्देश करना अप्रासंगिक न होगा कि महात्मा गांधी ने अपनी बुनियादी शिक्षा की योजना में इस लागत के पहलू को भलीभांति ध्यान में रखा था। भारत-जैसे निर्धन देश में जहां करोड़ों आदमी भूखे और नंगे हैं, यदि रुपया प्राप्त भी हो, तो उसे विभिन्न मदों में अति सावधानी से व्यय करना होगा। इसलिए हमें किसी भी शिक्षा-योजना की सार्थकता पर विचार करते हुए उसकी लागत के पहलू पर सर्वप्रथम विचार करना होगा। हमें तथ्यों का मुकाबिला करना होगा। केवल खामख्याली और कल्पना से संतुष्ट होने से काम न चलेगा।

इस दृष्टि से यदि हम योजना पर दृष्टि डालें तो हमें इस खेदजनक परिणाम पर पहुंचना होगा कि इसकी लागत असाधारण रूप से अधिक और भारत-जैसे निर्धन देश द्वारा वहन किये जाने में सर्वथा असम्भव है। यही नहीं, योजना में व्यय के जो अनुमान दिये गये हैं उनका आधार भी ठीक नहीं है। उदाहरणार्थ, उसमें ब्रिटिश भारत की जनसंख्या के जिन आंकड़ों का प्रयोग किया गया है, वह १९४० की सार्वजनिक स्वास्थ्य कमिश्नर की रिपोर्ट पर आधारित है। यदि उनका आधार १९४१ की जनगणना की रिपोर्ट को बनाया जाता तो योजना की लागत १४३ लाख रुपये अर्थात् लगभग ५ प्रतिशत और अधिक बढ़ जाती। इसके अतिरिक्त योजना में योजना प्रारम्भ होने और उसके समाप्त होने के ४० साल के बीच के समय में होनेवाली जनसंख्या-वृद्धि का कोई ध्यान नहीं रखा गया है। योजनाओं के निर्माताओं के लिए १९८५ के लगभग की जनसंख्या के अनुमान को लेना आवश्यक था। जनसंख्या-वृद्धि के लिए केवल योजना में दी ३० करोड़ की रकम पर्याप्त नहीं कही जा सकती। इसलिए यदि हम इस काल में होने-वाली जनसंख्या-वृद्धि को भी अपनी गणना में लें तो योजना की लागत और भी अधिक हो जायगी।

लागत के इस पहलू को देखते हुए यह आवश्यक हो जाता है कि हम ऐसे रास्ते ढूंढ़ने का प्रयत्न करें जिनसे कि उसमें पर्याप्त कमी की जा सके। इस बड़ी लागत को बिना शिक्षा-प्रसार की गति को कम किये, किस प्रकार प्रायः आधा किया जा सकता है, इस संबंध में निम्न सुझाव दिये गये हैं:—

१. आठ वर्ष के स्थान पर केवल ५ वर्ष अर्थात् ६ से ११ वर्ष तक की आयु के लिए ही अनिवार्य शिक्षा की व्यवस्था की जाय।

२. योजना में प्रस्तावित हर शिक्षक के नियंत्रण में औसतन २५ या ३० विद्यार्थी रखने के स्थान में उनकी संख्या ५० या ६० कर दी जाय। इसके लिए मानीटर या मद्रास पद्धति का सहारा लिया जाय।

३. बच्चों की दस्तकारी शिक्षा को माता-पिता, वर्कशाप और कारखानों के जिम्मे छोड़ दिया जाय।

४. अध्यापकों के लिए प्रस्तावित वेतन में कुछ कमी कर दी जाये।

उपर्युक्त सुझावों में से पहले दो सुझाव अवश्य विचारणीय हैं। संसार के अनेक प्रगतिशील राष्ट्रों में अनिवार्य शिक्षा प्रारम्भ में केवल ४ या ५ वर्ष की अवधि को ही लेकर चली है। अतः यदि हम भी उसे पांच वर्ष से प्रारम्भ करें और बाद में अपने साधनों के अनुसार उसे बढ़ाते रहें तो विशेष अनुचित न होगा।

माता-पिता, वर्कशाप और कारखानों द्वारा दस्तकारी की शिक्षा देने का प्रस्ताव, अधिक व्यावहारिक और उचित नहीं है। अधिकांश माता-पिता यह काम वैज्ञानिक रीति से नहीं कर सकते तथा वर्कशाप और कारखानों में छोटे-छोटे बच्चों को दस्तकारी शिक्षा देना उचित नहीं कहा जा सकता और न ही विद्यमान वर्कशाप या कारखाने इस दायित्व को अपने ऊपर ले सकते हैं।

अध्यापकों के वेतन में किफायत का अंतिम प्रस्ताव केवल हानिकर ही सिद्ध हो सकता है। आप अध्यापकों को बिना भरपेट भोजन और सभ्य जीवन की अल्पतम आवश्यकताएं पूरी किये उनसे अपने कार्य में मनोयोग देने की आशा नहीं कर सकते। बलिदान की भावना एक महान् वस्तु है, किंतु आप एक वर्ग पर उसे जबर्दस्ती नहीं लाद सकते। इसलिए अध्यापकों के वेतन में कमी कर योजना की लागत को कम करने का प्रयत्न बहुत ही गलत कहा जायेगा।

निस्संदेह लागत व्यय को अधिक से अधिक कम करने के रास्ते खोजने चाहिएं, किंतु प्रस्तावित व्यय असंभव कह देने से समस्या हल नहीं हो जाती। अभी तक हमारी शिक्षा-नीति का उद्देश्य सस्तापन रहा है और इससे हमारी शिक्षा का स्तर ही सस्ता हो गया है। यदि हम एक समुचित शिक्षा-व्यवस्था चाहते हैं, तो हमें अन्य देशों की भांति उस पर आवश्यक राशि खर्च करनी ही होगी।

चूंकि हम आज या आज से चालीस वर्ष बाद लगभग २७५ करोड़ वार्षिक नहीं खर्च कर सकते, अतः हमें इस योजना को नहीं स्वीकार करना चाहिए, यह युक्ति विशुद्ध आर्थिक दृष्टिकोण से तो सही कही जा सकती है,

किंतु यह वह दृष्टिकोण नहीं है जिससे कि राष्ट्रों का निर्माण होता है। वास्तव में केवल आर्थिक हौवे को सर्वशक्तिमान् समझ देश-निर्माण की कोई योजना सफल नहीं हो सकती। प्रबल आवश्यकता और उसके लिए साधन जुटाने की उत्कट लगन स्वयं उसकी सफलता की जमीन तैयार करते हैं। इसलिए हमारे सामने पहला काम एक ऐसी योजना बनाना होना चाहिए जो कि हमारे देश के योग्य हो, और फिर यह सरकार का कार्य है कि वह उसे कार्यान्वित करने के लिए आवश्यक साधन जुटाये। 'अपने कपड़े के अनुसार अपना कोट काटो' एक चिर सम्मानित अंग्रेजी कहावत है, किंतु ध्यान से इस पर विचार किया जाये, तो इसे सदैव बुद्धिमत्तापूर्ण नहीं कहा जा सकता। यदि प्रत्येक व्यक्ति अपनी आवश्यकता और नाप के अनुसार अपना कोट न बनाये, तो उनका यह कार्य मनोरंजक अवश्य हो सकता है, बुद्धिमत्तापूर्ण नहीं कहा जा सकता। समझदारी इसी में है कि हम अपनी आवश्यकतानुसार कोट अथवा यहां पर धन जुटायें और अपनी आवश्यकतानुसार कपड़े सिलवायें। इसी बात को सर मारिस ग्वायर ने बहुत अच्छी तरह व्यक्त किया है, "अभी तक भारत की निर्धनता, कुछ न करने के लिए एक अच्छा बहाना रही है, किंतु किस भांति राष्ट्रीय संपत्ति को बढ़ाया जा सकता है, जब तक जो इसका सृजन करते हैं, उन्हें शिक्षा, जो कि उन्हें इसके लिए समर्थ बनाती है, न दी जाए।" वास्तव में भारत की गरीबी और अशिक्षा एक अच्छा खासा दुष्चक्र है। वह गरीब है क्योंकि उसकी जनता अशिक्षित है, वह अशिक्षित है क्योंकि वह गरीब है। आखिर इस दुष्चक्र का अन्त करना ही होगा और अज्ञान के किले को ढाहना ही होगा। इसलिए सरकार को अपने विद्यमान साधनों में से पहले दस वर्षों के लिए अपेक्षतया कम धन, वह जो जुटा सकती है, जुटाना चाहिए और इसी बीच उसे आर्थिक और औद्योगिक विकास की नीति को अपना देश की सम्पत्ति में शीघ्र और पर्याप्त वृद्धि करनी चाहिए, ताकि शिक्षा के लिए आगे आवश्यक धन प्राप्त हो सके।

३. प्रस्तावित समय बहुत लम्बा है!

योजना के अनुसार समस्त भारत की शिक्षण-आवश्यकताओं की पूर्ति में लगभग ४० वर्ष का समय लगेगा। इतनी लम्बी अवधि निश्चित करने का मुख्य कारण योजना को कार्यान्वित करने के लिए अपेक्षित अध्यापकों की वृहत् सेना के पाने और तैयार करने की कठिनाई है। उदाहरणार्थ यह अनुमान लगाया गया है कि ३० विद्यार्थी प्रतिअध्यापक के औसत से हमें १९४० की जनसंख्या के आधार पर ही केवल बेसिक प्राइमरी स्कूलों में १८ लाख

अध्यापकों की आवश्यकता होगी। यह अध्यापक कम से कम मैट्रिक पास होंगे और फिर यह भी अनुमान है कि मैट्रिक पास लोगों में से लगभग ३५ प्रतिशत ही अध्यापक बनने के लिए योग्य अथवा तैयार होंगे और इस रफ्तार से सारे देश में शिक्षा-प्रसार में ४० वर्ष लग जाना स्वाभाविक है।

योजना में यह मान लिया गया है कि जो व्यक्ति मैट्रिक नहीं है और ट्रेनिंग प्राप्त नहीं है, वह अध्यापक नियुक्त न होगा। अब यह प्रश्न उठना स्वाभाविक ही है कि क्या हर अवस्था के लिए २-३ साल की ट्रेनिंग-प्राप्त मैट्रिक अध्यापकों को ही नियुक्त करना जरूरी है ? क्या कुछ उन लोगों को भी, जो दुर्भाग्य से मैट्रिक में फेल हो गये हैं, कुछ ट्रेनिंग दे अध्यापकों का काम नहीं लिया जा सकता ? क्या सीनियर बेसिक कोर्स पास में से कुछ लोग, जूनियर बेसिक स्कूलों में अध्यापक नियुक्त नहीं किये जा सकते ? क्या शुरू में बिना ट्रेनिंग-प्राप्त लोग नियुक्त नहीं किये जा सकते और फिर धीरे-धीरे उन्हें ट्रेनिंग नहीं दी जा सकती अथवा उनकी जगह ट्रेनिंग-प्राप्त लोग नहीं नियुक्त किये जा सकते ? क्या २-३ साल की ट्रेनिंग सर्वथा आवश्यक है ? क्या उसे खूब मेहनत करा पर्याप्त कम, ३ महीने या ६ महीने का नहीं किया जा सकता ? क्या प्रतिअध्यापक ३० विद्यार्थियों का औसत आज की स्थिति को देखते हुए ठीक है ? क्या उसमें पर्याप्त वृद्धि नहीं की जा सकती ?

संक्षेप में उक्त प्रश्नों का निम्न उत्तर दिया जा सकता है :—

वास्तव में जिन देशों ने जन-शिक्षण की योजनाओं को अपनाया है, उन्होंने प्रायः प्रारम्भ में आदर्श योग्यता-प्राप्त अध्यापकों का आग्रह नहीं किया है। अतः हमें भी कम से कम प्रारम्भ में आदर्श से नीचे उतरने में संकोच नहीं होना चाहिए। मैट्रिक परीक्षा की सफलता के साथ कोई विशिष्ट पवित्रता नहीं जुड़ी हुई है और न ही उसमें सफलता या असफलता को पढ़ाने की योग्यता का विश्वस्त मानदंड माना जा सकता है। स्पष्ट ही मैट्रिक के समस्त अनुत्तीर्ण छात्रों को मूर्ख नहीं कहा जा सकता। उनमें से लगभग ५० प्रतिशत अवश्य ऐसे निकल आयेंगे जिन्हें हम बेसिक प्राइमरी स्कूलों में पढ़ाने के लिए ले सकते हैं। जो लोग सीनियर बेसिक कोर्स पास कर चुके हैं, उनमें से काफी ऐसे होंगे जो कि मैट्रिक पास जैसे ही अच्छे अध्यापक सिद्ध हो सकेंगे। इसलिए हम यह मान सकते हैं कि सीनियर बेसिक कोर्स पास अनेक लोग जूनियर बेसिक स्कूलों में अध्यापक नियुक्त किये जा सकेंगे। यदि हम इनमें मैट्रिक फेल लोगों की संख्या जोड़ दें तो हमें शायद मैट्रिक पास ३५ प्रतिशत लोगों के बराबर संख्या अवश्य मिल जायगी। इसका सीधा अर्थ हुआ कि अध्यापकों की प्राप्ति की अवधि

इस भांति आधी हो जायेगी। इसके अलावा शुरू में बिना ट्रेनिंग-प्राप्त अध्यापकों की नियुक्ति से कोई विशेष हानि न होगी। २-३ साल की ट्रेनिंग को घटाकर पर्याप्त कम, ६ महीने और साल भर किया जा सकता है। प्रतिअध्यापक औसतन ३० विद्यार्थियों में सरलतया ५० प्रतिशत वृद्धि की जा सकती है। यह संशोधन स्वयं अपेक्षित अध्यापकों की संख्या में एक-तिहाई कमी तथा स्वतः ही योजना-काल में उतनी ही और कमी करने में सहायक होगा।

उपर्युक्त संशोधनों को स्वीकार कर इस योजना के कार्यान्वित होने के काल में पर्याप्त, अधिक नहीं तो ५० प्रतिशत, कमी अवश्य की जा सकती है। बावजूद इन संशोधनों के हमारी शिक्षण-व्यवस्था उस समय के इंग्लैंड और अमरीका से कम अच्छी न रहेगी, जब कि वह स्वयं ऐसी अवस्था में से गुजर रहे थे। इसलिए व्यावहारिक दृष्टि से इन संशोधनों की स्वीकृति उचित कही जायेगी।

निस्संदेह इन संशोधनों को स्वीकार कर योजना की अवधि में पर्याप्त कमी की जा सकती है, किंतु हमें यह भी न भूलना चाहिए कि अवधि में कमी करने के लिए हमें योजना की लागत को बढ़ाना होगा। बिना लागत बढ़ाये यह नहीं हो सकता। इसलिए जो लोग अत्यधिक लागत की शिकायत करते हैं, वह साथ ही साथ लम्बी अवधि की शिकायत नहीं कर सकते।

४. क्षेत्रानुसार विकास का सिद्धान्त ठीक नहीं.

सारे देश में इस योजना को एक साथ कार्यान्वित कर देना संभव नहीं, इस कारण पहले कुछ विशिष्ट क्षेत्रों में उसके बाद धीरे-धीरे अन्य क्षेत्रों में योजना को विस्तृत करना चाहिए। योजना का यह सुझाव सर्वथा अनुचित और अव्यावहारिक है। क्या यह दूसरे शब्दों में, कुछ क्षेत्रों का अन्य क्षेत्रों पर अनुचित प्रभुत्व स्थापित करने अथवा शिक्षा में साम्राज्यवाद के प्रवेश का अच्छा उदाहरण नहीं है? क्षेत्र के चुनाव में भेद-भाव तथा कठिनाई उपस्थित होना सर्वथा स्वाभाविक है। एक क्षेत्र की अपेक्षा दूसरे क्षेत्र का चुनाव, क्षेत्रगत ईर्ष्या और घृणा को बढ़ाने का एक अच्छा साधन होगा। इसके अतिरिक्त एक क्षेत्र की तुलना में दूसरे क्षेत्र का चुनाव अनेक सामाजिक विरोधों को जन्म देगा। इस प्रकार हमारे यहां शिक्षा का असंतुलित विकास होगा। अतः कोई भी व्यक्ति सार्जेन्ट-योजना के इस पक्ष का समर्थन नहीं कर सकता।

इस आक्षेप के उत्तर में कहा जा सकता है कि अपेक्षित अध्यापकों के अभाव में योजना को कार्यान्वित करने का यही एकमात्र व्यावहारिक मार्ग है। इसके प्रत्युत्तर में आलोचकों का कहना है, कि अध्यापकों की कमी, अवश्य उनके लक्ष्य

की प्राप्ति में बड़ी बाधा है, किन्तु इसका एक हल किया जा सकता है, वह यह कि कुछ क्षेत्रों में एक साथ आठ साल की अनिवार्य सार्वभौम शिक्षा को शुरू करने के स्थान में, प्राप्त अध्यापकों की संख्या के अनुसार, कुछ प्रारम्भिक कक्षायें ही, सारे देश में एक साथ खोली जायें। पर इसके साथ भी एक और समस्या है, वह यह कि यदि हम केवल दो या तीन वर्ष तक सारे देश के बच्चों को एक साथ शिक्षा भी दे सकें, और उसे आगे तक जारी न रख सकें, तो हमारी दी हुई शिक्षा भी बहुत अंश में व्यर्थ जायेगी। अल्प शिक्षा द्वारा पुनः निरक्षरता पर लौट जाना एक सुपरिचित तथ्य है। बावजूद इसके योजना के क्षेत्रानुसार शिक्षा-प्रसार के सिद्धान्त में संशोधन की आवश्यकता है।

योजना का महत्त्व

कुछ बातों पर योजना की कठोर आलोचना तथा उसकी अनेक कमियों और त्रुटियों के बावजूद इस बात से इन्कार नहीं किया जा सकता कि सार्जेन्ट-योजना भारतीय शिक्षा के इतिहास में एक महान् घटना है, एक महत्त्वपूर्ण रचना है। इस योजना की तीन मुख्य विशेषताएं हैं:—

१. **समान सुविधाएं जुटाने का प्रयास.** योजना की सबसे प्रमुख विशेषता शिक्षा के क्षेत्र में समान सुविधाएं जुटाने, या कम से कम, उसके जुटाने के मार्ग को प्रशस्त करने की चेष्टा है। यों तो सरकार द्वारा सार्वभौम प्राथमिक शिक्षा के दायित्व को स्वीकार किया जाना, कोई आश्चर्य की बात नहीं है, पर इसी दायित्व को उठाने में एक लम्बे समय तक सरकार आनाकानी करती रही है। योजना ने स्पष्ट शब्दों में इस दायित्व को केन्द्रीय और प्रांतीय सरकारों के कंधे पर डाला है तथा इस बात पर भी विशेष बल दिया है कि इस क्षेत्र में समानता की सुविधा का अर्थ केवल निःशुल्क शिक्षा ही नहीं है, किन्तु निर्धन छात्रों के लिए उन समस्त अवस्थाओं का जुटाना है, जैसे मध्याह्न भोजन, डाक्टरी परीक्षा, चिकित्सा, किताबों, छात्रवृत्ति अथवा भरण-पोषण, भत्तों की व्यवस्था, जिनसे कि समान सुविधाएं व्यावहारिक रूप धारण करती हैं। जान सार्जेन्ट ने ठीक ही कहा है, "एक अधपेट और किसी भी शारीरिक कष्ट से पीड़ित बच्चे को पढ़ाने का प्रयत्न केवल समय और धन की बर्बादी ही कहा जा सकता है।" योजना में इस बात की व्यवस्था है कि माध्यमिक स्कूलों में ५० प्रतिशत छात्रों को मुफ्त शिक्षा मिलनी चाहिए तथा कालिजों, विश्वविद्यालयों और टेक्नीकल संस्थाओं में छात्रवृत्ति और आर्थिक सहायता की उदार व्यवस्था होनी चाहिए।

निस्संदेह यह सब कदम सामाजिक न्याय द्वारा अपेक्षित शिक्षा-सम्बन्धी

समानता को पूरे अर्थों में समान नहीं बना देते, क्योंकि अभी भी सम्पन्न माता-पिता के बच्चे की तुलना में एक गरीब माता-पिता के बच्चे को पर्याप्त कठिनाई रहेगी। किन्तु वर्तमान स्थिति की तुलना में, जिसमें कि ८० प्रतिशत बच्चों को शिक्षा का कोई भी अवसर प्राप्त नहीं है, उक्त प्रस्ताव एक महान् प्रगति कहे जा सकते हैं। और उनमें से भी जो कि स्कूल जाते हैं, अधिकांश स्थायी साक्षरता प्राप्त करने से पहले ही उसे छोड़ने को बाध्य होते हैं। इस प्रकार आज देश की अधिकांश व्यावहारिक, साहित्यिक, वैज्ञानिक और कलात्मक प्रतिभा और योग्यता यों ही विनष्ट हो जाती है। उक्त योजना के कार्यान्वित होने पर हम इस भीषण हानि को रोक सकेंगे तथा जनता के समस्त वर्गों की योग्यता और दक्षता को विकसित कर सकेंगे।

२. **अध्यापक वर्ग का उचित सम्मान.** योजना की अन्य प्रमुख विशेषता अध्यापक वर्ग को उचित सम्मान, केवल अध्यापन के पेशे की पवित्रता और उच्चता में शाब्दिक सहानुभूति व्यक्त कर ही नहीं, किन्तु उनकी सेवाओं के लिए उचित पुरस्कार को स्वीकार कर, प्रदान करना है। भारत में अनादिकाल से शिक्षक वर्ग का बड़ा सम्मान रहा है, किन्तु पिछले १०० वर्षों में उसका जो पतन हुआ है, वह सर्वविदित है। यह पेशा आज उन निकम्मे और अयोग्य लोगों का अड्डा बन गया है, जो कि अन्य सब नौकरियों से निराश होकर, इसमें प्रविष्ट होते हैं। हम इन्हें और अच्छे शिक्षकों को भी जो वेतन दे रहे हैं, वह उनका पेट भरने भर के लिए भी पर्याप्त नहीं है। यह एक बड़ा कारण है जिसने अध्यापकों के आत्मसम्मान और आत्मविश्वास को नष्ट कर दिया है। योजना में अध्यापकों के अल्पतम वेतन की व्यवस्था की गई है, यद्यपि इसे भी संतोषजनक नहीं कहा जा सकता। पर फिर भी इसमें संदेह नहीं कि यह विद्यमान वेतन-स्तर में बड़ा सुधार है।

योजना में प्रस्तावित वेतन-व्यय कुल व्यय का ७० प्रतिशत भाग है। इससे बहुत-से अनुदार वित्तशास्त्रियों और 'यथार्थवादियों' की अक्ल चकरा गई है। किन्तु इस तथ्य से इन्कार नहीं किया जा सकता कि अध्यापकों को अच्छे और संतोषप्रद जीवन की अल्पतम सुविधायें जुटाए बिना, शिक्षा-सुधार के समस्त प्रयत्न अर्थहीन, प्रवंचक और असफल होंगे। अतः प्रस्तावित वेतन-क्रम का कार्यान्वित करना अपरिहार्य है। इसका परिणाम अध्यापक के सम्मान में वृद्धि के अतिरिक्त, संकीर्ण आर्थिक दृष्टि से भी अच्छा होगा। सारे देश में अध्यापकों के वेतन के रूप में वितरित की जानेवाली विपुल राशि देश में वस्तुओं की मांग को बढ़ा क्या उत्पादन को प्रोत्साहित न करेगी?

३. शिक्षा को समाज-आर्थिक जीवन से संयुक्त करने का प्रयास. अन्ततः, इस योजना की अन्य प्रमुख विशेषता शिक्षा को बुद्धिमत्तापूर्वक देश के सामाजिक और आर्थिक जीवन की आवश्यकताओं से घनिष्ठतया संयुक्त करने का प्रयत्न है। हम सभी जानते हैं कि अभी तक हमारी शिक्षा एक ही लीक पर चलती रही है। वह कोरी किताबी और साहित्यिक रही है। न तो उसने विद्यार्थियों की विभिन्न रुचियों और न ही राष्ट्रीय जीवन की आवश्यकताओं पर ध्यान दिया है। इस योजना में प्रस्तावित पाठ्य-क्रम और संगठन शिक्षा को अधिक व्यावहारिक तथा गांवों की आवश्यकताओं से सम्बद्ध करेगा, शिक्षा को एक टेक्नीकल और पेशेगत झुकाव प्रदान करेगा तथा उच्च टेक्नीकल शिक्षा को कालिज और विश्वविद्यालयों के समकक्ष स्थान दिलायेगा। निःसन्देह यह शिक्षा देश की मांग को पूरा करने में अधिक समर्थ होगी।

सार्जेन्ट-योजना के बाद

केन्द्रीय और प्रांतीय दोनों ही सरकारों ने सार्जेन्ट-योजना पर विचार किया। अन्ततोगत्वा भारत सरकार ने, वित्तीय (financial) सीमितताओं को ध्यान में रखते हुए, रिपोर्ट के सिद्धांतों और ध्येयों को स्वीकार किया। १९४४ में उसने प्रांतीय सरकारों से योजना में वर्णित लाइन पर युद्धोत्तर पंचवर्षीय योजनाएं बनाने को कहा। दो वर्ष केन्द्रीय सरकार की स्वीकृति से उन्हें कार्यान्वित करने की अनुमति दी गई। इन युद्धोत्तर पंचवर्षीय प्रांतीय विकास-योजनाओं के निम्न प्रमुख लक्षण थे:—

१. अध्यापकों के वेतन में पर्याप्त वृद्धि।

२. प्रारम्भ में ६ से ११ वर्ष के आयु वर्ग में आनेवाले बच्चों की बेसिक शिक्षा की व्यवस्था और बाद में उसका ११-१४ वर्ष के आयु-वर्ग में विस्तार।

३. विश्वविद्यालय-शिक्षा में सामान्य सुधार।

४. टेक्नीकल शिक्षा, वैज्ञानिक और अन्वेषण-कार्यकी अधिक सुविधाएं जुटाना।

सार्जेन्ट-योजना में प्रस्तावित ४० वर्ष की अवधि को बहुत अधिक समझा गया अतः केन्द्रीय सरकार ने एक १६ वर्षीय योजना स्वीकृत की। वित्तीय और अन्य व्यावहारिक कारणों से सरकार को ८ वर्ष की बुनियादी शिक्षा को ५ वर्ष की करने के लिए बाध्य होना पड़ा। यह सही दिशा में प्रयत्न था।

शिक्षा-विकास की उचित आर्थिक-व्यवस्था के लिए बी० जी० खेर की अध्यक्षता में एक वित्तीय समिति नियुक्त की गई। इसकी प्रमुख सिफारिशें निम्न थीं:—

१. केन्द्रीय और प्रांतीय राजस्व (Revenues) का एक निश्चित अनुपात,

केन्द्रीय का १० प्रतिशत तथा प्रांतीय का २० प्रतिशत शिक्षा के लिए निर्धारित होना चाहिए ।

२. शिक्षा का लगभग ७० प्रतिशत व्यय प्रांतीय सरकारों, जिनमें कि स्थानीय बोर्डों (bodies) का समावेश है, द्वारा होना चाहिए, और बाकी ३० प्रतिशत केन्द्रीय सरकार द्वारा ।

३. प्रांतीय और केन्द्रीय सरकार द्वारा स्वीकृत समस्त व्यय आय-कर से मुक्त होने चाहिए ।

पंचवर्षीय योजना में शिक्षा

भारत की प्रथम पंचवर्षीय योजना में आर्थिक विकास के साथ-साथ शिक्षा इत्यादि गैर-आर्थिक समस्याओं को भी स्थान दिया गया है। वास्तव में किसी भी आयोजन में शिक्षा का महत्त्वपूर्ण स्थान है । पंचवर्षीय योजना में यह स्वीकार किया गया है कि देश की आवश्यकताओं को देखते हुए प्राप्त शिक्षा की सुविधाएं सर्वथा अपूर्ण और असंतोषजनक हैं। १९४९-५० में ६ से ११ साल की आयु तक के ४० प्रतिशत, ११-१७ साल की आयु तक के १० प्रतिशत तथा १७ से २३ साल तक की आयु तक के ०.९ प्रतिशत बच्चों और तरुणों को शिक्षा की सुविधा प्राप्त थी। देश में कुल १७.२ जनसंख्या साक्षर थी । गांवों और शहरों तथा विभिन्न वर्गों के बीच शिक्षा का वितरण और व्यवस्था बहुत ही दोषपूर्ण है ।

भारत में शिक्षा-विकास के लिए वित्त-व्यवस्था-समिति ने ६ से १४ साल तक की उम्र के १०० प्रतिशत, उनमें से २० प्रतिशत के लिये हाई स्कूल तथा हाई स्कूल पास करनेवालों में से १० प्रतिशत के लिये विश्वविद्यालय-शिक्षा जुटाने के लिये प्रतिवर्ष ४०० करोड़ रुपये के व्यय का अंदाज लगाया है। बावजूद पर्याप्त वृद्धि के १९४९-५० में शिक्षा पर हमारा कुल व्यय केवल १०० करोड़ रुपए था। पंचवर्षीय योजना में पांच साल में शिक्षा-विकास के लिये कुल १५१.६६ करोड़ (केंद्र के लिए ३५.०२ करोड़ और राज्यों के लिए ११६.६४ करोड़) अर्थात् ३०.३३ करोड़ वार्षिक की व्यवस्था की है, जो १९४९-५० में केन्द्र और राज्य-सरकारों के १९.५५ करोड़ व्यय से ५५ प्रतिशत अधिक है ।

योजना के पूरा होने के पश्चात्, अर्थात् १९५६ तक यह आशा की जाती है कि ६ से ११ वर्ष की उम्र के ६० प्रतिशत बच्चों को शिक्षा की सुविधाएं दी जा सकेंगी। इनमें लड़कियों का अनुपात १९५०-५१ के २३.३ प्रतिशत की तुलना में १९५५-५६ में ४० प्रतिशत होगा ।

सामाजिक शिक्षा के क्षेत्र में १४ से ४० साल की उम्र के ३० प्रतिशत व्यक्तियों को सामाजिक शिक्षा के लाभ प्राप्त हो सकेंगे। विश्वविद्यालय-शिक्षा के लिये कोई लक्ष्य निर्धारित नहीं किए गए हैं, क्योंकि यहां पर समस्या विस्तार की न होकर पुनर्संगठन की है।

दूसरे शब्दों में, वर्तमान प्राथमिक स्कूल के छात्रों की संख्या में २५ प्रतिशत, जूनियर बेसिक स्कूलों में ८१ प्रतिशत तथा माध्यमिक स्कूलों में ३२ प्रतिशत वृद्धि होगी। ११ से १७ साल के स्कूल जानेवाले बच्चों का अनुपात १९५०-५१ में १०.८ प्रतिशत था, जो १९५५-५६ में बढ़कर १३.३ प्रतिशत हो जायेगा। इस प्रकार हम देखते हैं कि पंचवर्षीय योजना की समाप्ति पर भी हम सार्वभौम शिक्षा की दृष्टि से बहुत प्रगति नहीं कर पायेंगे। हमारे अधिकांश बच्चे तब भी शिक्षा की सुविधाओं से वंचित रहेंगे। समस्त देशवासियों को शिक्षा की सुविधाएं प्रदान करने के लिए हमें अपने शिक्षा-विकास की दर में पर्याप्त वृद्धि करनी होगी।

तीसरा अध्याय

निर्धनता और जनसंख्या

सामाजिक सुरक्षा और कल्याण की आर्थिक स्थिति पर निर्भरता. किसी देश की आर्थिक स्थिति 'और उस देश के नागरिकों को प्राप्त सुरक्षा और उनके कल्याण की अवस्था में घनिष्ठ सम्बन्ध है। वास्तव में समाज की आर्थिक समृद्धि ही उसकी सुरक्षा और कल्याण की बुनियाद रखती है। समृद्ध और सम्पन्न समाज अपने नागरिकों में शिक्षा-प्रसार, उनकी स्वास्थ्य-रक्षा और चिकित्सा का समुचित प्रबन्ध कर सकता है, बीमारी, बुढ़ापे, बेकारी, दुर्बलता, वैधव्य, अनाथपन इत्यादि जोखिमों के विरुद्ध सुरक्षा की आवश्यक व्यवस्था कर सकता है। इसके विपरीत निर्धन समाज अपने नागरिकों के लिये भरपेट भोजन, तन ढकने को सामान्य वस्त्र और रहने के लिये साधारण घरों की व्यवस्था भी नहीं कर सकता। शिक्षा, स्वास्थ्य-रक्षा और सामाजिक सुरक्षा के प्रबन्ध की तो वह कल्पना भी नहीं कर सकते। इसी के परिणाम-स्वरूप उन देशों में अज्ञान, भुखमरी, बीमारी की प्रबलता होती है। केवल यही नहीं, निर्धनता से सामाजिक विघटन की अवस्था उत्पन्न होती है और लोग अपराधों की ओर अग्रसर होते हैं। इस प्रकार हम देखते हैं कि किसी भी समाज की सुरक्षा और कल्याण बहुत कुछ उसकी आर्थिक स्थिति पर निर्भर है।

राष्ट्रीय आय आर्थिक स्थिति का मापदण्ड. किसी देश की आर्थिक स्थिति को जानने का एक अच्छा साधन उस देश की राष्ट्रीय आय है। राष्ट्रीय आय किसी देश में साल भर में हुए उत्पादन और सेवाओं का मूल्य है। किसी देश की राष्ट्रीय आय को आंकते समय हम उत्पादन-यन्त्रों की घिसाई को उसमें से निकाल देते हैं। एक अन्य दृष्टिकोण के अनुसार किन्हीं देशवासियों द्वारा साल भर उपभोग में व्यय की जानेवाली रकम राष्ट्रीय आय है। हम किसी भी परिभाषा को स्वीकार करें, इससे इस बात में अन्तर नहीं पड़ता कि किसी देश की राष्ट्रीय आय उस देश की आर्थिक स्थिति के मापने का अच्छा मापदण्ड है। कुल राष्ट्रीय आय के द्वारा हम उस देश के रहनेवालों की प्रतिव्यक्ति राष्ट्रीय आय निकाल सकते हैं और उसकी सहायता से उनकी निर्धनंता और समृद्धि का अंदाज लगा सकते हैं।

अधिक समान वितरण द्वारा कल्याण में वृद्धि. केवल प्रतिव्यक्ति राष्ट्रीय आय भी हमें किसी देश की वास्तविक आर्थिक स्थिति का ठीक-ठीक परिचय नहीं दे सकती, इसके लिये हमें विभिन्न वर्गों में उसके वितरण की जानकारी होना भी जरूरी है। राष्ट्रीय आय के वितरण के प्रकार का किसी समाज की सामाजिक सुरक्षा और कल्याण पर विशेष प्रभाव पड़ता है। संक्षेप में हम इतना कह सकते हैं कि उपयोगिता ह्रास नियम के अनुसार एक अमीर आदमी की तुलना में एक गरीब आदमी के लिये एक रुपये की अधिक उपयोगिता है, या दूसरे शब्दों में, वह उस एक रुपये के व्यय से अधिक तृप्ति प्राप्त करता है। इससे यह निर्विवाद परिणाम निकलता है कि विभिन्न वर्गों में राष्ट्रीय आय का अधिक समान वितरण सामाजिक सुरक्षा और कल्याण की वृद्धि में अधिक योग दे सकता है।

भारत की निर्धनता

भारत की विद्यमान प्रतिव्यक्ति राष्ट्रीय आय से हम उसकी आर्थिक स्थिति का अंदाज लगा सकते हैं। नीचे हम कुछ प्रमुख देशों की प्रतिव्यक्ति आय दे रहे हैं। प्रतिव्यक्ति आय के यह अनुमान १९४९ के हैं। पिछले चार सालों में विभिन्न देशों की आर्थिक स्थिति में विशेष अन्तर नहीं पड़ा है। अतः यह आंकड़े एक काफी सही तस्वीर दे सकते हैं।

देश	**आय रुपयों में**
भारत	२७३
चीन	१३५
जापान	५००
इंग्लैण्ड	३,८६५
रूस	१,५४०
अमरीका	७,२६५
जर्मनी	१,६००

औसत मुद्रा-आय रहन-सहन के दर्जे का भ्रांत माप. डा० वी० के० आर० वी० राऊ के अनुसार १९३९ में हमारी प्रतिव्यक्ति राष्ट्रीय आय ६२ रुपये थी, १९४९ में वह २७३ रु० हो गई। इस प्रकार हमारी औसत आय में असाधारण वृद्धि हो गई है। किन्तु यह वृद्धि हमारी आर्थिक समृद्धि को सूचित नहीं करती। आर्थिक समृद्धि का अंदाज केवल रुपयों की वृद्धि से नहीं लगाया जा सकता, बल्कि उनके द्वारा खरीदी जानेवाली वस्तुओं और सेवाओं से। इस दृष्टि से पिछले १४ सालों में हमारी प्रतिव्यक्ति राष्ट्रीय आय रुपयों में

जिस अनुपात से बढ़ी है, वस्तुओं और सेवाओं की कीमतें उससे कहीं अधिक अनुपात में बढ़ गई हैं ।

आय का असमान वितरण. जैसा कि हम पहले बता चुके हैं कि किसी देश की प्रतिव्यक्ति राष्ट्रीय आय से हमें उसके जन-साधारण के रहन-सहन का ठीक परिचय नहीं मिलता । राष्ट्रीय आय का बड़ा भाग अल्पसंख्यक सेठ-साहूकारों, पूंजीपतियों और किरायाखोरों के पास चला जाता है । अतः सामान्य जनता का जीवन-स्तर औसत से कहीं अधिक नीचा होता है । भारत में आय के वितरण के सम्बन्ध में बहुत साल पहले के० टी० शाह ने एक प्रयत्न किया था । आज भी इस स्थिति में विशेष अन्तर नहीं आया है और उन आंकड़ों द्वारा हम भारत में वितरण की असमानता का अंदाज लगा सकते हैं। यदि हमें राष्ट्रीय आय के १०० रुपये को १०० व्यक्तियों में बांटना हो, तो उनका वितरण बहुत कुछ इस प्रकार होगा:—

३३ रु० पूंजीपतिवर्ग के १ सदस्य के पास जायेंगे,

३३ रु० मध्यमवर्ग के ३३ सदस्यों के पास जायेंगे, और बाकी

३४ रु० ६६ कमकरों को मिलेंगे ।

इस प्रकार समाज के दो-तिहाई सदस्यों को औसत आय का आधा अंश ही प्राप्त होता है; जब कि १ प्रतिशत व्यक्ति एक-तिहाई से अधिक राष्ट्रीय सम्पत्ति का उपभोग करते हैं ।

भारत की निर्धनता. भारत की प्रतिव्यक्ति राष्ट्रीय आय और उसके असमान वितरण से हम भारत की गरीबी का अंदाज लगा सकते हैं। हमारे देश की अधिकांश जनसंख्या, भोजन, कपड़े और मकान की प्राथमिक आवश्यकताओं को भी पूरा नहीं कर पाती । उसे भरपेट और पौष्टिक भोजन नहीं मिलता । जाड़े में उनके पास ठंड से बचने के लिये साधारण कपड़े भी नहीं होते । वह प्रायः गांवों में मिट्टी के कच्चे घरों में अथवा शहरों की घनी, तंग और गंदी बस्तियों में रहते हैं। यहां स्वच्छ हवा और रोशनी की उचित व्यवस्था नहीं होती । परिणामतः हमारी अधिकांश जनता दुर्बल और रोगी होती है, उसकी कार्यक्षमता बहुत कम होती है । उसे शिक्षा और संस्कृति के साधन प्राप्त नहीं होते, कठिनाई में किसी प्रकार की सामाजिक सुरक्षा नहीं मिलती ।

प्रधान सामाजिक समस्या. यदि हम यह कहें कि निर्धनता भारत की सबसे प्रधान सामाजिक समस्या है तो कोई अत्युक्ति न होगी । इस समस्या के समाधान पर हमारा सामाजिक सुख, सुरक्षा और कल्याण निर्भर है । अतः

भारत में कल्याणकारी राज्य के आकांक्षियों के लिये निर्धनता के कारणों की जांच और उन्हें शीघ्र नष्ट करने का कार्य सबसे प्रमुख हैं।

निर्धनता के कारण और लक्षण

भारतीय निर्धनता को दूर करने के उपायों को ढूंढ़ने के लिये उसके विशिष्ट कारणों की जानकारी आवश्यक है। इनमें से अधिकांश कारण ऐसे हैं जो कि किसी भी निर्धन या अविकसित देश पर लागू होते हैं। इसके अतिरिक्त, यह विभिन्न कारण बहुत कुछ एक दूसरे से घनिष्ठतया सम्बद्ध हैं तथा बहुत दशाओं में मूल कारण न होकर परिणाम या अविकसित अर्थ-व्यवस्था के लक्षण कहे जा सकते हैं।

१. **पूंजी के संचय की कम दर** (Low rate of capital formation). किसी भी देश की आर्थिक प्रगति का मुख्य साधन उस देश की पूंजी के संचय की दर है। यह पूंजी का संचय स्वयं उस देश के प्रतिघंटा-उत्पादन, मजदूरी की दर और राष्ट्रीय स्तर पर निर्भर है। जिन देशों की राष्ट्रीय आय अधिक होगी, सामान्यतः उन देशों के लिये अधिक मात्रा में पूंजी का संचय और उत्पादन-कार्यों में उसका लगाना संभव होगा। निर्धन देशों में सामान्य आवश्यकताओं को पूरा करने के लिए भी अपर्याप्त आय होने के कारण पूजी की बचत बहुत कठिन हो जाती है। फिर यह बचत भी अनिवार्यतः और सदैव उत्पादन में नहीं लगाई जाती। ऐसी स्थिति में उत्पादन, रोजगार और राष्ट्रीय आय तीनों ही का परिमाण कम हो जाता है।

कुछ अर्थशास्त्रियों ने हिसाब लगाकर बताया है कि सामान्यतः उत्पादन में पूंजी के विनियोग (Investment) और राष्ट्रीय आय की वृद्धि में २·१ का अनुपात है। इस प्रकार यदि हम देश के विनियोग में १०,००० करोड़ की वृद्धि करते हैं तो उससे राष्ट्रीय आय में प्रतिवर्ष ५,००० करोड़ रुपये की वृद्धि हो जायेगी।

भारत-जैसे अविकसित देशों की आर्थिक प्रगति के मार्ग में पूंजी का कम विनियोग सबसे बड़ी बाधा है। इसके लिये अधिक आन्तरिक बचत अथवा विदेशी ऋण या सहायता से प्राप्त पूंजी को उत्पादन-कार्यों म लगाना आवश्यक है।

२. **अनुत्पादक संचय.** सब प्रकार के धन की बचत आर्थिक समृद्धि और प्रगति में सहायता नहीं पहुंचाती। इसके लिये उसका उत्पादन-कार्य में लगाना अनिवार्य है। भारत में राष्ट्रीय आय को देखते हुए कुल धन की बचत कम नहीं कही जा सकती। लेकिन इस सारी बचत का प्रयोग उत्पादन में नहीं होता,

उसका काफी हिस्सा केवल संत (Hoard) कर, गाड़कर अथवा सोने-चांदी के जेवरों में परिवर्तित कर रख लिया जाता है। इस प्रकार यह पूंजी निष्क्रिय पड़ी रहती है। कुछ अर्थशास्त्रियों का अनुमान है, हमारे यहां सोने और चांदी की संचित राशि का मूल्य ७०० करोड़ रुपये से कम नहीं है। राष्ट्रीय आय में वृद्धि करने के लिये निष्क्रिय बचत को तत्काल आर्थिक क्रियाओं में लगाना जरूरी है।

३. **कृषि और प्राथमिक उद्योगों पर अनुचित निर्भरता.** सुविधा की दृष्टि से विभिन्न आर्थिक क्रियाओं—उद्योगों को प्राथमिक (Primary), माध्यमिक (Secondary) और त्रैयिक (Tertiary) तीन श्रेणियों में बांटा जा सकता है। प्राथमिक उद्योगों में कृषि, मछली पकड़ना और लकड़ी काटना, माध्यमिक उद्योगों में पक्के माल और मकानों के निर्माण, और त्रैयिक उद्योगों में व्यापार, यातायात, सेवाओं तथा बैंकिंग का समावेश है। विभिन्न उद्योगों में लगी जनसंख्या का अनुपात उस देश की आर्थिक स्थिति पर जबर्दस्त प्रभाव डालता है। प्रसिद्ध संख्याशास्त्री कालिन क्लार्क आर्थिक प्रगति और आर्थिक ढांचे का सूक्ष्म अध्ययन कर इस परिणाम पर पहुंचे हैं कि प्रतिव्यक्ति औसत उच्च आय सदा त्रैयिक उद्योगों में लगी जनसंख्या के अधिक अनुपात से जुड़ी हुई है। इसके विपरीत, जिन देशों में अधिक जनसंख्या का अनुपात प्राथमिक उद्योगों में लगा हुआ है, वह गरीब हैं। सं० रा० अमरीका, कनाडा, इंग्लैण्ड, आस्ट्रेलिया और न्यूजीलैण्ड में लगभग आधी तथा अन्य औद्योगिक योरोपीय देशों में ३३ प्रतिशत जनसंख्या त्रैयिक उद्योगों में लगी हुई है। भारत में यह अनुपात केवल १७.७ प्रतिशत है।

इससे यह स्पष्ट है कि कृषि तथा अन्य प्राथमिक उद्योगों पर अधिकांश भारतीय जनता का लगा होना उसकी निर्धनता का एक बुनियादी कारण है, जिसका संबंध हमारी अर्थ-व्यवस्था के ढांचे से है। प्राथमिक से माध्यमिक और माध्यमिक से त्रैयिक उद्योगों में अधिकाधिक अनुपात में जनसंख्या का स्थानान्तरण आर्थिक प्रगति का क्रम है। इस प्रकार भारत के आर्थिक पुनर्निर्माण के लिये यह आवश्यक है कि हमारी जनसंख्या के अधिक से अधिक अनुपात को पक्के माल और इमारतों के निर्माण, व्यापार, यातायात और सेवाओं में लगाया जाये। हमारी ६८.२ प्रतिशत जनसंख्या कृषि पर निर्भर है। यह निर्भरता हमारी आर्थिक प्रगति के मार्ग में बड़ी बाधा है। देश के आर्थिक स्तर को उन्नत करने के लिए हमें उसमें से बड़ी संख्या को माध्यमिक और त्रैयिक उद्योगों में लगाना होगा।

४. **बुनियादी उद्योगों की कमी.** किसी देश में उद्योगों का प्रसार उस देश की आर्थिक प्रगति का परिचायक है। पिछले सौ सालों में हमारे देश में विभिन्न

उद्योगों का विकास हुआ है। विशेषरूप से प्रथम महायुद्ध के अन्त से लगाकर द्वितीय महायुद्ध के प्रारम्भ तक तो पर्याप्त औद्योगिक उन्नति हुई है। पर इस उन्नति की यह विशेषता है कि यह सामान्यतः चीनी, कपड़े जैसे उपभोग्य वस्तुओं (Consumer goods) के उत्पादन तक ही सीमित रही है। मशीनों और भारी रसायनों जैसे बुनियादी उद्योगों की हमारे यहां सर्वथा उपेक्षा हुई है। देश की स्थायी और बढ़ती हुई आर्थिक उन्नति के लिये, बुनियादी उद्योगों की शीघ्र और अधिकाधिक स्थापना जरूरी है। इन नये उद्योगों की स्थापना से बहुत-से लोगों को काम मिलेगा और देश की आय में पर्याप्त वृद्धि हो सकेगी। बुनियादी उद्योगों की स्थापना एक प्रकार से आर्थिक उन्नति की आधारशिला है जिसके ऊपर एक समृद्ध समाज का निर्माण होता है।

इन तथ्यों को देखते हुए बुनियादी उद्योगों के विकास को उद्योगीकरण की किसी भी योजना में प्राथमिकता मिलनी चाहिए। इन उद्योगों में अधिक जोखिम, या कम लाभ प्राप्त होने के कारण, सामान्यतः पूंजीपति आने से झिझकते हैं। ऐसी स्थिति में यह आवश्यक हो जाता है कि सरकार स्वयं इस कार्य को अपने हाथ में ले। मुनाफा-वृत्ति पर निर्भर हो देश की आर्थिक उन्नति की उपेक्षा नहीं की जा सकती।

५. **परिवहन** (Transport) **और संचार** (Communication) **के पिछड़े हुए साधन.** परिवहन और संचार के साधन किसी अर्थ-व्यवस्था की नाड़ियां और धमनियां हैं, जो कि उत्पादन, विनिमय और उपभोग के बीच सम्बन्ध स्थापित करती हैं। किसी भी देश की आर्थिक प्रगति के लिए अच्छी सड़कों, रेलों, मोटरों, डाक, तार, टेलीफोन की समुचित व्यवस्था होना जरूरी है। इस दृष्टि से हमारा देश अभी काफी पीछे है। परिवहन और संचार के साधनों के समुचित विकास का अभाव भी हमारी आर्थिक प्रगति में एक बाधा है।

देश के आर्थिक पुनर्निर्माण की योजना में परिवहन और संचार साधनों के विकास को उचित स्थान मिलना चाहिए।

६. **निम्न कार्यक्षमता.** केवल धन को उत्पादन में लगाना, उद्योगों की स्थापना अथवा परिवहन और संचार की सुविधाएं अथवा प्रकृति द्वारा प्राप्त आर्थिक साधन ही वहां की आर्थिक स्थिति को प्रभावित नहीं करते। उनके अलावा एक मानवीय तथ्य भी होता है---सारी आर्थिक व्यवस्था का परिचालक---वहां का श्रम और उसकी कार्यक्षमता। जिस देश के श्रमिक अधिक कार्यकुशल होते हैं, वह देश साधारण आर्थिक साधन प्राप्त होने पर भी अधिक उन्नति कर

जाते हैं। इसके विपरीत, पर्याप्त साधनप्राप्त किन्तु कम कार्यक्षमता-सम्पन्न देश अपेक्षतया निर्धन रहते हैं। किन्तु हमें यह न भूलना चाहिए कि किसी देश के श्रमिकों की कार्यक्षमता कोई स्थिर और स्थायी वस्तु नहीं है। वह परिवर्तन-शील है तथा स्वयं आर्थिक अवस्था, सामाजिक सुरक्षा तथा शिक्षा की सुविधा, स्वास्थ्य इत्यादि चीजों से प्रभावित होती है।

वर्तमान अवस्था में निस्संदेह एक भारतीय मजदूर की कार्यक्षमता अन्य उन्नत देशों के मजदूरों की कार्यक्षमता की तुलना में बहुत गिरी हुई है। पर उसमें पर्याप्त वृद्धि की जा सकती है।- अतः भारतीय मजदूर की कार्यक्षमता की उन्नति के प्रयत्न होने चाहिएं। इसके लिए सर्वप्रथम उसके उचित पोषण और स्वास्थ्य-रक्षा का प्रबन्ध होना चाहिए। साथ ही शिक्षा और सामाजिक सुरक्षा का विकास भी आवश्यक है।

७. **जनसंख्या की वृद्धि.** हम बता चुके हैं कि हमारी अधिकांश जनसंख्या अपनी जीविका के लिये खेती पर निर्भर है। पिछले तीस सालों से खेती पर निर्भर जनसंख्या के अनुपात में विशेष अन्तर नहीं पड़ा है। साथ ही हमारे खेती करने के तरीकों में कोई विशेष प्रगति नहीं हुई है। सामान्यतः एक किसान के पास एक एकड़ से ज्यादा जमीन नहीं है। कृषि में सुधार के लिए किसान के पास पूंजी का सर्वथा अभाव है। कृषि के उत्पादन के क्षेत्रफल को देखते हुए, वैसे ही कृषि के साधनों में किसी प्रकार का परिवर्तन संभव नहीं है। ऐसी स्थिति में जनसंख्या की वृद्धि, सीमित जमीन और उससे प्राप्त आय पर अधिक व्यक्तियों को निर्भर बनाती है। खेती में यों ही अत्यधिक लोग लगे हुए हैं। जब जनसंख्या-वृद्धि के परिणामस्वरूप, और अधिक व्यक्ति उसमें घुसना चाहते हैं तथा उसकी आय में साझीदार बनना चाहते हैं, तो इसका परिणाम उनकी गरीबी और कष्टों में वृद्धि ही होती है। पिछले तीस सालों से खाद्य-उत्पादन जिस अनुपात में बढ़ रहा है, जनसंख्या उससे कहीं अधिक बढ़ रही है। ऐसी स्थिति में यह आवश्यक हो जाता है कि उसका नियंत्रण हो।

देश की वर्तमान अवस्था को देखते हुए, जनसंख्या की किसी भी प्रकार की वृद्धि देश की गरीबी के बढ़ाने में ही सहायक हो सकती है। आर्थिक प्रगति के पथ पर बढ़ने के लिए यह आवश्यक हो जाता है कि एक लम्बे समय तक उसकी वृद्धि को एकदम बन्द कर दिया जाय।

८. **राज्य की आर्थिक नीति.** किसी देश के आर्थिक विकास और उसकी दिशा को निर्धारित करने में उसके राज्य की आर्थिक नीति का बड़ा हाथ होता है। बड़े पैमाने के उत्पादन, तज्जनित अन्तर्राष्ट्रीय बाजारों की स्थापना, विद्यमान

अतिजटिल आर्थिक यन्त्र, व्यापार के क्षेत्र में गलाकाट-प्रतियोगिता, और आयेदिन मुद्राओं की दर में होनेवाले हेर-फेर ने किसी देश की आर्थिक अवस्था पर वहां के राज्य की आर्थिक नीति के प्रभाव को बहुत प्रबल और कहीं-कहीं तो सर्वथा निर्णायक बना दिया है। आर्थिक पुनर्निर्माण में राज्य की सक्रिय अभिरुचि और प्रयत्नों ने गरीब और पिछड़े हुए देशों को समृद्ध और उन्नत देशों की श्रेणी में लाकर रख दिया है। सोवियत रूस इसका जीता-जागता उदाहरण है। आर्थिक विकास के प्रति उदासीन अथवा विरोधी राज्य-नीति ने, अपेक्षतया साधन-सम्पन्न देशों की आर्थिक प्रगति को सदा के लिये बन्द या मन्द कर दिया है।

अंग्रेज-अधीन नीति का दुष्प्रभाव. लम्बे अरसे तक एक साम्राज्यवादी और व्यापारिक शक्ति के अधीन रहने के कारण हमारे देश की आर्थिक नीति स्वदेश के हित में संचालित न होकर अंग्रेजी व्यापारी स्वार्थों द्वारा संचालित और निर्धारित होती रही। प्रथम महायुद्ध के पहले तक ब्रिटिश-अधीन भारत-सरकार आर्थिक मामलों में निर्हस्तक्षेप-नीति (Laissez faire) का पल्ला पकड़े रही। परिणामतः, उसने कभी भी उद्योगों की स्थापना में किसी प्रकार का संरक्षण अथवा प्रोत्साहन प्रदान नहीं किया। इसके अतिरिक्त, उसकी विनिमय-दर-नीति (Exchange Rate Policy) भारत के विरुद्ध रही। प्रायः सदा ही ब्रिटिश पौंड तथा भारतीय रुपये की विनिमय-दर निश्चित करते समय रुपये के मूल्य को अधिक रक्खा गया, जिसके परिणामस्वरूप ब्रिटिश मुद्रा में भारतीय माल महंगा और भारतीय मुद्रा में ब्रिटिश माल सस्ता रहता था। इस प्रकार भारतीय उद्योगों को विस्तार का अवसर न मिला।

प्रथम महायुद्ध के बाद निर्हस्तक्षेप-नीति में कुछ परिवर्तन हुआ और इस प्रकार अनेक आधुनिक उद्योग स्थापित हो सके, पर विनिमय-दर-नीति में कोई विशेष परिवर्तन नहीं हुआ। ब्रिटिश सरकार की आर्थिक नीति भारत के अति मन्द आर्थिक विकास के लिये बहुत अंश में उत्तरदायी रही।

वर्त्तमान नीति. १९४७ में भारत के स्वाधीन होने के बाद राज्य की आर्थिक नीति का निर्धारण अब भारतीयों के हाथ में आ गया। इस प्रकार साम्राज्यवादी स्वार्थों के चंगुल से वह छूट गई। लेकिन अभी भी वह देश के आर्थिक पुनर्निर्माण के लिये उपयुक्त है अथवा नहीं, इस विषय पर पर्याप्त मतभेद है। फिर भी इतना कहा जा सकता है कि वर्तमान सरकार ने आर्थिक पुनर्निर्माण में कुछ अभिरुचि दिखाई है; आयोजन की आवश्यकता और सिद्धान्त को स्वीकार किया है; कुछ नये उद्योगों की स्थापना का दायित्व स्वयं अपने कंधों पर लिया है तथा आर्थिक प्रगति को प्रोत्साहित करने का प्रयत्न किया

हैं। प्रथम पंचवर्षीय योजना इस दिशा में पहला कदम है। व्यक्तिगत उद्योगों से सहयोग इस योजना की आर्थिक नीति कही जा सकती है। मोटे तौर पर १९४७ से पहले ही ब्रिटिश-प्रभावित भारतीय सरकारी नीति और वर्तमान राष्ट्रीय सरकार की आर्थिक नीति में, सिवाय ब्रिटिश स्वार्थों से मुक्त होने के, कोई बुनियादी फर्क नहीं है। व्यक्तिगत उद्योगों के विकास से ही यह आर्थिक प्रगति की ओर बढ़ना चाहती है। विस्तृत आयोजन का इसमें भी अभाव है। अतः यह तो स्पष्ट ही कहा जा सकता है कि वर्तमान सरकारी आर्थिक नीति के अन्तर्गत, पूंजीपतियों की मुनाफा-वृत्ति पर आश्रित होने के कारण, आर्थिक विकास की दर मन्द ही रहेगी।

परिवर्तन की आवश्यकता

सरकार की वर्तमान आर्थिक नीति के विरोधियों का कहना है कि तेज रफ्तार से देश के आर्थिक विकास के लिये सरकार को यह ढुलमुल नीति छोड़ सार्वजनिक स्वामित्व और सहयोग के सिद्धान्त पर आधारित विस्तृत आयोजन-नीति को अपनाना चाहिए। तभी देश का कल्याण होगा।

आर्थिक आयोजन (Planning) द्वारा निर्धनता का हल

आज से पैंतीस साल पहले आर्थिक आयोजन कुछ आर्थिक विवेचकों के एक काल्पनिक स्वप्न के अतिरिक्त और कुछ न था। यहां तक कि १९३० तक अनेक अर्थशास्त्री आयोजित अर्थ-व्यवस्था को एक मजाक ही समझते रहे। किन्तु दूसरे महायुद्ध में तो आर्थिक आयोजन अर्थ-नीति का एक आवश्यक अंग बन गया। अनियन्त्रित पूंजीवाद की आर्थिक कमजोरियां, युद्ध में अपनाया गया आंशिक आयोजन, वर्त्तमान युद्धजनित भीषण बर्बादी, आर्थिक आयोजन पर अर्थशास्त्रियों की स्वीकृति, समस्त बड़े राष्ट्रों की आयोजन में बढ़ती हुई दिलचस्पी आयोजन की ओर उनकी बढ़ती दिलचस्पी के लिये जिम्मेदार हैं।

१९२८ में रूस ने अपनी प्रथम पंचवर्षीय योजना शुरू की। बारह साल में उसने आश्चर्यजनक आर्थिक प्रगति की। इस घटना ने संसार के समस्त विद्वानों और राष्ट्रों का ध्यान आयोजन की ओर आकर्षित किया। आज सभी देश किसी न किसी प्रकार के आयोजन के पक्ष में हैं। पिछड़े देशों के विकास के लिये तो आयोजन आवश्यक हो गया है।

भारत में आयोजन. भीषण मन्दी के जमाने में १९३० के आसपास हमारे यहां आर्थिक आयोजन में दिलचस्पी शुरू हुई। १९३३ में एम० विश्वेश्वरैया ने 'भारत के लिये आयोजित व्यवस्था' पुस्तक प्रकाशित की। १९३८ में कांग्रेस

ने जवाहरलाल नेहरू की अध्यक्षता में नेशनल प्लानिंग कमेटी की स्थापना की। १९३९ से १९४५ की राजनैतिक परिस्थितियों के कारण उसका कार्य प्रगति न कर सका। १९४४ में भारत के प्रमुख आठ उद्योगपतियों ने आर्थिक विकास की १५ वर्षीय योजना प्रस्तुत की जो कि बम्बई-योजना के नाम से मशहूर है। इसी समय भारत-सरकार ने विभिन्न उद्योगों के विकास के लिये विभिन्न युद्धोपरांत विकास की योजनाएं प्रकाशित कीं। १९४७ में देश के स्वतंत्र हो जाने के बाद पुनः इस ओर ध्यान दिया गया।

भारत की प्रथम पंचवर्षीय योजना

१९५० में जवाहरलाल नेहरू की अध्यक्षता में एक नेशनल प्लानिंग कमीशन की स्थापना हुई। सोलह महीने की छानबीन के पश्चात् जुलाई १९५१ में इसने अपनी प्रथम पंचवर्षीय योजना प्रकाशित की और दिसम्बर १९५२ में पुनः इसे संशोधित रूप में स्वीकार किया।

यह योजना कहां तक भारत की गरीबी की समस्या का समाधान कर सकेगी, इस पर विचार करना जरूरी है। शुरू में यह बता देना अप्रासंगिक न होगा कि यद्यपि पंचवर्षीय योजना में आयोजन के सिद्धांत को स्वीकार किया गया है, पर व्यवहार में इसका क्षेत्र, विस्तार और शक्ति बहुत ही सीमित है, जैसा कि उसके अध्ययन से स्वयं स्पष्ट होगा। इस प्रकार रूसी और भारतीय आयोजन दोनों में ही, यद्यपि 'योजना' शब्द का प्रयोग हुआ है, किन्तु वस्तुतः इन दोनों प्रकार की योजनाओं के बुनियादी ढांचे में भीषण अन्तर है।

प्रस्तावित व्यय. प्रथम पंचवर्षीय योजना की कुल लागत २,०६९ करोड़ रुपए है, जिसके व्यय का ब्योरा इस प्रकार है:—

	व्यय १९५१ से १९५६ तक	कुल व्यय का प्रतिशत (करोड़ में)
कृषि और ग्राम-सुधार	३६०.४३	१७·४
सिंचाई और शक्ति	५६१.४१	२७.२
परिवहन और संचार (Transport & Communication)	४९७.१०	२४.०
उद्योग	१७३.०४	८.४
सामाजिक सेवाएं	३३९.८१	१६.४
पुनर्स्थापन	८५.००	४.१
विविध	५१.९९	२.५
जोड़	२०६८.७८	१००

प्राथमिकताएं (Priorities). हर योजना का कुछ न कुछ महत्त्व-क्रम होता है। भारत की प्रथम पंचवर्षीय योजना की प्राथमिकताएं इस प्रकार हैं:—(१) हाथ की योजनाओं को पूरा करना; इसमें विस्थापितों का पुनर्स्थापन सम्मिलित है; (२) खाद्यान्न और कच्चे माल का उत्पादन अपेक्षतया कम समय में बढ़ाना; (३) भौतिक, यान्त्रिक विकास तथा रोजगार के क्षेत्र को विस्तृत करनेवाली योजनाओं को कार्यान्वित करना ; (४) सामाजिक सेवाओं की प्रगति को सुदृढ़ करना और उनके क्रमिक विकास की अभी से व्यवस्था करना और कम विकसित राज्यों में अधिक उत्तम शासन और सामाजिक सेवाओं में वृद्धि की व्यवस्था तथा विकास की दर में वृद्धि करना।

योजना के प्रमुख लक्षण और उनकी समालोचनाएं.

विकास की अत्यन्त कम दर. पंचवर्षीय योजना को पढ़कर जो सबसे पहली धारणा होती है वह यह कि इसके विकास की दर अत्यन्त कम तथा परम्परागत सामाजिक संस्थाओं के प्रति इसका रुख बहुत ही नरम है। इसके विनियोग (Investment) की मात्रा यदि मुद्रा में प्रकट की जाय, तो वह राष्ट्रीय आय का प्रायः ५ प्रतिशत है। सार्वजनिक मोरचे पर विनियोग, १९५०-५१ की तुलना में केवल १० प्रतिशत से कुछ अधिक है।

उद्योगीकरण की योजना नहीं. इस तरह इसे किसी भी प्रकार उद्योगीकरण का आयोजन नहीं कहा जा सकता। जो कुछ औद्योगिक विकास होगा भी, वह व्यक्तिगत उद्योग पर छोड़ दिया गया है, जो कि योजना के अन्तर्गत अपना कार्य करने में स्वाधीन होगा। इस मोरचे पर प्रस्तावित विनियोग कुल विनियोग के ९ प्रतिशत से भी कम है। यहां पर उत्पादन को उद्योगों की विद्यमान उत्पादनसामर्थ्य से अधिक बढ़ाने की कल्पना नहीं की गई है।

असंतुलित योजना. योजना ने सिंचाई और शक्ति-उत्पादन, परिवहन, सुधार और कृषि के विकास पर जो जोर दिया है, उस पर किसी को आपत्ति न होगी। १९५६ तक सिंचाई-योजनाओं में २० प्रतिशत और विद्युत्-उत्पादन में दो-तिहाई वृद्धि तथा ७५ लाख एकड़ भूमि का पुनरुद्धार प्रभावोत्पादक लक्ष्य हैं। किन्तु आश्चर्य की बात तो यह है कि आयोजन यहां पर रुक जाती है। योजना में ७० प्रतिशत धन इन्हीं कामों पर व्यय होगा। इस सम्बन्ध में यही कहना होगा कि योजना अत्यन्त असंतुलित है।

व्यक्तिगत क्षेत्रप्रधान मिश्रित अर्थ-व्यवस्था (Mixed Economy). योजना में मिश्रित अर्थ-व्यवस्था का जोरदार शब्दों में समर्थन किया गया है। उसका

स्वरूप है सार्वजनिक क्षेत्र—सार्वजनिक निर्माण-कार्य, विद्युत्-उत्पादन और परिवहन तक सीमित है; औद्योगिक उत्पादन और व्यापार पर व्यक्तिगत क्षेत्र का अधिकार होगा। जहां तक उद्योगों का सम्बन्ध है, एक या दो राज्यों को छोड़, इस क्षेत्र में "राज्य का मुख्य कार्य, फिलहाल औद्योगिक अवस्था के अनुकूल स्थिति को उत्पन्न करना है।" यहां तक कि एकाधिकार (Monopoly) से लड़ने अथवा उसके नियन्त्रण के लिये किसी राज्य-नीति का भी रिपोर्ट में उल्लेख नहीं है।

वित्तीय (Financial) पहलू पर अनुचित जोर. कमीशन की यह धारणा है कि भारत-जैसे निर्धन देश में बिना उपभोग को क्षति पहुंचाए अधिक विनियोग (Investment) नहीं हो सकता। वास्तव में किसी विकास-योजना का आधार वित्तीय बजट के बजाय, उसका मानव-शक्ति बजट होना चाहिए। भारत यद्यपि आर्थिक दृष्टि से एक बहुत निर्धन देश है, फिर भी यह अप्रयुक्त या कम प्रयुक्त श्रम-शक्ति का विशाल कोष है। जिस सीमा तक यह कोष आर्थिक विकास में लगाया जा सके, कोई मौलिक कारण नहीं कि, उस सीमा तक पहले अथवा साथ में, उपभोग में बिना कमी किये विकास न किया जा सके। ऐसे कोष के उपयोग की संभावना ही निर्माण-प्रोग्राम का असली मापदण्ड बन सकती है। यह एक बुनियादी तथ्य है, जिसकी स्वीकृति आयोजन की समस्याओं और संभावनाओं को एक नया रूप प्रदान कर देती है। रिपोर्ट ने इसकी पूर्णतया उपेक्षा नहीं की है, पर उसे नगण्य कहकर डिसमिस कर दिया है। आवश्यकता इस बात की थी कि योजना-निर्माता इस पर समुचित ध्यान देते।

परस्पर-विरोधी लक्ष्यों पर चलने का प्रयत्न. रिपोर्ट में अनेक परस्पर-विरोधी लक्ष्य दिये गये हैं, जिनमें कोई समन्वय स्थापित नहीं किया गया है। इसमें प्लानिंग कमीशन का शायद उतना दोष नहीं जितना कि उसे विचार करने के लिये दिये गये विषयों का है, जिन्होंने उसे एक साथ कई घोड़ों पर सवार होने को मजबूर किया। इसका एक कारण पारिमाणिक आंकड़ों का अभाव भी हो सकता है। परस्पर-विरोधी बातों का सबसे स्पष्ट उदाहरण एक साथ अधिक उत्पादन की वकालत तथा यह युक्ति है कि हमें श्रम घनीभूत (Intensive) को, न कि पूंजी घनीभूत तरीकों को तरजीह देनी चाहिए। इस युक्ति का परिणाम कुटीर-उद्योगों को अधिक महत्त्व प्रदान करना है, जिसका विकास, उनके अनुसार ऐसा प्रतीत होता है, जैसे कि बड़े उद्योगों के बदले ही संभव है। कमीशन ने इस संभावना पर ध्यान नहीं दिया कि

यान्त्रिक दृष्टि से उन्नत प्रक्रिया द्वारा विनियोग श्रम की वृद्धि कर सकता है, जिससे कि भविष्य में श्रम की अधिक मांग हो सकती है, जो कि अन्यथा नहीं होती। रिपोर्ट स्वीकार करती है कि कृषि का पुनर्संगठन कृषि में रोजगार को कम कर देगा, किन्तु फिर भी यह उद्योग के विकास की दर की गारन्टी नहीं करती जो कि रोजगार में क्षतिपूरक वृद्धि कर सके।

दो घोड़ों पर सवार होने का एक विशेष उदाहरण राज्य द्वारा बड़े प्राइवेट फार्मों की सहायता के साथ-साथ सहकारी फार्म-समितियों की स्थापना का सुझाव है। इन दोनों को एक जुए के नीचे जोत दिया गया है। बड़े फार्मों (तथाकथित रजिस्टर्ड फार्मों) का प्रस्ताव राज्य के संरक्षण में छोटे जमींदार वर्ग की सृष्टि करना है। आर्थिक इतिहास का यह ज्ञात तथ्य है कि यही वर्ग पूंजीवाद और परम्परा का सबसे बड़ा पोषक है।

मुख्यतः आन्तरिक साधनों पर निर्भर. आज के युग में विदेशों से बिना राजनैतिक प्रभाव के आर्थिक सहायता पाना असंभव है। वर्तमान स्थिति में किसी भी देश से बड़े पैमाने पर पूंजी का आयात भारत की स्वतंत्र वैदेशिक नीति के मार्ग में बाधक होगा। ऐसी स्थिति में हमें अपने आन्तरिक साधनों पर ही निर्भर रहना उचित है। इस तथ्य को रिपोर्ट ने अच्छी तरह समझा है। इस सम्बन्ध में यह द्रष्टव्य है कि सोवियत रूस ने भी अपनी अर्थ-व्यवस्था का पुनर्निर्माण अपने आन्तरिक साधनों से ही किया था।

जनतंत्रीय आयोजन की भ्रान्त व्याख्या. योजना में 'जनतंत्रीय' और 'सर्वेसर्वा' (Totalitarian) आयोजन के बीच एक भ्रान्त भेद किया गया है। विद्यमान सम्पत्ति-सम्बन्धों में, बिना सम्पत्तिशाली स्वार्थों की सहमति के, हस्तक्षेप न करने के अर्थों में जनतंत्रीय आयोजन का प्रयोग हुआ है। यदि कमीशन की राय में जनतंत्रीय आयोजन का यही अर्थ है, तो वह बहुत गलत है। उदाहरण के लिये, रिपोर्ट में एक जगह कहा गया है कि "जनतंत्रीय व्यवस्था का अर्थ है कि उत्पादन के पुनर्संगठन में शक्ति का कम से कम प्रयोग किया जाय।" इस वाक्य का ऐसे प्रसंग में प्रयोग किया गया है, जिसका यह अर्थ लगाया जा सकता है कि किसी प्रकार का राष्ट्रीयकरण, जब तक कि पहले स्वामी उससे सहमत न हों, नहीं हो सकता। अन्य स्थान पर खेतों के क्षेत्रफल को निश्चित करने के संबंध में, मालूम होता है ऐसा मान लिया गया है कि जनतंत्रीय परिवर्तन विद्यमान खेतों में किसी प्रकार के हस्तक्षेप के विरुद्ध है तथा उसे विद्यमान खेतों के क्षेत्रफल को निश्चित करने के विरुद्ध एक युक्ति के रूप में पेश किया जा सकता है।

कुछ महत्त्वपूर्ण कृषि-समस्याओं की उपेक्षा. योजना की कृपणता कृषि के क्षेत्र में भी प्रगट हुई है। कुछ मानों में, विशेषकर सिंचाई और भूमि-पुनरुद्धार-योजनाओं में, 'सहकारी खेती' को अंतिम लक्ष्य स्वीकार करने तथा नई उद्धार की गई भूमि पर 'राज्य-फार्मों' के शुरू करने; तथा उन्नत और घनीभूत खेती (Intensive farming) तथा खेतों की चकबन्दी में यह पर्याप्त प्रगतिशील है। किन्तु कमीशन के अन्य सुझाव लगान-नियंत्रण, शिकमी-दर-शिकमी काश्तकारों की वेदखली, निठल्ले मध्यस्थों की समाप्ति तथा भावी अधिकृत भूमि के निश्चित करने से आगे नहीं बढ़ते । प्रो० वाडिया और मर्चेंट ने निर्देश किया है—ग्राम्य-ऋणग्रस्तता-जैसी महत्त्वपूर्ण समस्या पर इसमें समुचित ध्यान नहीं दिया गया है ।

विद्यमान आर्थिक व्यवस्था की स्वीकृति. इस योजना में उस केंद्र द्वारा नियंत्रित अर्थ-व्यवस्था की कल्पना की गई है, जिसमें कि राज्य सक्रिय पार्ट अदा करता है और जिसमें व्यक्तिगत और सार्वजनिक उद्योगों में घनिष्ठ सम्पर्क पाया जाता है । चूंकि योजना में उपलब्ध पूंजी की अधिक मात्रा मुख्यत: कृषि, सिंचाई, जल-शक्ति और सार्वजनिक सेवाओं के विकास में व्यय होगी, राज्य के लिये सीधा उद्योगों में रुपया लगाना संभव न होगा । ऐसा विनियोग (Investment) यदि किया भी जाय, तो वह शीघ्र अपेक्षित नई दिशाओं अथवा उन उद्योगों के विस्तार में होना चाहिए, जो कि पहले सार्वजनिक स्वामित्व और प्रबन्ध के नीचे हैं । इस तरह व्यक्तिगत उद्योग उत्पादन और वितरण में अभी भी महत्त्वपूर्ण पार्ट अदा करेंगे । उक्त योजना उत्पादन के साधनों के व्यक्तिगत स्वामित्व और संचालन पर कोई विशेष प्रभाव नहीं डालती । राज्य अवश्य विनियोग, विदेशी व्यापार और विनिमय-नियंत्रण करेगा तथा अनिवार्य वस्तुओं के उपभोग के स्तर को संरक्षित करेगा। जब कि व्यक्तिगत उद्योगों की योजनाएं विभिन्न उद्योगों के प्रतिनिधियों से सलाह-मशविरा कर बनाई जायेंगी ।

इससे स्पष्ट है कि इस योजना का उद्देश्य समाज के वर्तमान आर्थिक ढांचे, उत्पादन और वितरण-प्रणाली में कोई महत्त्वपूर्ण परवर्तन लाना नहीं है । मॉरिस डॉब ने ठीक ही कहा है कि यह कहना भारी गलती होगी कि यह आयोजन मुक्त उद्योग (Free enterprise) की परम्पराओं से कोई महत्त्वपूर्ण विच्छेद है अथवा किसी माने में समाजवाद की किश्त है ।

निर्धनता की समस्या का समाधान नहीं. योजना में उसके पूर्ण हो जाने के बाद, अर्थात् १९५६ तक, भारतीय जनता को युद्ध से पहले, अर्थात् १९३९ के

जीवन-स्तर पर ले जाने का आश्वासन दिया गया है। १९३९ का जीवन-स्तर किसी भी माने में संतोषजनक अथवा पाने योग्य नहीं कहा जा सकता। ऐसी स्थिति में हमें यह खेदपूर्वक स्वीकार करने पर मजबूर होना पड़ता है, कि भारत की प्रथम पंचवर्षीय योजना से भारत की निर्धनता की समस्या का समाधान नहीं होता। जिस रफ्तार से इसमें आर्थिक विकास की कल्पना की गई है उस रफ्तार से तो एक अच्छे रहन-सहन के स्तर पर पहुंचने में लगभग सौ साल लग जायेंगे, और फिर उस विकास के एक बड़े भाग को हमारी बराबर बढ़ती आबादी ग्रस लेगी। ऐसी स्थिति में हमें अपनी निर्धनता की समस्या को सुलझाने के लिये अधिक क्रांतिकारी और तेज योजनाओं को अपनाना होगा। यह ठीक है कि ऐसी योजनाओं को तत्काल अमल में लाने के रास्ते में बड़ी व्यावहारिक कठिनाइयां हैं। पर उन्हें दूर करने की दिशा में सक्रिय प्रयत्न होना चाहिए।

जनसंख्या

जनसंख्या और सामाजिक कल्याण. जिस प्रकार किसी देश की आर्थिक स्थिति वहां के सामाजिक कल्याण को प्रभावित करती है, उसी भांति वहां की जन-संख्या का परिमाण और उसके गुण आर्थिक स्थिति पर स्वयं प्रत्यक्ष प्रभाव डाल, सामाजिक कल्याण को परोक्ष रूप से प्रभावित करते हैं। जनता का कल्याण सामाजिक कल्याण का प्रधान उद्देश्य है। इस सामाजिक कल्याण की वृद्धि के लिये यह आवश्यक है कि जनसंख्या का परिमाण और गुण सामाजिक आवश्यकताओं और कल्याण की वृद्धि को दृष्टि में रखकर नियंत्रित हों। इसके लिए सामाजिक समस्याओं पर विचार करते हुए जनसंख्या की समस्याओं का परिचय और अध्ययन अनिवार्य हो जाता है।

समाजशास्त्रियों और विशेषकर अर्थशास्त्रियों में इस बात को लेकर बहुत समय से बहस चल रही है कि किसी समाज के अधिकतम सामाजिक और आर्थिक कल्याण के लिये कितनी जनसंख्या का होना उपयुक्त है। जनसंख्या की समस्या पर सर्वप्रथम वैज्ञानिक रूप से विचार करनेवाले अंग्रेज पादरी माल्थस ने १७९८ में इस विषय पर एक पुस्तक प्रकाशित की जिसमें खाद्य-उत्पादन की तुलना में जनसंख्या के अत्यधिक तेजी से बढ़ने की प्रवृत्ति को दर्शाने तथा उसके नियंत्रण के अभाव में, उसकी वृद्धि का एक भयानक चित्र उपस्थित किया गया। पिछले डेढ़ सौ साल के इतिहास ने माल्थस की भयंकर भविष्यवाणी को बहुत अंशों में मिथ्या सिद्ध किया। नये अन्वेषणों ने

यह भी सिद्ध किया कि जनसंख्या की वृद्धि सदा ही विपदा, कष्ट, निर्धनता और महामारी का सूचक नहीं होती। अनेक परिस्थितियों में उसकी वृद्धि हितकर सिद्ध होती है। अतः केवल जनसंख्या की वृद्धि या ह्रास से ही हम किसी समाज की समृद्धि अथवा कल्याण का अंदाज नहीं लगा सकते। इस प्रकार जनसंख्या के एक नये और अधिक उपयुक्त सिद्धांत का प्रतिपादन किया गया जिसे सर्वोत्तम (Optimum) जनसंख्या का सिद्धांत कहते हैं। इसके अनुसार किसी समाज के लिये वही जनसंख्या सर्वोपयुक्त है जिस पर उसकी प्रति-व्यक्ति औसत आय अधिकतम होती है। इस संबंध में यह स्मरणीय है कि यह सर्वोपयुक्त सीमा कोई स्थायी चीज नहीं है। यन्त्रों और क्षमता की वृद्धि से इसमें परिवर्तन आते रहते हैं। फिर भी हम जनसंख्या की वृद्धि के साथ प्रतिव्यक्ति औसत आय के बढ़ने और घटने से यह जान सकते हैं कि आया जनसंख्या की वृद्धि हितकर है अथवा हानिकर। यदि हम संसार के विभिन्न देशों की जनसंख्या, उसके वितरण और वृद्धि की दर तथा आर्थिक स्थिति पर उसके प्रभावों का अध्ययन करें, तो ज्ञात होगा कि विभिन्न देशों में इस सम्बन्ध में कितना अन्तर है। सामान्यतः पाश्चात्य देशों की जनसंख्या निरंतर घटती जा रही है, और उसने वहां के राजनीतिज्ञों को बहुत चिन्तित कर दिया है। घटती जनसंख्या उनके लिये एक जटिल समस्या बन गई है। विवाह की वयस में वृद्धि, विवाहों की संख्या में कमी और गर्भ-निरोध (Birth Control) के साधनों का प्रयोग इस कमी का प्रमुख कारण हैं। इसके विपरीत, सामान्यतः, ऐशियाई देशों की जनसंख्या निरन्तर अबाध गति से बढ़ती जा रही है। इस वृद्धि से उन देशों की उत्पादन-क्षमता पर बुरा प्रभाव पड़ा है और इन देशों में जनसंख्या की वृद्धि एक प्रमुख आर्थिक और सामाजिक समस्या बन गई है। भारत स्वयं इसी श्रेणी में आता है।

भारत की जनसंख्या और उसके विभिन्न पहलुओं का अध्ययन सामाजिक कल्याण की किसी भी योजना के लिए सर्वथा आवश्यक है।

भारत की जनसंख्या और उसके प्रमुख लक्षण

१९५१ की अंतिम जनगणना के अनुसार भारतीय संघ की कुल जनसंख्या लगभग ३६ करोड़ १८ लाख है। इसमें स्त्रियों की संख्या लगभग ४५·५ प्रतिशत है। जनसंख्या में स्त्रियों की कमी का प्रधान कारण उचित देखभाल न होने के कारण उनकी मृत्यु-दर का अधिक होना है।

काम करनेवाली आयु के व्यक्तियों का कम अनुपात. जनसंख्या के आंकड़ों में आयु-विभाजन का भी विशेष महत्त्व है. क्योंकि उसमे किसी देश की कार्य-शक्ति का परिचय मिलता है। अन्य उन्नत देशों की तुलना में हमारे यहां बहुत ही थोड़े ऐसे व्यक्ति हैं, जो पचास साल से अधिक जीवित रहने हैं। योरोप में अक्सर एक व्यक्ति का कार्य करने का समय २० से ६० साल माना जाता है जब कि हमारे यहां यह कार्यकाल १३ मे ४० माल है। इस प्रकार कुल जनसंख्या में हमारे यहां कार्य करनेवाली जनता का अनुपात ४२ प्रतिशत बैठता है. जब कि फ्रांस में वह ५२ प्रतिशत और इंग्लैण्ड में ६२ प्रतिशत है। इसका प्रधान कारण हमारे यहां अत्यधिक शिशु और बाल-मृत्यु-दर है। हमारी जन-संख्या का एक बड़ा भाग कार्य करने की आयु में पहुंचने से पहले इस संसार से कूच कर जाता है। इस प्रकार उसके लालन-पालन पर किया गया समस्त व्यय सर्वथा बेकार जाता है। इससे यह बेहतर है कि हमारे यहां कम बच्चे पैदा हों, पर वह काम करने की आयु में अधिक से अधिक जीवित रह सकें और इस प्रकार देश के उत्पादन में योग दे सकें।

अधिक जन्म और अधिक मृत्यु-दर. किसी देश की जनसंख्या की कुल वृद्धि को जानने के लिये उसकी जन्म और मृत्यु-दर का जानना आवश्यक है। पिछले तीस सालों में भारत की जन्म और मृत्यु-दर में निरंतर कमी हुई है फिर भी पाश्चात्य औद्योगिक देशों को तुलना में भारत की जन्म और मृत्यु-दर अत्यधिक है। यदि मृत्यु-दर कुछ और कम होती, तो जनसंख्या में और अधिक वृद्धि होती। नीचे की तालिका से १९३१ से १९५१ तक जन्म और मृत्यु-दर की प्रवृत्ति का परिचय मिल सकेगा।

वर्ष	जन्म-दर (प्रति १०००)	मृत्यु-दर (प्रति १०००)	जनसंख्या-वृद्धि (प्रति १०००)
१९३१	३५	२५	१०
१९४०	३३	२२	११
१९५१	२६.६	१६.६	१०

पिछले ३० सालों में जन्म और मृत्यु दर में ह्रास. उक्त आंकड़ों से पता चलता है कि आजकल भारत में प्रतिवर्ष प्रतिहजार व्यक्तियों के पीछे लगभग २७ व्यक्ति पैदा होते और १७ व्यक्ति मरते हैं। १९३१ में यह संख्या क्रमशः ३५ और २५ थी। इस तरह प्रतिहजार व्यक्ति पीछे लगभग १० व्यक्तियों की वृद्धि है, अर्थात् जनसंख्या की वृद्धि की दर लगभग १ प्रतिशत प्रतिवर्ष है।

वृद्धि-दर में कमी नहीं. यह संतोष की बात है कि पिछले ३० वर्षों से हमारी जन्म और मृत्यु-दर बराबर कम होती जा रही है, इसका मुख्य कारण सार्वजनिक स्वास्थ्य पर अधिकाधिक ध्यान दिया जाना है। फिर भी इससे जनसंख्या की कुल वृद्धि-दर पर कोई असर नहीं पड़ा है। उसकी वृद्धि का अनुपात वही १ प्रतिशत पर टिका हुआ है। प्रजनन की वास्तविक दर में कमी होने पर भी हमारी समस्या वैसी की वैसी ही बनी हुई है।

अधिक जन्म और मृत्यु दर के कारण. हमारे यहां प्रायः सभी स्त्रियों और पुरुषों का विवाहित होना एक धार्मिक कर्त्तव्य है। इस दृष्टि से हम संसार की सबसे अधिक विवाहित जातियों में से हैं। उद्योगी देशों में विवाहित वयस की पर्याप्त जनसंख्या अविवाहित रहती है। उदाहरणार्थ भारत में १५ से ४५ वर्ष की आयु की लगभग ८० प्रतिशत स्त्रियां विवाहित हैं, जब कि इंग्लैण्ड और वेल्स में इसका अनुपात ५० प्रतिशत है, और इनमें से भी भारत में १५ से ३० वर्ष की आयु का, जिसमें कि गर्भाधान सबसे अधिक होता है, अनुपात ६४ प्रतिशत था, जब कि इंग्लैण्ड और वेल्स में वह ३३ प्रतिशत है। इसके अलावा हमारे यहां स्त्रियां पाश्चात्य देशों की तुलना में कम उम्र में ही ब्याह दी जाती हैं। आधुनिक अन्वेषणों से पता चला है कि १५ से २० साल की उम्र में गर्भाधान-दर सबसे अधिक होती है। पाश्चात्य देशों में स्त्रियां प्रायः २२-२३ साल की उम्र के बाद ब्याह करती हैं। फिर भारत में गर्भ-निरोध के साधनों का भी प्रसार नहीं है। ऐसी स्थिति में जन्म-दर का अत्यधिक होना सर्वथा स्वाभाविक है।

स्वास्थ्य-रक्षा का अभाव मृत्यु-दर का मुख्य कारण. निर्धनता, बीमारियां, अल्प और अपौष्टिक भोजन, बाल-विवाह, प्रसूतावस्था में समुचित देखभाल की कमी और गन्दगी, मुख्यतः हमारी अधिक मृत्यु-दर के लिये उत्तरदायी हैं। यद्यपि पिछले तीस सालों में इसमें निरन्तर कमी हुई है, फिर भी अन्य उन्नत देशों की तुलना में अभी भी यह अत्यधिक है।

बच्चे, प्रसूताओं तथा प्रजनन-वयस की स्त्रियों की अत्यधिक मृत्यु. हमारी मृत्यु-दर की मुख्य विशेषता एकवर्षीय बच्चों, प्रसूताओं तथा प्रजनन-वयस की स्त्रियों की अत्यधिक मृत्यु-संख्या है। हमारी बाल-मृत्यु-दर भी अत्यधिक है। लगभग एक-चौथाई बच्चे तो जन्मने के पहले वर्ष में ही मौत के मुंह में चले जाते हैं। कुल मृत्यु-संख्या का लगभग ४९ प्रतिशत भाग १० वर्ष से कम आयु के बच्चों का होता है जब कि इंग्लैण्ड में यह संख्या केवल १२ प्रतिशत है। संक्षेप में, १०० बच्चों में से २५, प्रथम वर्षगांठ से पहले ही मर जाते हैं, पांचवीं वर्षगांठ तक पहुंचते-पहुंचते ४० प्रतिशत इस संसार से चल देते हैं; बीसवीं वर्ष

गांठ तक केवल ५० प्रतिशत बाकी बचते हैं, और केवल १५ प्रतिशत ६० वीं वर्षगांठ मना पाते हैं। इस प्रकार हमें जनसंख्या-वृद्धि की एक बड़ी कीमत चुकानी पड़ती है।

जीवितों का हीन स्वास्थ्य और कार्यक्षमता. केवल जीवितों की संख्या से ही हम उनकी कार्यक्षमता का अंदाज नहीं लगा सकते। इसके लिये हमें उनके स्वास्थ्य, शिक्षा और प्राप्त सुविधाओं की ओर भी नजर डालनी होगी। इस दृष्टि से हमारी जनसंख्या की अवस्था बहुत ही निराशाजनक है। उनमें से अधिकांश जनता को आवश्यक और पौष्टिक भोजन तथा चिकित्सा की सुविधाओं के अभाव में दुर्बल और पर्याप्त समय तक रोगी रहना पड़ता है। इसके अतिरिक्त अत्यन्त गरीब होने के कारण उसे शिक्षा की भी पर्याप्त सुविधाएं प्राप्त नहीं हैं। परिणामतः हमारे जीवितों की किस्म और उनकी कार्यक्षमता बहुत ही गिरी हुई है।

कृषि पर अत्यधिक निर्भरता. किसी देश की जनसंख्या के विभिन्न देशों में लगे अनुपात के अध्ययन से उसकी आर्थिक स्थिति को समझने में बड़ी सहायता मिलती है। किसी देश की अधिक जनसंख्या की कृषि-जैसे प्राथमिक उद्योगों पर निर्भरता उसकी निर्धनता का सूचक है। इसके विपरीत, उद्योगों, यातयात, व्यापार, सेवाओं जैसे माध्यमिक और त्रैयिक उद्योगों में जनसंख्या के अधिक अनुपात का लगा होना उसकी समृद्धि का परिचायक है। १९५१ की जनगणना के अनुसार भारत की ७० प्रतिशत जनसंख्या कृषि पर निर्भर है। ३६.१ करोड़ जनसंख्या में से २४.९ करोड़ व्यक्ति कृषि तथा बाकी १०.७ करोड़ अन्य धंधों पर निर्भर हैं। ८.९५ करोड़ काम करनेवालों में से ७.१ करोड़ कृषि में, ९० लाख उद्योगों, ६० लाख व्यापार तथा स्वास्थ्य, ३० लाख शिक्षा और शासन-सेवाओं में तथा ५ लाख व्यक्ति अन्य घरेलू सेवाओं इत्यादि कार्यों में लगे हुए हैं।

भारतीय कृषि की कम उत्पादकता जनसंख्या-वृद्धि से सम्बद्ध. भारत में कृषि समृद्ध उद्योग नहीं है। कृषि में प्रतिव्यक्ति उत्पादन विभिन्न बातों पर निर्भर करता है। इसमें भूमि, पूंजी और श्रम का अनुपात, कृषि के तरीके और अन्ततः कृषि का रूप, अर्थात् कृषि का क्षेत्र और उसमें लगी पूंजी का अनुपात है। इनमें से स्वभावतः मनुष्य-भूमि का अनुपात, अर्थात् हर मजदूर के हिस्से में पड़नेवाली भूमि का क्षेत्रफल सबसे मुख्य है।

पिछले तीस सालों से कृषि पर निर्भर जनसंख्या का अनुपात प्रायः स्थिर है, किन्तु खेती के लिये प्राप्त सीमित जमीन के चाहनेवालों की संख्या में बराबर

वृद्धि होती जा रही है। इस प्रकार जमीन पर जनसंख्या का दबाव बढ़ रहा है और प्रतिव्यक्ति कम एकड़ भूमि आज खेती के लिये प्राप्त है। इस प्रकार जहां उन्नत खेती के लिए कम मजदूरों की आवश्यकता है, उसके विपरीत उनकी अधिकता, निरन्तर हमारी कृषि की उत्पादकता को कम कर रही हैं। इस प्रकार भारत में जनसंख्या की वृद्धि कृषि की गिरती हुई उत्पादकता से घनिष्ठतया सम्बद्ध है।

संक्षेप में, यह भारतीय जनसंख्या और उसकी वृद्धि के प्रमुख लक्षण हैं। जनसंख्या की भावी दर निर्धारित करने के लिए उसके रुख और संभावित भावी प्रवृत्तियों का परिचय भी आवश्यक है।

जनसंख्या का रुख

१९५३ की जनगणना-कमिश्नर-रिपोर्ट. भारत के जनगणना-कमिश्नर आर० एस० गोपालास्वामी ने नवम्बर १९५३ में भारतीय जनसंख्या पर एक महत्त्वपूर्ण रिपोर्ट भारत-सरकार को पेश की है। इस रिपोर्ट में हमारी जनसंख्या-वृद्धि और उनकी समस्याओं का अच्छा विवेचन किया गया है। जनसंख्या के रुख का विश्लेषण करते हुए रिपोर्ट में बताया गया है कि भारतीय जनसंख्या की वृद्धि में सन् १९२१ एक 'महान् विभाजक' है। १९२१ से पिछले ३० सालों में भारत की जनसंख्या में कुल १ करोड़ २२ लाख की वृद्धि हुई, जब कि १९२१ के बाद के ३० सालों में ११ करोड़ की वृद्धि हुई है।

इस भांति जब कि १८९१-१९२० के बीच जनसंख्या की वृद्धि की दर प्रत्येक दस साल में १.७ प्रतिशत थी, १९२१-१९५० में वह १२ प्रतिशत रही। इस महान् अन्तर का प्रधान कारण पिछले तीस सालों में निरन्तर मृत्यु-दर की कमी थी। उससे पहले अकाल और महामारियां अत्यधिक मृत्यु-दर के लिये उत्तरदायी थीं।

१९४३ का बंगाल का अकाल ही एकमात्र ऐसी घटना थी जिसने मृत्यु-दर के ह्रास की प्रवृत्ति में एक बार बाधा पहुंचाई, लेकिन उसके बाद पुनः उसे सुधारने के दृढ़ प्रयत्न हुए।

१९२१ के बाद स्थिति बराबर बदतर. जिस भांति १९२१ से पहले और बाद के ३० सालों में जनसंख्या-वृद्धि में भीषण अन्तर है, उसी भांति इस वृद्धि और कृषि की वृद्धि में भी वैसा ही भीषण अन्तर है। इस सम्बन्ध को तीन चीजों से व्यक्त किया जा सकता है—प्रतिव्यक्ति जोती गई जमीन का क्षेत्रफल, दो फसल पैदा करनेवाली जमीन का क्षेत्रफल और प्रतिव्यक्ति सींची जानेवाली

जमीन का क्षेत्रफल। १९२१ से पिछले ३० सालों की तुलना में १९२१ में यह तीनों ही क्षेत्रफल कुछ अधिक थे। १९२१ के बाद यह तीनों ही चीजें निरन्तर गिरती चली गईं और १९५१ में यह १९२१ की तुलना में पर्याप्त अधिक नीचे थीं। प्रतिव्यक्ति जोती गई जमीन के क्षेत्रफल में यह कमी सबसे अधिक थी। १९५१ में यह .८४ एकड़, पर १९२१ में यह १.११ एकड़ थी।

सम्भावित विकास

वृद्धि-दर में कमी की आशा नहीं. हम पहले भी संकेत कर चुके हैं, कि हमारी मृत्यु-दर निरंतर कम होती जा रही है। हमारी अधिकांश मृत्युएं ऐसे रोगों के कारण हैं, जिन्हें दूर किया जा सकता है। सार्वजनिक स्वास्थ्य में उन्नति होने से आनेवाले वर्षों में इसमें और भी कमी होने की संभावना है। इसके अतिरिक्त, शिक्षा और सामान्य जागरण के फलस्वरूप विधवा-विवाह भी अधिक हो रहे हैं और होंगे, जिससे यदि गर्भ-निरोध के साधनों का प्रयोग न हुआ, तो हमारी इस वृद्धि का क्रम जारी रहेगा। और कोई आश्चर्य नहीं १९२१-१९५१ की तुलना में १९५१–१९८१ में इसकी वृद्धि की रफ्तार तेज ही रहे। किन्तु यदि रफ्तार वही रहे जो कि पिछले तीस सालों में रही है, तब भी १९६१ तक हमारी जनसंख्या ४१ करोड़, १९७१ तक ४६ करोड़ और १९८१ तक ५२ करोड़ तक पहुंच जायेगी।

कृषि-विकास-दर जनसंख्या-वृद्धि-दर से पीछे रहेगी. अब प्रश्न यह है कि हमारी कृषि के विकास की दर क्या इतनी काफी है जो ५२ करोड़ आबादी का पेट भर सकेगी? इसका उत्तर नकारात्मक ही है। क्योंकि यदि वर्तमान कमी को दूर कर दिया जाय तब भी ३६ करोड़ जनसंख्या को खिलाने के लिये हमें प्रतिवर्ष ७५० लाख टन अन्न की आवश्यकता पड़ती है। यदि वर्तमान स्तर को कायम रखा जाये, तो हमें प्रतिवर्ष १९६१ में ८५०, १९७१ में ९६०, और १९८१ में १,०८० लाख टन अन्न की आवश्यकता होगी। इसके लिए हमें अपने अन्न के वर्तमान उत्पादन में १९६१ तक २१ प्रतिशत, १९७१ तक ३७ प्रतिशत, १९८१ तक ५४ प्रतिशत वृद्धि करनी होगी।

यदि हम सींची हुई भूमि के विस्तार द्वारा अपने अन्न-उत्पादन की वृद्धि की संभावनाओं पर विचार करें, तो हमें पता चलेगा कि हमारे यहां कुल जोती हुई जमीन का १५.५ भूमि सिंचाई के नीचे है। इस दृष्टि से चीन के बाद हमारे यहां ही सींची जमीन का सबसे अधिक अनुपात है। प्रथम पंचवर्षीय योजना में १९५१ में सींची जानेवाली १४९.४ एकड़ भूमि की तुलना में १९५६ तक मुख्य

योजनाओं द्वारा १६०.९ एकड़ भूमि सिंचाई के नीचे लाने का अनुमान है। यदि इसे व्यावहारिक भी मान लिया जाय, तो मुख्य योजनाओं द्वारा सिंचाई के क्षेत्रफल से बढ़ी उपज भी कुल अपेक्षित उपज के एक-चौथाई से भी कम होगी। योजना के अन्तर्गत गौण सिंचाई-वर्क्स ११३ लाख एकड़ भूमि की सिंचाई करेंगे और मुख्य योजनाएं १९६१ की ⅔ मांग को पूरा करेंगी।

जहां तक खाद द्वारा उत्पादन बढ़ाने का प्रश्न है, इस दिशा में अधिक प्रगति की संभावना नहीं है।

उत्पादन-वृद्धि के इन सब तरीकों से मिलाकर लगभग २४० लाख टन की वार्षिक वृद्धि हो सकेगी, किन्तु यह वृद्धि भी १९७१ की आवश्यकताओं की पूर्ति नहीं कर सकेगी। इस सब विवेचना से हम इसी परिणाम पर पहुंचते हैं कि हमारे खाद्य-उत्पादन की वृद्धि-दर जनसंख्या की अनियंत्रित वृद्धि-दर से पीछे ही रहेगी। ऐसी स्थिति में जनसंख्या की वृद्धि रोकने के उपायों को ढूंढ़ना होगा और उनका अवलम्बन करना होगा।

जनसंख्या-समस्या के प्रस्तावित उपाय

१. भूमि-व्यवस्था में सुधार. भारतीय सामाजिक समस्या के कुछ विचारकों, विशेषतः महात्मा गांधी, का यह विचार था कि भूमि-व्यवस्था के सुधर जाने से हमारी जनसंख्या का उचित समाधान हो जायेगा। उनके अनुसार (अन्य बातों के साथ) यदि हमारी उचित भूमि-व्यवस्था हो, तो भारत वर्तमान जनसंख्या से दुगुनी जनसंख्या का पोषण कर सकता है। ब्रिटिश सरकार ने जिस जमींदारी प्रथा को स्थापित कर निठल्ले, शोषक मध्यस्थ वर्ग का निर्माण किया है, उसे समाप्त कर हम भूमि-व्यवस्था को सुधार सकते हैं। निस्संदेह जमींदारी प्रथा हमारे कृषकों की आर्थिक अवस्था को दयनीय बनाने में एक बड़ा कारण थी। स्वाधीनता के पश्चात् अधिकांश राज्यों में इसका बहुत अंशों में उन्मूलन भी हो चुका है, पर इससे हमारी जनसंख्या की समस्या का समाधान नहीं हुआ है। यह तथ्य आज स्पष्ट होता जा रहा है कि केवल भूमि-व्यवस्था के सुधार से न तो हम अपनी जनसंख्या की समस्या का हल कर सकते और न ही भूमि के सामूहीकरण (Collectivisation) और यान्त्रिक खेती से खाद्यान्न की बढ़ती मांग को पूरा कर सकते हैं।

२. उद्योगीकरण. जनसंख्या की समस्या को हल करने के लिए कुछ लोग उद्योगीकरण को रामबाण दवा समझते हैं। भारत में उद्योगीकरण एक बड़ी समस्या है। पिछले तीस सालों में, जिनमें अपेक्षतया उद्योगीकरण की रफ्तार

तेज रही है, हमारी जनसंख्या का बहुत कम अनुपात ही उद्योगों में जज्ब हो सका है। उद्योगीकरण ने साथ-साथ हाथ के कुटीर-उद्योगों को नष्ट कर बेकारी को समाप्त करने के स्थान पर उसकी अधिक सृष्टि कर दी है। विद्यमान परिस्थितियों में जो अधिकतम उद्योगीकरण संभव है, उसे देखते हुए, हम उससे जनसंख्या की समस्या का हल नहीं कर सकते। पंचवर्षीय योजना में प्रस्तावित औद्योगिक विकास द्वारा कठिनाई से कुछ लाख अतिरिक्त व्यक्तियों को उद्योगों नें खपाया जा सकता है। उद्योगीकरण भारत के लिए एक आर्थिक, राजनैतिक और सैनिक आवश्यकता है। किन्तु जब तक हमारी अधिकांश जनता एकदम निर्धन है, औद्योगिक वस्तुओं के खरीदने की मांग बहुत कम रहेगी। इससे हमारे जीवन में एक आर्थिक गतिरोध उत्पन्न हो गया है, जिसका नष्ट करना आवश्क है। जनगणना-कमिश्नर गोपालास्वामी के मत में उद्योगीकरण और खाद्य वस्तुओं के आयात द्वारा जनसंख्या की समस्या का समाधान एक भ्रांति है। वह परिस्थितियां जिन्होंने इंग्लैण्ड और योरोप के लिये १९ वीं सदी में यह संभव बनाया, आज विद्यमान नहीं हैं।

वास्तव में समस्या जनसंख्या बनाम उद्योगीकरण की नहीं और न ही जनसंख्या की वृद्धि और अर्थ-व्यवस्था के पुनर्संगठन के बीच चुनाव करना है। बल्कि इसके विपरीत, यदि हम जनसंख्या के नियंत्रण का भी निश्चय करें, तो हमें देश का उद्योगीकरण करना चाहिए। उद्योगीकरण के द्वारा ही हमारी कृषि की कार्यक्षमता बढ़ने की संभावना है। हमारे यहां पर्याप्त आर्थिक साधन हैं जिनके उपयोग के लिये उद्योगीकरण आवश्यक है। किन्तु उद्योगीकरण की आवश्यकता से हमारी जनसंख्या की वृद्धि में आवश्यकता सिद्ध नहीं होती। हमें अपने उद्योगों को बढ़ाने के लिये अधिक जनसंख्या की जरूरत नहीं है। हमारे पास अभी भी बड़ी संख्या पूर्णतः बेकार और अर्ध-बेकारों की है, जिसके जज्ब करने में लम्बा समय लगेगा।

कृषि के सुधार और उद्योगीकरण के प्रसार द्वारा आज से अधिक जनसंख्या को आज के रहन-सहन के स्तर पर रखना असंभव नहीं है। पर क्या आज का रहन-सहन का स्तर ऐसी चीज है जिसे कायम रखना हमारे लिये गौरव की चीज है और जिसे हम आनेवाले जमाने के लिये अपनी राष्ट्रीय नीति का लक्ष्य बना सकते हैं?

३. **समाजवाद.** सोवियत रूस के समाजवादी पुर्ननिर्माण से प्रभावित कुछ लोगों का यह कहना है कि समाजवाद हमारी जनसंख्या को आसानी से हल कर देगा। पिछले २५ सालों में रूस ने जो आर्थिक उन्नति की है वह वास्तव

में अभूतपूर्व है। वहां कृषि और उद्योगों का विपुल विकास हुआ है। इसी बीच उसकी जनसंख्या-वृद्धि की रफ्तार भी बहुत तेज रही है। यही नहीं, उन्होंने उसे खूब प्रोत्साहित किया है। यदि वहां यह संभव है, तो क्या यहां ऐसा नहीं हो सकता? १९२६ से सोवियत रूस की आबादी की वृद्धि-दर भारत से कहीं अधिक है। उसकी जन्म-दर ४० प्रतिहजार है। रूसी लोग इस बढ़ती जनसंख्या से तनिक भी भयभीत नहीं हुए हैं। उसके विपरीत उनका विश्वास है कि बढ़ती आबादी समाजवादी पुनर्निर्माण के लिये अपेक्षित है।

यहां हमें यह नहीं भूलना चाहिये कि रूस का क्षेत्रफल भारत से आठगुना है और उसकी आबादी अभी कुल २० करोड़ है। वहां जनसंख्या का घनत्व अभी भी २३ प्रति वर्गमील है, जब कि भारत में वह ३१३ प्रति वर्गमील है। निस्संदेह सोवियत रूस की पर्याप्त भूमि बसने योग्य नहीं है। किन्तु वहां अभी भी विस्तार का पर्याप्त क्षेत्र है। इस प्रकार सोवियत रूस ने खाली भूमि की पुकार का उत्तर दे अपने देश का निर्माण किया है। भारत की स्थिति उससे सर्वथा भिन्न है, अतः हमें दूसरी जनसंख्या-नीति का अवलम्बन करना होगा।

४. जनसंख्या का नियंत्रण. जनसंख्या की समस्या का अंतिम प्रस्तावित उपाय जनसंख्या का नियंत्रण रह जाता है। हमारा लक्ष्य होना चाहिए कि जन्मों की संख्या मृत्युओं से अधिक न हो। इस भांति हम अपनी जनसंख्या वर्तमान संख्या पर स्थिर रख सकते हैं। स्थिर जनसंख्या ही विद्यमान स्थिति में हमारे लिए उपयुक्त है। इसके लिए जन्म-दर में कमी अनिवार्य है। गोपालास्वामी के अनुसार एक विवाहित दम्पति के अधिक से अधिक तीन बच्चे होने चाहिएं। हमारी मातृत्व की दर, जो आज ४० से ४५ प्रतिहजार है, घटकर २३ प्रतिहजार हो जानी चाहिए। जन्म-दर की कमी मृत्यु-दर में भी स्वतः कमी लायेगी। इस प्रकार वर्तमान मृत्यु-दर २७ से घटकर २२ प्रतिहजार रह जायेगी और हमारी जनसंख्या-वृद्धि की दर हर दस सालों में १३ प्रतिशत से घटकर १ प्रतिशत रह जायेगी। स्वास्थ्य और रहन-सहन के दर्जे में उन्नति होने से अधिकांश स्त्रियां स्वयं ही कम बच्चे पैदा करने के लिए उत्सुक होंगी और तीन बच्चों के स्थान पर दो ही बच्चे जनना पसंद करेंगी।

आत्मसंयम बनाम कृत्रिम गर्भ-निरोध (Birth Control). जनसंख्या के नियंत्रण की आवश्यकता को जो लोग स्वीकार करते हैं, वह उसकी प्राप्ति के साधनों पर सहमत नहीं हैं। इसके दो रास्ते हैं—आत्मसंयम या कृत्रिम गर्भ-निरोध के साधनों का प्रयोग। आत्मसंयम में देरी से विवाह करना भी सम्मिलित है। कुछ विद्वानों का मत है कि देरी से विवाह जन्म-दर में पर्याप्त कमी ला

सकता है। १६ से २१ वर्ष की उम्र में सबसे अधिक बच्चे पैदा होते हैं। इसके विपरीत, अन्य विद्वानों का मत है, यदि विवाह की उम्र १६ से बढ़कर २१ साल भी हो जाये तो उससे कुल जन्म-दर पर विशेष प्रभाव न पड़ेगा। परन्तु डा० चन्द्रशेखर के मत में देरी से विवाह जन्म-दर घटाने का अच्छा उपाय है। अत: इसकी उपयोगिता पर विचार होना चाहिए। जनसंख्या के नियंत्रण की दृष्टि से न सही, किंतु स्वास्थ्य की दृष्टि से ही विवाह की उम्र में वृद्धि होनी चाहिए। इस पर सभी सहमत हैं। बहस केवल विवाहित जीवन में किस भांति जन्मदर का नियंत्रण हो इसकी रह जाती है।

दमन अव्यावहारिक. कुछ लोगों की राय में, जिनमें महात्मा गांधी के अनुयायी प्रमुख हैं, आत्मसंयम—ब्रह्मचर्य ही इसका एकमात्र उचित साधन है। कोई समझदार व्यक्ति परिष्कृत और कोमल काम-संबंधों के लिए आत्मसंयम के महत्त्व की उपेक्षा न करेगा। लेकिन सवाल तो सिर्फ जनसंख्या-नियंत्रण के साधन के रूप में उसकी उपयोगिता और सफलता का है। अभी तक का अनुभव हमें यह बतलाता है कि सामान्य जनता द्वारा नियंत्रण के साधन के रूप में इसका प्रयोग अव्यावहारिक है। कठोर से कठोर आत्मसंयम द्वारा भी जनसंख्या के नियंत्रण का भरोसा नहीं किया जा सकता। साल में एक बार संभोग से ही एक स्त्री गर्भवती हो सकती है। इसलिए जनसंख्या-नियंत्रण के लिए कृत्रिम गर्भ-निरोध का ही उपाय रह जाता है। कुछ व्यक्ति इसके प्रयोग को अनैतिक मानते हैं, पर इच्छा के विरुद्ध, स्वास्थ्य, पोषण और शिक्षण के साधनों की सर्वथा उपेक्षा कर बच्चों की निर्बाध गति से वृद्धि कहां तक नैतिक कही जा सकती है? कृत्रिम गर्भ-निरोध के विरोधियों का यह भी कहना है कि इसके प्रयोग से गर्भ होने का डर न रहने से व्यभिचार या अत्यधिक भोग के बढ़ने की संभावना है। देशों का अनुभव इस बात की पुष्टि नहीं करता। गर्भ रह जाने का भय लोगों को आत्म-संयम की ओर ले जाने में असफल रहा है। वास्तव में संयम और भोग का संबंध कृत्रिम गर्भ-निरोध के साधनों से न होकर जीवन के प्रति लोगों के दृष्टिकोण और शिक्षा से है।

गर्भ निरोध अपनाने की आवश्यकता. हमें यह स्वीकार करना पड़ता है कि हमारे जनसंख्या के नियंत्रण का एकमात्र व्यावहारिक मार्ग गर्भ-निरोध के कृत्रिम साधनों को अपनाना ही रह जाता है। यह विचित्र बात है कि जीवन के प्रत्येक क्षेत्र में हम विज्ञान को अपनाने की बात कहते हैं पर इस क्षेत्र में हम अवैज्ञानिक विचारों का ही पोषण कर रहे हैं और वैज्ञानिक दृष्टि अपनाने से इनकार करते हैं।

कुछ लोग कृत्रिम गर्भ-निरोध के कारणों को स्वास्थ्य के लिए हानिकर समझते

हैं। इस संबंध में अधिकारपूर्वक कहने की क्षमता रखनेवाले डा० सी० बी० ड्रिस्डेल की सम्मति उद्धृत करने योग्य है :–

"कोई इस तथ्य की उपेक्षा नहीं कर सकता कि गर्भ-निरोध के अपनाने के बाद से हमारी जन्म-दर घटने के साथ-साथ पाश्चात्य देशों में जीवन-काल ३५-४५ से बढ़कर ६०-६५ हो गया है। इसके अतिरिक्त हाल के आंकड़े इस बात की पुष्टि करते हैं कि मृत्यु-दर में, विशेषतः स्त्री-पुरुषों के प्रजनन-काल में होनेवाली मृत्यु-दरमें, आश्चर्यजनक कमी हुई है।"

उक्त विवेचन तथा भारतीय स्थिति को देखते हुए यह आवश्यक हो जाता है कि हम सार्वजनिक रूप से गर्भ-निरोध के साधनों के प्रयोग को स्वीकार करें तथा उसके प्रयोग और प्रसार के लिए अधिकाधिक आन्दोलन करें। गोपालास्वामी ने इसके लिए एक पृथक् संगठन बनाने तथा गर्भ-निरोध को राष्ट्रीय योजना में सिंचाई के समान प्राथमिकता प्रदान करने की सिफारिश की है। इस संगठन के पास पर्याप्त संख्या में कार्यकर्ता होने चाहिएं जिनकी देश की सब माताओं के पास पहुंच होनी चाहिए। एक केन्द्रीय अन्वेषण और प्रचार-विभाग शीघ्र स्थापित होना चाहिए जो कि प्रभावयुक्त, हानि-रहित तथा सस्ते साधनों की सिफारिश कर सके और जिन्हें सरकार प्रचारित कर सके। ऐसे तरीकों के प्रचार की भी आवश्यकता है जिनमें कृत्रिम साधनों की जरूरत नहीं पड़ती। इस क्षेत्र में पहले से मुख्यतः शहरों में काम करनेवाली संस्थाओं को सरकार द्वारा प्रोत्साहन मिलना चाहिए।

इन तैयारियों के बाद नासमझ मातृत्व के विरुद्ध देशव्यापी आन्दोलन का दूसरा दौर शुरू होना चाहिए। इसकी सफलता के लिए यह आवश्यक है कि यह सामाजिक स्त्री कार्यकर्त्ताओं के राष्ट्रीय संगठन द्वारा चलाया जाये और इसको सरकार का पूरा सहयोग प्राप्त हो। इस प्रकार जहां एक बार जनता को गर्भ-निरोध की उपयोगिता अनुभव हुई और उसे अमल में लाने की सुविधा प्राप्त हुई, तो कोई कारण नहीं कि हम शीघ्र ही अनिच्छित बालकों की बाढ़ से मुक्ति पा सकें। सीमित पर स्वस्थ और शिक्षित बच्चे हमारी जनसंख्या-नीति का लक्ष्य होना चाहिए।

चौथा अध्याय

स्वास्थ्य और पोषण

स्वास्थ्य और समाज

समाज के उत्थान और कल्याण में उसके सदस्यों का स्वास्थ्य एक बुनियादी चीज है। आर्थिक विकास के साधनों में इसका सबसे प्रमुख स्थान है। श्रमिक की कार्यक्षमता मुख्यतः उसके स्वास्थ्य पर ही निर्भर होती है। इस भांति किसी देश के श्रमिक का स्वास्थ्य ही वहां की कृषि और उद्योगों के विकास में विशेष महत्त्व रखता है।

केवल रोगों से मुक्ति ही स्वास्थ्य नहीं है, बल्कि शारीरिक और मानसिक क्षमताओं का संतुलित विकास और व्यक्ति का सम्पूर्ण भौतिक और सामाजिक वातावरण से उपयुक्त सामंजस्य ही स्वास्थ्य कहा जा सकता है।

किसी भी समाज के सदस्यों का अच्छा या बुरा स्वास्थ्य कोई पूर्व-निर्धारित या निश्चित चीज नहीं है। वह वातावरण से संयुक्त विभिन्न कारणों से संबद्ध है, जिनमें कि आवश्यकतानुसार परिवर्तन किये जा सकते हैं। समाज में विद्यमान रहन-सहन का दर्जा, स्वास्थ्य-सेवाओं का प्रसार और आरोग्य-शिक्षा किसी समाज के सदस्यों के स्वास्थ्य को विशेष रूप से प्रभावित करती है। एक अच्छे समाज का यह दायित्व है कि वह उन सुविधाओं को जुटाये जो कि जनता के स्वास्थ्य को सुरक्षित और विकसित करें।

प्राचीन और मध्य काल में अन्य विभिन्न दायित्वों की भांति रोग या अस्वस्थता एक व्यक्तिगत दायित्व थी। वैज्ञानिक शोधों के अभाव में जनता स्वास्थ्य की उचित रक्षा और रोगों की समुचित चिकित्सा से प्रायः अपरिचित थी। जादू-टोना, झाड़-फूंक, बलि-पूजा, यज्ञ-अनुष्ठान, दान-दक्षिणा, मंत्र-जप ही उस समय चिकितिसा के प्रधान साधन थे। उन्नीसवीं शती में अन्य विज्ञानों के साथ चिकित्सा और शल्य-विज्ञान में अभूतपूर्व उन्नति हुई और अनेक असाध्य और सामान्य रोगों की उपयोगी ओषधियों और चिकित्साओं के आविष्कार हुए। किन्तु विज्ञान की यह शोधें और सुविधाएं बहुत समय तक केवल समाज के धनी वर्गों को ही प्राप्त रहीं। सामान्य जनता उनके लाभों से वंचित ही रही। जन-

तंत्र और सामाजिक कल्याण के आन्दोलन ने इन सुविधाओं को सर्वसाधारण तक पहुंचाने का बीड़ा उठाया। संसार के अधिकांश सभ्य समाजों ने अपने नागरिकों की स्वास्थ्य-रक्षा और उन्नति का दायित्व आज अपने कंधे पर ले लिया है। समाज का हर एक व्यक्ति स्वस्थ हो, यही आज के युग की पुकार है।

भारत का स्वास्थ्य

पूर्ण स्वास्थ्य के संबंध म तो आवश्यक आंकड़े उपलब्ध नहीं हैं। रोगों के संबंध में भी सीमित आंकड़े प्राप्त हैं। इसलिए सार्वजनिक स्वास्थ्य के अनुमान के लिए मुख्यतः मृत्युओं के आंकड़ों पर ही निर्भर होना होगा। भारत के मृत्यु-आंकड़ों की अन्य देशों से तुलना कर हम परोक्ष-रूप से यहां के स्वास्थ्य की अवस्था का अनुमान लगा सकते हैं।

अत्यधिक मृत्युएं और अल्प जीवन-काल. १९५० में प्रतिहजार व्यक्तियों के पीछे भारत में १६.५ मृत्यु हुई, जब कि सं० रा० अमरीका में उनकी संख्या ९.६ और इंग्लैंड तथा वेल्स में कुल ११.६ थी। जब कि एक अमरीकन की औसत आयु ६७ साल और एक अंग्रेज की ६८ साल थी, तब भारत में वह केवल ३२ साल थी। अति अल्प जीवन-काल हमारे गिरे हुए स्वास्थ्य का प्रबल प्रमाण है। इसके अतिरिक्त किसी देश की बाल-मृत्यु-दर वहां की स्वास्थ्य-अवस्था को जानने का एक अन्य सरल साधन है। इस दृष्टि से भारत और इग्लैंड के उपलब्ध आंकड़ों की तुलना अप्रासंगिक न होगी। भारत में एक साल में कुल मृत्युओं में से २०.५ प्रतिशत १ साल से कम आयु, १५.८ प्रतिशत १ से ५ साल की आयु, ५.६ प्रतिशत ५ से १० साल की आयुवाले बच्चों की है, जब कि इंग्लैंड में इनका अनुपात क्रमशः कुल मृत्युओं का ४.७, ०.९, ०.४ प्रतिशत है। इस प्रकार भारत की कुल मृत्युओं में से ४२ प्रतिशत अंश १० साल से कम आयु के बच्चों का है, जब कि इंग्लैंड म यह अनुपात केवल ६ प्रतिशत है। इसके अतिरिक्त लगभग ४० लाख स्त्रियां प्रतिवर्ष हमारे यहां प्रसव के समय मृत्यु का शिकार होती हैं।

रोगों द्वारा अत्यधिक मृत्युएं

लगभग २ लाख व्यक्ति हैजा, ७१ हजार चेचक, २५ हजार प्लेग, ३३ लाख ज्वरों, २ लाख पेचिश और दस्तों, ४ लाख सांस की बिमारियों तथा १५ लाख व्यक्ति अन्य रोगों से मृत्यु को प्राप्त होते हैं। कुल मृत्युओं में से लगभग ५ प्रतिशत मृत्युएं महामारियों के कारण होती हैं। आधी से अधिक मृत्युएं ज्वरों के कारण होती हैं। इसके बाद सांस या फेफड़े की बीमारियों का नम्बर आता है। पेट के रोग भी पर्याप्त विस्तृत हैं। अकेले मलेरिया से प्रतिवर्ष लगभग १० लाख आदमी

मरते हैं। इसी प्रकार यह अन्दाज लगाया गया है कि हमारे यहां तपेदिक से पीड़ित लोगों की संख्या लगभग २५ लाख है, जिनमें से प्रतिवर्ष लगभग ५ लाख मर जाते हैं। मरनेवालों में बच्चों और स्त्रियों की मृत्यु-दर सबसे अधिक है। भारत में मृत्युओं के अध्ययन से यह स्पष्ट है कि इनमें से ७५ प्रतिशत मृत्युएं ऐसी हैं, जो कि उन रोगों के कारण हैं जिन्हें समाप्त किया जा सकता है।

गिरा हुआ स्वास्थ्य ही हमारे श्रमिकों की गिरी हुई कार्यक्षमता का प्रधान कारण है। शोचनीय स्वास्थ्य के कारण जो धन और जन की हानि होती है, उसका आर्थिक मूल्य यदि कूता जाय तो कई हजार करोड़ रुपये बैठेगा। इस प्रकार भारत में स्वास्थ्य की समस्या अत्यन्त ही महत्त्वपूर्ण है और इसके सुधार की ओर शीघ्र ही ध्यान देने की आवश्यकता है।

गिरे हुए स्वास्थ्य के कारण

अपौष्टिक और अपर्याप्त भोजन और पोषण, रहने के गन्दे घर, साफ पानी का अभाव, मैला और गन्दगी के हटाने की समुचित व्यवस्था की कमी, चिकित्सा-निवारण, आवश्यक डाक्टरी देख-रेख का न होना, स्वास्थ्य-शिक्षा का अभाव और गिरी हुई आर्थिक अवस्था भारत में गिरे हुए स्वास्थ्य के प्रमुख कारण हैं। संक्षेप में, अल्प पोषण और अस्वस्थ वातावरण बुरे स्वास्थ्य के लिए हमारे यहां मुख्यतः उत्तरदायी हैं।

अपर्याप्त पोषण (Nutrition). स्वास्थ्य के कायम रखने और रोगों से लड़ने की शक्ति प्रदान करने में पोषण सबसे महत्त्वपूर्ण तथ्य है। व्यक्ति की उत्पादन-कार्यक्षमता पर पोषण का प्रत्यक्ष प्रभाव पड़ता है। संसार के विभिन्न भागों में हुए अन्वेषणों से श्रमिकों की कार्यक्षमता और उन्हें प्राप्त भोजन की कैलोरी मात्रा में घनिष्ठ संबंध है। भारत में अल्प और दोषपूर्ण पोषण पर्याप्त विस्तृत है। यहां प्रतिदिन प्रत्येक प्रौढ़ व्यक्ति के लिए औसतन १३.७१ औंस अन्न तथा २.१ औंस चना और दालें उपलब्ध हैं। इस प्रकार इनकी उपलब्धि क्रमशः १४ औंस और ३ औंस के पोषण-स्तर से पर्याप्त कम है। इसके अतिरिक्त, एक संतोषजनक और संतुलित भोजन में पर्याप्त मात्रा में अन्य खाद्य सामग्रियों जैसे कि दूध, सब्जी, फल, मांस, मछली और अंडों का भी समावेश होना चाहिए। हमारे यहां प्रति प्रौढ़ व्यक्ति को प्राप्त दूध की मात्रा का दैनिक औसत केवल ५.५ औंस है, जब कि उसे कम से कम १० औंस की जरूरत है। इसी प्रकार उसे कुल १.५ औंस फल और १.३ औंस सब्जी उपलब्ध हैं, जब कि उसे दोनों की कम से कम क्रमशः ३ औंस और १० औंस आवश्यकता है। १.६ औंस चीनी या

गुड़ उपलब्ध है, जब कि उसे २ औंस की आवश्यकता है। उसे १ औंस चिकनाई उपलब्ध है, जब कि आवश्यकता २ औंस की है। इसी प्रकार उपलब्ध मछली ०.३ औंस है, जब कि आवश्यकता ३ औंस की है। अंडों, मांस और मछली का उपभोग आवश्यकता की तुलना में अत्यन्त ही कम है और अधिकांश जनसंख्या को तो यह वस्तुएं बिलकुल ही नसीब नहीं हैं। विद्यमान खाद्य-उत्पादन देश की आवश्यकताओं को देखते हुए सर्वथा अपर्याप्त है तथा जनसंख्या का भोजन-परिमाण और गुण दोनों ही दृष्टियों से बहुत गिरा हुआ है तथा उसमें संरक्षणात्मक खाद्य सामग्री का सर्वथा अभाव है।

१९३५ से १९४८ के बीच हुए खूराक की पड़तालों के निष्कर्ष भी इससे भिन्न नहीं हैं। उनके अनुसार "एक भारतीय की औसत खूराक में मुख्यत: अन्न का अंश अत्यधिक होने के कारण वह सर्वथा असंतुलित है। संरक्षणात्मक भोजन की कमी उसका अन्य द्रष्टव्य लक्षण है, जो कि अच्छी किस्म के प्रोटीनों की कमी और प्राय: उनके सर्वथा अभाव का कारण है। खनिज पदार्थों की अपर्याप्तता तथा अल्पाधिक अनुपात में विटामिनों की कमी उसका अन्य महत्त्वपूर्ण लक्षण है। अभी तक यह भलीभांति अनुभव नहीं किया गया है कि कार्बोहाइड्रेट की अत्यधिक मात्रा के लेने के फलस्वरूप 'बी' वर्ग के विटामिनों की कमी अति गम्भीर महत्त्व रखती है। विटामिन 'ए' और 'सी' के उपभोग की मात्रा बहुत कम है।" इन पड़तालों से निम्न परिणाम निकलते हैं—"ऐसा प्रतीत होता है कि दो-तिहाई परिवार किसी भी प्रकार के फल या गिरियां नहीं खाते। लगभग एक-तिहाई परिवार चीनी, गुड़ या मछली, मांस इत्यादि किसी प्रकार का आमिष आहार नहीं पाते, और एक-चौथाई परिवार दूध या दूध के पदार्थों अथवा पत्तेवाली सब्जियों का उपभोग नहीं करते। उन परिवार-वर्गों में, जो विशेष प्रकार का भोजन लेते हैं, पत्तेवाली सब्जियों, अन्य तरकारियों, घी और वनस्पति तेल और दालों का उपभोग उचित और सिफारिश किये गये मान से नीचे था। केवल पड़ताल किये गये पांच में से एक परिवार में दालों और अन्य सब्जियों का उपभोग सिफारिश किये गये स्तर के बराबर था।" इस प्रकार प्राय: पांच में से चार परिवारों में संरक्षणात्मक भोज़न का अंश शून्य अथवा निर्धारित मान से बहुत नीचे था। इसका प्रधान कारण था कि अधिकांश जनता संतोषजनक भोजन खरीदने और खाने की सामर्थ्य नही रखती। औसत आय के हिसाब से ३० प्रतिशत से अधिक जनसंख्या के लिए उचित मात्रा में भोजन पाना संभव नहीं है।

पंचवर्षीय योजना में पोषण. भारत की प्रथम पंचवर्षीय योजना में पोषण के संबंध में १९५६ तक अधिकतम खाद्य-उत्पादन-वृद्धि की संभावनाओं को देखते

हुए पोषण-मान का एक संशोधित स्तर स्वीकार किया है। भारत में अत्यधिक बाल और मातृ-मृत्यु-दर का मुख्य कारण अल्प पोषण ही है । योजना में स्कूलों में बच्चों को खिलाने के कार्यक्रम को प्रोत्साहित करने का निर्देश किया गया है तथा रासायनिक विटामिन के निर्माण के विकास की भी सिफारिश की है । इसके अतिरिक्त, उपलब्ध खाद्य सामग्री में मिलावट भी हमारे यहां स्वास्थ्य और पोषण की एक विकट समस्या है । सरकार का यह कर्तव्य है कि वह नागरिकों के स्वास्थ्य के हित में खाद्य-वस्तुओं की मिलावट को रोकने का दृढ़ प्रयत्न करे ।

वातावरणीय आरोग्यशास्त्र (Environmental Hygiene) की पिछड़ी अवस्था. सार्वजनिक स्वास्थ्य और स्वस्थ जीवन के लिए उपयुक्त वातावरण का निर्माण आवश्यक है। जिन देशों में जल की पूर्ति और मैले की सफाई की समुचित व्यवस्था हो गई है, वहां हैजा, पेचिश और टाइफाइड-जैसी छूत से होने वाली बीमारियां बहुत कुछ समाप्त हो गई हैं। इसका प्रभाव शिशु-मृत्यु-दर तथा आंत की छूत की बीमारियों पर भी पड़ा है। भारत में अभी तक इन समस्याओं का समाधान नहीं हुआ है ।

जल-पूर्ति. स्वच्छ जल की पूर्ति एक बुनियादी आवश्यकता है, जिसको उच्चतम प्राथमिकता मिलनी चाहिए । यद्यपि भारत में संरक्षित जल-पूर्ति की व्यवस्था प्रायः उसी समय प्रारंभ हुई थी, जब कि वह सं० रा० अमरीका में हुई, किंतु इस दिशा में हमारी प्रगति बहुत ही मन्द है। भारत के कुल शहरों में से केवल ६ प्रतिशत शहरों को संरक्षित जलपूर्ति की सुविधा प्राप्त है । इस प्रकार समस्त देश की ७ प्रतिशत जनसंख्या को कठिनाई से पीने के लिए स्वच्छ पानी मिल पाता है। छोटे शहरों और गांवों में साफ पानी का कोई प्रबन्ध नहीं है। उनमें से अधिकांश लोग कुओं, तालाबों, नदियों और नालों से पानी लेते हैं, जिनमें से अधिकांश असंरक्षित हैं ।

जल जीवनदाता है। अतः इसकी पूर्ति को किसी भी योजना में प्रथम स्थान मिलना चाहिए। राज्य को इस बात का दायित्व लेना चाहिए कि वह ३५ साल में सारे देश को और कम से कम पहले २० सालों में देश की ५० प्रतिशत जनसंख्या को शुद्ध जल दे सके। शुद्ध जल-प्रसार की योजना में इस बात का ध्यान रखना आवश्यक है कि वह सबसे पहले उन स्थानों में जुटाई जायें जहां पीने के पानी की कमी है अथवा जो तीर्थ-स्थान हैं और जहां पर हैजा और अन्य आंतों की बीमारियां अधिक फैलती हैं। प्रथम पंचवर्षीय योजना में इस कार्य के लिए १६.७७ करोड़ रुपये वार्षिक की व्यवस्था की गई है। देश की आवश्यकताओं को देखते हुए यह सर्वथा अपर्याप्त है ।

मैले की व्यवस्था. स्वस्थ वातावरण की समस्या केवल संरक्षित जलपूर्ति से ही पूरी नहीं हो जाती। उसके लिए समाज के मैले के संग्रह और उपयोग की समुचित व्यवस्था भी अत्यावश्यक है। इस दृष्टि से हम बहुत पिछड़े हुए हैं। एक लाख से अधिक आबादीवाले ४८ शहरों में से कुल २३ शहरों में मैले के वैज्ञानिक तरीके से हटाने की, अर्थात् सीवरेज की व्यवस्था है। इसके अलावा १२ और शहर हैं जहां इसकी आंशिक व्यवस्था है। इस प्रकार कुल जनसंख्या के ३ प्रतिशत भाग को आज सीवरेज प्रबन्ध की सुविधाएं प्राप्त हैं। वातावरण-आरोग्य-समिति ने इसके लिए एक पंचवर्षीय योजना बनाने की सिफारिश की है। इस कार्यक्रम को पूरा करने के लिए पांच वर्षों में लगभग १५ करोड़ रुपये की आवश्यकता पड़ेगी।

पंचवर्षीय योजना में वातावरण-आरोग्य. पंचवर्षीय योजना में इस पैमाने पर कोई व्यवस्था नहीं की गई है। राज्यों के जलपूर्ति और नालियों के निर्माण (Drainage) के कार्यक्रमों के लिए २३.४९ करोड़ के व्यय की व्यवस्था की गई है। इस राशि में १२.१२ करोड़ रुपये नगरों की जलपूर्ति और ड्रेनेज तथा ११.३७ करोड़ रुपये ग्रामों की जलपूर्ति के लिए निश्चित किये गये हैं। राज्यों का लक्ष्य ग्रामों में सरल तरीके की संरक्षित जलपूर्ति का प्रबन्ध करना है। केन्द्रीय सरकार की योजना में इस कार्य के लिए ३० करोड़ रुपए विकास-ऋण देने की भी व्यवस्था है। यह आशा की जा सकती है कि इसमें से लगभग १० करोड़ रुपया जलपूर्ति के विकास के लिए उपलब्ध हो सकेगा।

जितना महत्त्वपूर्ण प्रश्न गांवों में जलपूर्ति का है उतना ही उनकी सफाई का भी। मुश्किल से ५ प्रतिशत घरों में पाखानों की व्यवस्था है। अधिकांश लोग गांवों के पास खुले स्थानों में शौच के लिए जाते हैं। यह स्वास्थ्य के लिए बहुत ही हानिकर है। इस बात की प्रबल और शीघ्र आवश्यकता है कि वहां पर सस्ती किस्म के खाईनुमा पाखानों का निर्माण हो। इस प्रकार मैला भी न सड़ेगा और उसका संग्रह कर, खाद के लिए उचित उपयोग हो सकेगा।

घरों की अवस्था. अच्छे स्वास्थ्य के लिए रहने के अच्छे स्थान का होना अत्यन्त आवश्यक है। सामाजिक कल्याण, स्वस्थ और अच्छे घरों में परस्पर घनिष्ठ संबंध है। हमारी ८३ प्रतिशत जनता तो गांवों में रहती है। उनके घर अधिकतर मिट्टी के बने होते हैं। उनमें सफाई और रोशनी का कोई उचित प्रबन्ध नहीं होता। शहरों, विशेषकर औद्योगिक नगरों, में तो घरों की समस्या और भी विकट रूप धारण कर चुकी है। पिछले १३-१४ सालों में शहरों की जनसंख्या में असाधारण वृद्धि हुई है। १९४१–५१ में ही इस वृद्धि का अनुपात ५४ प्रतिशत

रहा है। इसके विपरीत, घरों की संख्या में मकान बनाने के सामान की कमी और ऊंची कीमतों के कारण कुछ विशेष वृद्धि नहीं हुई है। इसके अतिरिक्त, विभाजन के बाद शरणार्थियों के आगमन ने निवास की समस्या को और भी जटिल बना दिया है। शहरों में अधिकांश मजदूर बहुत ही गन्दी बस्तियों में रहते हैं, वहां पानी और रोशनी का कोई उचित प्रवन्ध नहीं है। घरों के सामने ही मैला और गन्दा पानी सड़ता रहता है। एक-एक छोटे कमरे में पांच-पांच छः-छः व्यक्ति रहते हैं। रहने की यह अवस्था स्वास्थ्य के लिए अत्यन्त हानिकर है।

बम्बई, कलकत्ता, मद्रास और कानपुर जैसे शहरों के इम्प्रूवमेंट ट्रस्टों ने तथा हाल में, विशेषकर शरणार्थियों और केन्द्रीय सरकार के कर्मचारियों के लिए घर बनाने में, केन्द्रीय सरकार ने कुछ दिलचस्पी ली है। पर सर्वसाधारण के उचित निवास की समस्या अभी तक हल नहीं हो सकी है। हमारी अधिकांश जनता ऐसे घरों में रहती है जो पशुओं के भी रहने योग्य नहीं हैं।

शहरों में घरों के निर्माण और पूर्ति में प्रमुख हाथ व्यक्तिगत पूंजीपतियों का है। घर के निर्माण में मुनाफावृत्ति का जोर है। इस दिशा में सहकारी गृह-निर्माण समितियों का कार्य नगण्य है। हाल में शहरों में घरों की कमी के अन्दाज लगाने के प्रयत्न हुए हैं। वातावरण-आरोग्य-समिति के अनुसार हमारे यहां शहरों में लगभग १८.४ लाख घरों की कमी है, इसमें पाकिस्तान से आये हुए विस्थापितों के लिए अपेक्षित १० लाख घरों का समावेश नहीं है।

इस भांति शहरों और गांवों में स्वास्थ्यकर घरों का निर्माण एक बड़ी भारी सामाजिक समस्या है। हमारी निर्धनता इसके विकास के मार्ग में प्रवल बाधक है। सरकार के पास इतने साधन नहीं हैं कि वह इसकी जिम्मेदारी ले सके, जनता स्वयं इतनी गरीब है कि उसके लिए मकान बनाना तो दूर, अपना पेट भरना भी मुश्किल है। बावजूद इसके, गृह-निर्माण और विकास में सरकार का प्रोत्साहन और कार्य आवश्यक है। संसार के सभी उद्योग-प्रधान देशों में सरकारें गृह-निर्माण की योजनाओं में सक्रिय दिलचस्पी ले रही हैं। भारत में भी सरकार ने गृह-योजनाओं के विकास के लिए ब्याज-मुक्त ऋण तथा सहायता प्रदान करने की नीति अपनाई है। सहकारी समितियां इन ऋणों को मध्यम वित्त जनता को देकर घरों के निर्माण में महत्त्वपूर्ण कार्य कर सकती हैं। निस्संदेह भारत में आनेवाले एक लम्बे समय तक गृह-निर्माण मुख्यतः व्यक्तिगत हाथों में ही रहेगा।

पंचवर्षीय योजना और घर. पंचवर्षीय योजना में शहरों में कम कीमत के स्वास्थ्यकर मकान बनाने के लिए कम से कम लागत तथा आवश्यकताओं के

मान निर्धारित किये हैं तथा पांच सालों में गृह-निर्माण के लिए लगभग ३८.५ करोड़ रुपये ऋण देने की व्यवस्था की गई है। उसमें एक राष्ट्रीय नगर और ग्राम-आयोजन अधिनियम के पास करने की भी सिफारिश की गई है, जिसमें जमीन के उपयोग तथा उसके क्षेत्रीकरण, पट्टियों के विकास के नियंत्रण, उचित समझे जानेवाले स्थानों में उद्योगों की स्थापना, गन्दी बस्तियों के उन्मूलन तथा प्रधान योजनाओं के बनाने की व्यवस्था हो।

भारत के प्रायः सभी औद्योगिक नगरों में मजदूरों की गन्दी बस्तियां विकसित हो गई हैं। इमारतों के निर्माण के कानूनों के लागू करने में ढील इसका प्रधान कारण है। मजदूरों के स्वास्थ्य के लिए इन गन्दी बस्तियों का शीघ्र से शीघ्र अन्त परमावश्यक है।

गांवों में घरों की समस्या वहुत ही विस्तृत है, क्योंकि भारत की ८३ प्रतिशत जनसंख्या गांवों में ही रहती है। गांवों में घरों की अवस्था को सुधारने के लिए गांवों में रहने की सामान्य अवस्थाओं में सुधार आवश्यक है। सामुदायिक विकास-योजनाओं की प्रगति से इस दिशा में उन्नति की कुछ आशा की जा सकती है। सामुदायिक योजनाओं द्वारा चुने हुए क्षेत्रों में नमूने के घरों को बनाकर ग्रामीण जनता का मार्ग दर्शन किया जा सकता है। इस संबंध में इस बात पर जोर देना आवश्यक है कि स्थानीय उपलब्ध सामग्री से ही घर बनाये जा सकें, साथ ही वह बहुत सस्ते हों और उनमें रोशनी की उचित व्यवस्था हो, जानवरों के बांधने के स्थान से दूर हो, शौच के लिए पाखानों तथा खाद के लिए गड्ढों का प्रबन्ध हो। पंचवर्षीय योजना में अच्छे और सस्ते घरों के विकास के लिए अन्वेषण, एक राष्ट्रीय निर्माण-संगठन तथा केन्द्रीय और प्रादेशिक गृहबोर्डों के स्थापना की सिफारिश की गई है। इससे गृह-निर्माण के कार्य में प्रगति की आशा की जा सकती है।

कार्य करने की अवस्था. पोषण, पानी, सफाई और निवासस्थान के अतिरिक्त, जीविका उपार्जन के लिए दैनिक काम करने की अवस्था का भी व्यक्ति के स्वास्थ्य पर प्रबल प्रभाव पड़ता है। हमारे यहां लाखों मजदूर ऐसे कारखानों, दूकानों और दफ्तरों में काम करते हैं, जहां पर हवा और रोशनी की समुचित व्यवस्था नहीं है। उनमें बहुत घिचपिच रहती है अथवा वहां का तापक्रम स्वास्थ्य के लिए हानिकर होता है। विभिन्न फैक्टरी कानूनों ने, विशेषकर बड़े कारखानों में, काम करने की अवस्था में पर्याप्त सुधार किये हैं। पर छोटे कारखाने और वर्कशापों में, जहां बीस से कम मजदूर एक साथ काम करते हैं, कार्य करने की अवस्थाएं बहुत ही खराब और शोचनीय हैं। मजदूरों की स्वास्थ्य की रक्षा के लिए

उनका धूल, धुएं तथा कई उद्योगों में रासायनिक तथा अन्य प्रक्रियाओं से संरक्षण आवश्यक है। इसके अतिरिक्त उनके लिए पीने और नहाने के पानी, शौचालयों, पेशाबघरों तथा आवश्यक सुरक्षा-उपकरणों का प्रबन्ध तथा प्राथमिक चिकित्सा की व्यवस्था होना जरूरी है। जिन प्रतिष्ठानों में स्त्रियां कार्य करती हों, वहां बच्चों के लिए शिशु-गृहों की भी स्थापना होनी चाहिए।

जैसा कि हम संकेत कर चुके हैं, इस क्षेत्र में सबसे बड़े अपराधी छोटे औद्योगिक प्रतिष्ठान हैं जो कि फैक्टरी एक्ट के दायरे से बाहर हैं और जिनके ऊपर कोई उचित नियंत्रण नहीं रखा जा सकता। श्रमिकों के स्वास्थ्य की सुरक्षा के लिए यह आवश्यक है कि उनके कार्य करने की अवस्था को शीघ्र सुधारा जाय।

रोगों का प्रकोप. पोषण की कमी और अस्वास्थ्यकर वातावरण, निवारण तथा चिकित्सा का अभाव हमारे यहां रोगों का प्रधान कारण है। हमारे यहां ७५ प्रतिशत मृत्युएं ऐसे रोगों के कारण होती हैं जिन्हें आसानी से समाप्त या नियंत्रित किया जा सकता है। सार्वजनिक स्वास्थ्य के संरक्षण और विकास के लिए अन्य बातों के साथ-साथ रोगों का नियंत्रण परमावश्यक है। आगे हम संक्षेप में भारत के कुछ प्रमुख रोगों तथा उनके नियंत्रण के उपायों और प्रयत्नों का संक्षेप में जिक्र करेंगे।

मलेरिया. भारत में मलेरिया सार्वजनिक स्वास्थ्य की सबसे प्रमुख समस्या है। हर साल १० करोड़ व्यक्ति इससे पीड़ित होते हैं। इस प्रकार यदि आर्थिक हानि को ही देखा जाये, तो वह हर साल सैकड़ों करोड़ रुपये की होती है। मलेरिया की मार से हमारी कृषि, निर्माण और उद्योगों को भीषण क्षति उठानी पड़ती है। अतः स्वास्थ्य के संरक्षण के लिए मलेरिया के नियंत्रण का पूर्ण प्रयत्न होना चाहिए।

स्थायी कीटाणुनाशक के रूप में डी० डी० टी० के प्रयोग ने मलेरिया के नियंत्रण में महत्त्वपूर्ण परिवर्तन उपस्थित किया है। उस पर खर्च की गई धन की राशि से कई गुना अधिक लाभ प्राप्त हुए हैं। अभी तक केन्द्रीय और राज्य-सरकारों तथा विश्व-स्वास्थ्य-संगठन की प्रदर्शन-योजनाओं ने केवल समस्या के कोर को ही छुआ है। अर्थ, कर्मचारियों और यन्त्रों की पूर्ति के अभाव में इन अधिकांश योजनाओं का विकास नहीं हो सका है। मलेरिया से प्रभावित २० करोड़ जनता में से कठिनाई से ३ करोड़ जनता को इनसे लाभ पहुंचा है। मलेरिया-नियंत्रण की योजना के लिए केन्द्रीय और राज्य-योजनाओं में एकीकरण तथा आवश्यक विषयों में सलाह मिलने की सुविधाओं का विकास आवश्यक है। इस कार्यक्रम में मलेरिया-प्रभावित क्षेत्रों में डी० डी० टी० के छिड़काव और आव-

श्यक ओषधियां जुटाने का समावेश है। यह कार्य राज्य-स्वास्थ्य-डायरेक्ट्रेटों के १२५ क्षेत्रीय-मलेरिया-नियंत्रण दलों द्वारा संचालित होंगे। इस योजना में विश्व-स्वास्थ्य-संगठन की सहायता से भारत-सरकार द्वारा एक डी० डी० टी० तैयार करने के कारखाने की भी व्यवस्था है। राज्य-सरकारें हर साल मलेरिया के नियंत्रण पर १.४१ करोड़ रुपया व्यय करेंगी। इस प्रकार पांच सालों में यह रकम ७.०४ करोड़ रुपया होगी। मलेरिया के राष्ट्रव्यापी नियंत्रण के लिए शुरू के साढ़े तीन सालों में लगभग १५ करोड़ रुपये की आवश्यकता होगी। इसमें से केन्द्रीय सरकार १० करोड़ देगी। निस्संदेह इस कार्यक्रम की सफलता हमारे स्वास्थ्य-संरक्षण की दिशा में एक महान् कदम होगी।

तपेदिक. भारत में लगभग २॥ लाख व्यक्ति तपेदिक से पीड़ित हैं और इनमें से लगभग ५० हजार प्रतिवर्ष मर जाते हैं। इस प्रकार ९० करोड़ से १०० करोड़ कार्य करने के दिनों की हानि होती है। तपेदिक के नियंत्रण के लिए दो प्रकार के उपायों की आवश्यकता है। एक तो सामान्य हैं जिनमें पोषण के स्तर तथा वातावरण में सुधार का समावेश है, दूसरे विशेष हैं जिनका उसकी चिकित्सा और निवारण से संबंध है। तपेदिक के नियंत्रण के कार्यक्रम को प्राथमिकताओं के क्रम में इस प्रकार व्यक्त किया जा सकता है—बी० सी० जी० टीका, चिकित्सा की व्यवस्था, ट्रेनिंग और परीक्षण-केन्द्रों की स्थापना, चिकित्सा के लिए पृथक् अस्पतालों का प्रबन्ध तथा ठीक होने के बाद रोगियों की उचित देख-रेख। इसमें निवारण पक्ष पर बल देना बहुत ही आवश्यक है। विभिन्न देशों में हुए परीक्षण इस बात की पुष्टि करते हैं कि तपेदिक के उच्छेद में बी० सी० जी० टीके का महत्त्वपूर्ण स्थान है। बी० सी० जी के टीके देने के संबंध में भारत-सरकार और विश्व-स्वास्थ्य-संगठन और स० रा० अ० बाल आपात कोष के बीच एक समझौता हो गया है। यह आशा की जाती है कि यदि प्रस्तावित योजना पर अमल किया जाये तो तपेदिक से होनेवाली मृत्युओं को १५-२० साल में आज की तुलना में केवल २० प्रतिशत किया जा सकता है। इसका स्वाभाविक परिणाम होगा कि रोगियों के लिए आवश्यक स्थानों में भी उतनी ही कमी हो जायेगी। इस प्रकार बी० सी० जी० टीके पर व्यय किया धन बहुत ही उपयोगी सिद्ध होगा।

तपेदिक के नियंत्रण में चिकित्सालयों का, जहां पर निवारण, परीक्षा और चिकित्सा की समुचित व्यवस्था हो, होना अत्यावश्यक है। इसके लिए पंचवर्षीय योजना में विभिन्न स्थानों पर आदर्श केन्द्र स्थापित करने की सिफारिश की गई है। यह अन्दाज लगाया गया है कि तपेदिक-नियंत्रण के एक बहुत ही साधारण कार्यक्रम के लिए कम से कम ८ करोड़ रुपये की जरूरत है। राज्य और केन्द्रीय

सरकारों ने १९५१ से १९५६ के बीच इस कार्य के लिए ४.३ करोड़ रुपया खर्च करने का निश्चय किया है। १९५०-५१ में हमारे यहां विभिन्न सैनिटोरियमों, अस्पतालों और क्लिनिकों में केवल ९,५५० रोगियों के रहने की व्यवस्था थी, १९५६ में १३,०३२ रोगियों की व्यवस्था की आशा की जाती है। इस भांति पंचवर्षीय योजना के पूरा होने के पश्चात् भी अधिकांश तपेदिक के रोगियों को चिकित्सा की सुविधाएं प्राप्त न हो सकेंगी।

कुप्रसंगज रोग (Venereal Diseases). भारत में कुप्रसंगज व्याधियों से पीड़ित व्यक्तियों की संख्या का अन्दाज लगाना कठिन है। फिर भी कुछ लोगों का अन्दाज है कि १००० व्यक्तियों में लगभग ३७ व्यक्ति इनसे पीड़ित हैं। बम्बई, कलकत्ते और मद्रास जैसे शहरों में प्रायः ५ से ७ प्रतिशत व्यक्ति इनसे पीड़ित हैं। इसके अलावा कश्मीर, कुल्लू, हिमाचल प्रदेश और आसाम की पहाड़ी पट्टी में यह पर्याप्त विस्तृत है। इसके नियंत्रण के लिए परीक्षा और चिकित्सा की सुविधाओं का प्रसार आवश्यक है। कुप्रसंगज रोगों की चिकित्सा में पेंसीलिन और एंटीजन ओषधियां बहुत ही प्रभावशाली सिद्ध हुई हैं। भारत-सरकार ने विश्व-स्वास्थ्य-संगठन की सहायता से एक एंटीजन फैक्टरी बनाने की योजना स्वीकृत की है। पंचवर्षीय योजना में केन्द्र और राज्य-सरकारों द्वारा कुप्रसंगज रोगों के नियंत्रण के लिए लगभग १.६ करोड़ रुपये व्यय करने की व्यवस्था की गई है।

कोढ़ (Leprosy). भारत में कोढ़ से पीड़ित व्यक्तियों की संख्या कम से कम १० लाख है। इनमें से २॥ लाख लेप्रोमेट्स रोगी हैं। पश्चिमी बंगाल, उड़ीसा, मद्रास और त्रावनकोर कोचीन इससे विशेष रूप से प्रभावित हैं। किन्हीं-किन्हीं क्षेत्रों में तो २ से ५ प्रतिशत जनसंख्या इससे पीड़ित है।

अभी तक कुष्ठनिवारण और चिकित्सा की दिशा में जो भी कुछ प्रयास हुए हैं, वह मुख्यतः गैरसरकारी हैं। ईसाई मिशनों ने इस संबंध में अच्छा कार्य किया है। इसके अतिरिक्त, हिंद-कुष्ठनिवारण-संघ ने कोढ़-विरोधी कार्यों में सक्रिय सहायता दी है। गांधीस्मृति-कोष ने भी कोढ़-निवारण के लिए ९५ लाख रुपये की रकम स्वीकृत की है। देश की आवश्यकता को देखते हुए यह सर्वथा अपर्याप्त है। हमारे यहां अभी केवल १४,००० रोगियों के स्थानों की व्यवस्था है।

पंचवर्षीय योजना ने केन्द्र और राज्यों के कार्यक्रम में १.०२ करोड़ रुपया कोढ़ निवारण और चिकित्सा के लिए निर्धारित किया है। केन्द्र द्वारा १५ लाख की रकम से एक केन्द्रीय कुष्ठ-संस्था बनाने का भी प्रस्ताव है।

कैंसर. भारत में कम से कम २ लाख व्यक्ति हर साल कैंसर से मरते हैं।

शुरू में ही कैंसर का पता लग जाना और चिकित्सा उसके ठीक होने में बहुत महत्त्व पूर्ण है। हमारे यहां कैंसर की चिकित्सा का कोई समुचित प्रबन्ध नहीं है। सारे देश में टाटा मेमोरियल अस्पताल, बम्बई और चित्तरंजन अस्पताल, कलकत्ता, दो ही ऐसी संस्थाएं हैं, जहां इसकी चिकित्सा की व्यवस्था है। मद्रास का स्त्री-समाज वहां पर एक कैंसर अस्पताल शुरू करने के लिये प्रयत्नशील है। देश की आवश्यकताओं को देखते हुए अभी इस दिशा में विस्तृत प्रयत्नों की आवश्यकता है।

मानसिक रोग. हमारे यहां मानसिक रोग से पीड़ित व्यक्तियों का अनुमान लगाना पर्याप्त कठिन है। इसमें संदेह नहीं मानसिक दुर्बलता से आक्रान्त व्यक्तियों की संख्या अत्यधिक है। इनमें से कम से कम ८ लाख व्यक्ति तो ऐसे हैं, जिन्हें अस्पताल में रखने की आवश्यकता है। सारे देश में कुल १०,००० व्यक्तियों के लिए चिकित्सा की यह सुविधा उपलब्ध है। सार्वजनिक स्वास्थ्य-रक्षा के कार्यक्रम में मानसिक रोगों के चिकित्सा की समुचित व्यवस्था का होना जरूरी है। पंचवर्षीय योजना में बंगलोर के मानसिक अस्पताल के सहयोग से बननेवाले मानसिक स्वास्थ्य के अखिल भारतीय संस्थान के लिए ९७ लाख रुपये स्वीकृत किये गये हैं।

माताओं और बच्चों के स्वास्थ्य की शोचनीय अवस्था. माताओं और बच्चों का स्वास्थ्य वास्तव में किसी देश के नागरिकों के स्वास्थ्य की आधारशिला है। भारत में माताओं और बच्चों के स्वास्थ्य की अवस्था बहुत ही शोचनीय है। हमारे यहां मातृत्व मृत्यु-दर बहुत ही ऊंची लगभग २ प्रतिशत है जब कि माताओं की रोग-दर उससे भी २० गुना अधिक है। इसके अतिरिक्त, लगभग ४५ प्रतिशत बच्चे १० साल की उम्र से पहले ही इस संसार से चल देते हैं। इस प्रकार हमें धन-जन की भीषण हानि उठानी पड़ती है। हमारी ९८ प्रतिशत जनता को इस संबंध में कोई सुविधा प्राप्त नहीं है। राज्य-कर्मचारी-बीमा कानून में अवश्य बारह महीने काम करनेवाले कारखानों में काम करनेवाली स्त्रियों को मातृत्व लाभ देने की व्यवस्था की है। आवश्यकता इस बात की है कि इन सुविधाओं को यथासंभव अधिकाधिक जनता में विस्तृत करने का प्रयास किया जाय।

स्वास्थ्य शिक्षा का अभाव. उक्त समस्त बातों के अतिरिक्त, स्वास्थ्य रक्षा और उन्नति में स्वास्थ्य शिक्षा का भी, महत्त्वपूर्ण स्थान है। अनेक बार कुछ उपलब्ध साधनों के होते हुए भी हम अज्ञानवश उनका उपयोग नहीं कर पाते। लापरवाही और गन्दगी की बहुत सी आदतों को, जो अनेक रोगों का कारण होती हैं, उचित स्वास्थ्य शिक्षा द्वारा काफी अंशों में दूर किया जा सकता है। इस संबंध में रेडियो, सिनेमा और पोस्टरों से पर्याप्त सहायता ली जा सकती है। इसके

अतिरिक्त, हम शिक्षा के सामान्य पाठ्यक्रम में आरोग्यशास्त्र को एक अनिवार्य विषय के रूप में निर्धारित कर सकते हैं।

परिवार-आयोजन की आवश्यकता. भारत में परिवार-आयोजन भी स्वास्थ्य-संवर्धन-योजना का अभिन्न अंग कहा जा सकता है। अपनी क्षमता और सामर्थ्य सें बाहर अवांछित बच्चों को जन्म देना हमारी माताओं के खराब स्वास्थ्य और दुरवस्था के लिए बहुत कुछ उत्तरदायी है। अतः परिवार-नियोजन की दिशा में आवश्यक क़दम उठाना आवश्यक है।

विद्यमान स्वास्थ्य-सेवायें

विद्यमान चिकित्सा और रोग-निवारण की सेवाओं के बारे में ताजे आंकड़े उपलब्ध नहीं हैं। इस संबंध में १९४६ में प्रकाशित स्वास्थ्य पड़ताल और विकास समिति की रिपोर्ट में, जो कि अपने अध्यक्ष सर जोसेफ भोर के नाम से भोर-समिति के नाम से प्रसिद्ध है, दिये गये आंकड़े समान्यतः विद्यमान अवस्था का अच्छा परिचय देते हैं। १९४६ से १९५३ तक इस दिशा में कोई महत्त्वपूर्ण परिवर्तन नहीं हुआ है।

१. स्वास्थ्य कार्यकर्ताओं की संख्या. किसी देश की स्वास्थ्य सेवाओं का विकास मुख्यतः वहां प्राप्त स्वास्थ्य कार्यकर्ताओं की संख्या पर निर्भर है। इस संबंध में भोर-समिति द्वारा विद्यमान और उसकी योजना के अनुसार अपेक्षित कार्यकर्ताओं की संख्या के निम्न आंकड़े द्रष्टव्य हैं—

कार्यकर्ताओं की श्रेणी	भारत की विद्यमान जनसंख्या की तुलना में उसका अनुपात	इंग्लैंड में विद्यमान अनुपात	प्रस्तावित अनुपात
डाक्टर	६,३०० पर १	१००० पर १	२००० पर १
नर्सें	४३,००० पर १	३०० पर १	५००० पर १
स्वास्थ्य-निरीक्षक	४,००,००० पर १	४,७७० पर १	५,००० पर१
दाइयां	६०,००० पर १	६१८ पर १	४,००० पर१
कम्पाउंडर	४०,००,००० पर १	३ डाक्टरों पर १	३ डाक्टरों पर१
दांतों के डाक्टर	३,००,००० पर १	२,७०० पर १	४,००० पर१

उक्त आंकड़ों से स्वास्थ्य सेवकों की भीषण कमी तथा इस संबंध में इंग्लैंड की अवस्था तथा भारत में स्वास्थ्य सेवाओं के विस्तार के लिए आवश्यक कार्यकर्ताओं की संख्या का अनुमान लगाया जा सकता है।

२. नगरों और गांवों में चिकित्सा-व्यवस्था. नगरों की तुलना में गांवों में

चिकित्सा की सुविधाएं बहुत ही कम हैं। भोर-कमेटी के अनुसार नगरों, ग्रामों में इसका अनुपात ३.५ और १ है। इससे यह परिणाम निकाला जा सकता है कि देश के ७५ प्रतिशत डाक्टर केवल १७ प्रतिशत शहरी जनता की सेवा कर रहे हैं। १९५०-५१ में ८,६.०० अस्पतालों और शफाखानों में से केवल ५,००० गांवों में हैं।

३. **रोगियों के रखने की व्यवस्था.** प्रति १००० जनसंख्या पर अस्पतालों में रोगियों के रहने के स्थानों का अनुपात ०.२४ है, जब कि इंग्लैंड में यह ७.१४ तथा सं० रा० अमरीका में १०.२८ है।

४. **निवारक-स्वास्थ्य-संगठन.** विद्यमान निवारक स्वास्थ्य-सेवाओं में संलग्न व्यक्तियों का संगठन भी देश की आवश्यकता की तुलना में बहुत ही अपर्याप्त है। हमारे यहां कुल ३,००० स्वास्थ्य इंस्पेक्टर हैं, जब कि कम से कम १२,००० की आवश्यकता है। स्त्री-चिकित्सकों की संख्या भी, जिन्हें कि मातृत्व-रक्षा में विशेष शिक्षा प्राप्त हो, बहुत कम, कठिनाई से ७०-८० है। केवल दर्जन भर स्त्रियों को मातृत्व रक्षा और शिशु कल्याण की शिक्षा प्राप्त है।

५. **स्वास्थ्य-रक्षा की व्यवस्था में राजकीय सहायता और गैरसरकारी प्रयत्न.** हमारे यहां लगभग ९२ प्रतिशत स्वास्थ्य संस्थाएं सरकार द्वारा ही संचालित हैं, और मुश्किल से ८ प्रतिशत संस्थाएं ऐसी हैं, जिनका भार स्वयं व्यक्ति या व्यक्तिगत संस्थाएं उठाती हैं। सरकार द्वारा सहायता प्राप्त संस्थाओं में भी ९४.५ प्रतिशत तो ऐसी हैं जिनका पूरा खर्च सरकार उठाती है, तथा बाकी ५.५ प्रतिशत ऐसी हैं जिन्हें कि सरकारी ग्रांट मिलती है।

उक्त तथ्यों से यह स्पष्ट है कि देश की जनसंख्या और उसकी आवश्यकताओं के देखते हुए हमारे यहां उपलब्ध चिकित्सा और स्वास्थ्य-रक्षा की सुविधाएं सर्वथा अपर्याप्त हैं। इसका अनुमान उन पर व्यय धन की राशि से भी लगाया जा सकता है। १९४४-४५ में विभिन्न राज्यों में स्वास्थ्य-रक्षा पर किये गये प्रति व्यक्ति व्यय की राशि २.८ आने से लेकर १०.९ आने थी। देश की निर्धनता ही इस अल्प व्यय का प्रमुख कारण है।

श्रमिकों की स्वास्थ्य-व्यवस्था

जहां तक श्रमिकों के स्वास्थ्य और उसकी रक्षा की व्यवस्था का संबंध है, वह सामान्य नागरिकों की अवस्था से बहुत भिन्न नहीं है। सामान्य नागरिकों के स्वास्थ्य और रक्षा को जो कारण प्रभावित करते हैं, वह तो श्रमिकों पर भी लागू हैं, पर कुछ ऐसे उद्योगजन्य जोखिम हैं जो एकान्ततः श्रमिकों के स्वास्थ्य को

विशेष रूप से प्रभावित करते हैं। इस कारण श्रमिकों के स्वास्थ्य की रक्षा की विशेष व्यवस्था की आवश्यकता होती है। रहने और कार्य करने की अवस्थाएं विशेष रूप से उनके स्वास्थ्य पर असर डालती हैं। अतः उनके सुधार पर मुख्यतः ध्यान देना जरूरी हो जाता है।

कानून द्वारा प्राप्त स्वास्थ्य सेवायें. भारतीय फैक्टरी अधिनियम १९४८, कर्मचारी राज्य बीमा अधिनियम१९४८, विभिन्न मातृत्व लाभ अधिनियमों, कोयला और माइका खानों के श्रमिकों के निवासस्थान और सामान्य कल्याण कोष अधिनियम १९४६-४७, भारतीय व्यापार जहाजरानी अधिनियम १९२३, कुछ ऐसे कानून हैं, जो कि श्रमिकों की स्वास्थ्य-रक्षा के लिए व्यवस्थाएं करते हैं। सामाजिक सुरक्षा की चर्चा करते हुए हमने उनका विस्तार से वर्णन किया है। यहां संक्षेप में इतना ही कहना यथेष्ट है कि श्रमिकों की स्वास्थ्य रक्षा की आवश्यकताओं को दृष्टि में रखते हुए यह सर्वथा अपर्याप्त हैं।

मालिकों द्वारा प्राप्त स्वैच्छिक सेवायें. विभिन्न श्रम कल्याण अधिनियमों ने श्रमिकों को कुछ स्वास्थ्य-रक्षा संबंधी सुविधाएं दिलवाई हैं। इसके अलावा कुछ गिने चुने ऐसे भी मालिक हैं, जिन्होंने स्वेच्छा से श्रमिकों की स्वास्थ्य-रक्षा के लिए आवश्यक व्यवस्था जुटाने में हाथ बटाया है। टाटा स्टील कम्पनी, दिल्ली क्लाथ मिल, बकिंघम कर्नाटक मिल, कानपुर का नाम इस संबंध में उल्लेखनीय है। इसके अतिरिक्त, कपड़े, जूट, कागज, सिमेंट की कुछ मिलों और कारखानों तथा कोयले, मैंगनीज और माईका की कुछ खानों में भी चिकित्सा की सुविधाएं दी गई हैं। भारतीय रेलों में इसकी अच्छी व्यवस्था है। किंतु अधिकांश मालिक इस ओर से प्रायः उदासीन हैं।

उद्योगों में काम करनेवाले श्रमिकों की स्वास्थ्य-योजनाएं

भोर-कमेटी की सिफारिश थी कि श्रमिकों व सामान्य नागरिकों को प्राप्त होनेवाली स्वास्थ्य-सेवाओं की सुविधाएं तो मिलनी ही चाहिएं, पर इसके अतिरिक्त उन्हें कुछ विशेष सुविधाओं का प्रदान करना आवश्यक है। इसके लिए उसने लन्दन के रायल कालिज आफ फिजीशियन्स की सामाजिक और निवारक चिकित्सा समिति की सिफारिशों को स्वीकार किया था, जो इस प्रकार है :—

(क) अच्छा कार्य करने के वातावरण की व्यवस्था,
(ख) पेशेजन्य रोगों का निवारण,
(ग) कार्य में हानि से रक्षा की व्यवस्था ,
(घ) आकस्मिक चिकित्सा की सेवा का संगठन,

(ङ) आहत और विकलांगों की पूर्ण कार्यक्षमता की पुनःप्राप्ति,
(त) श्रमिकों को स्वास्थ्य संरक्षण और कल्याण की शिक्षा,
(थ) अन्वेषण और गवेषणा को प्रोत्साहन।

भोर-कमेटी के अनुसार श्रमिकों के स्वास्थ्य की सामान्य आवश्यकताएं समाज को प्राप्त स्वास्थ्य सेवाओं से ही पूरी होंगी, और जहां तक प्रस्तावित औद्योगिक स्वास्थ्य-सेवा का संबंध है, वह केवल उसकी विशेष आवश्यकताओं को पूरा करने के लिए ही उपलब्ध होंगी। फिलहाल राज्य कर्मचारी बीमा योजना में श्रमिकों को जो सुविधाएं उपलब्ध हैं, वह भोर-समितिं द्वारा प्रस्तावित सुविधाओं से छः गुना अधिक हैं। किंतु इस संबंध में यह बात द्रष्टव्य है, कि बीमा योजना की सुविधाएं बहुत ही थोड़े श्रमिकों को प्राप्त हैं, दूसरे उन्हें उसे प्राप्त करने में स्वयं कुछ अंश देना पड़ता है।

सामाजिक बीमा बनाम सार्वजनिक स्वास्थ्य सेवा. श्रमिकों को स्वास्थ्य-सेवा की सुविधाएं प्रदान के करने के संबंध में दो भिन्न तरीके प्रस्तावित किये गये हैं। एक तो सामाजिक सहायता के साथ सामाजिक बीमा है, दूसरा सार्वजनिक रक्षा सेवा है। सामाजिक बीमा और सार्वजनिक स्वास्थ्य-सेवा के विषय को लेकर १९४७ के दिल्ली में हुए प्रादेशिक एशियाई श्रम सम्मेलन में भी बहस हुई थी और उसने एशिया के विशिष्ट सामुदादिक संगठन और परिस्थितियों को देखते हुए सार्वजनिक स्वास्थ्य-सेवा के पक्ष में अपना मत दिया था। उसके अनुसार एशियाई देशों की ग्राम्यप्रधान अर्थव्यवस्था में, जहां कि रहन-सहन का दर्जा बहुत गिरा हुआ है तथा अधिकांश जनता निवारक रोगों से पीड़ित है, विना किसी भागधेय (Contribution) के सार्वजनिक स्वास्थ्य-सेवाओं का विस्तार उपयुक्त है, किंतु कुछ संगठित वर्गों, जैसे कि उद्योगी श्रमिकों, के लिए सामाजिक बीमा का सिद्धांत अपनाया जा सकता है।

भोर-समिति की स्वास्थ्य-योजना

भारत में स्वास्थ्य और पोषण, स्वास्थ्य-रक्षा और चिकित्सा की समस्याओं पर विचार करते हुए भोर-समिति की स्वास्थ्य योजना पर विचार करना आवश्यक हो जाता है। १९४४ में तत्कालीन स्वास्थ्य-डाइरेक्टर सर जोसेफ भोर की अध्यक्षता में भारत सरकार ने एक समिति नियुक्त की थी, जिसका कार्य विद्यमान स्वास्थ्य की अवस्था का अध्ययन तथा स्वास्थ्य-विकास के लिए एक योजना प्रस्तुत करना था। १९४६ में स्वास्थ्य पड़ताल और विकास-समिति ने भारत सरकार को अपनी रिपोर्ट प्रस्तुत की। यह रिपोर्ट भोर-समिति की

रिपोर्ट के नाम से प्रसिद्ध है। भारत में स्वास्थ्य-विकास की योजनाओं में इसका सबसे महत्त्वपूर्ण स्थान है। यह एक विस्तृत योजना है, जिसमें पहली बार भारत की स्वास्थ्य-समस्याओं को एक एकीकृत और वैज्ञानिक रूप से सुलझाने का प्रयत्न किया गया है। यह योजना १९४४ में देशी राज्यों को छोड़ संयुक्त भारत को ध्यान में रखकर बनाई गई थी। अतः देश के विभाजन और इसके बनने के बाद पर्याप्त समय बीत जाने के कारण, इसमें पर्याप्त हेर-फेर होना स्वाभाविक है। फिर भी इससे इन्कार नहीं किया जा सकता कि देश के लिए किसी भी नई स्वास्थ्य-योजना के बनाने में इससे अनन्त सहायता मिलेगी।

यह योजना दो भागों में विभक्त है, (१) दीर्घकालीन जो कि आनेवाले ३०-४० सालों के लिए है, (२) अल्पकालीन जो प्रथम १० सालों के लिए है और पांच-पांच साल की दो योजनाओं में विभक्त है।

योजना के मार्ग-दर्शक सिद्धांत

भोर-समिति ने अपनी स्वास्थ्य योजना के निर्माण में निम्न मार्ग-दर्शक सिद्धांतों को स्वीकार किया है:—

१. कोई व्यक्ति चिकित्सा का व्यय न उठाने के कारण उसकी सुविधाओं से वंचित न रह जाय।

२. स्वास्थ्य सेवाओं का उद्देश्य रोग-परीक्षा और चिकित्सा के लिए आवश्यक, समस्त प्रकार की सलाह, प्रयोगशालाओं, अस्पताल इत्यादि, संस्थाओं की सुविधाएं जुटाना, होना चाहिए।

३. निवारक कार्य पर विशेष जोर देना आवश्यक है। इसके लिए जहां तक संभव हो, जनता के घरों में और बाहर जहां वह कार्य या मनोरंजन के लिए जमा होती हो, स्वस्थ वातावरण की सृष्टि करना है।

४. गांवों की विशाल जनसंख्या के लिये यथासंभव अधिक से अधिक चिकित्सा और निवारक कार्य की व्यवस्था होनी चाहिए।

५. जनता के जितने पास संभव हो, स्वास्थ्य सेवाओं की व्यवस्था होनी चाहिए। इस उद्देश्य के लिए स्वास्थ्य शासन की इकाई जितनी छोटी हो सके, होनी चाहिए।

६. स्वास्थ्य कार्यक्रम के विकास में जनता का जितना अधिक से अधिक सक्रिय सहयोग प्राप्त किया जा सके, प्राप्त करना चाहिए और इस उद्देश्य के लिए जनता में स्वास्थ्य शिक्षा का अधिकाधिक प्रसार कर उन्हें प्रोत्साहित करना चाहिए।

७. योजना की सफलता के लिए उसका लोकप्रिय स्वास्थ्य मंत्रिमंडलों के अधीन होना आवश्यक है ।

दीर्घकालीन योजना

जैसा कि प्रकट है, योजना का उद्देश्य स्वास्थ्य संरक्षण, रोग-परीक्षा, परिचर्या, चिकित्सा और स्वास्थ्य उन्नति और स्वास्थ्य शिक्षा की सुविधाओं का प्रदान करना है। इसके लिए केवल डाक्टर की ही जरूरत नहीं, किंतु नर्स, दाई, स्वास्थ्य इंजीनियर, अध्यापक और सामाजिक कार्यकर्त्ता का सहयोग भी अपेक्षित है। इन सबके कार्य की एक इकाई में एकीकरण की आवश्यकता है। इस भांति, योजना की बुनियाद प्राथमिक स्वास्थ्य केन्द्र हैं, जहां से स्वास्थ्यवर्द्धक, निवारक और चिकित्सा सेवायें शुरू होंगी। यह सबसे छोटी इकाई दूर गांवों में ऐसी जगह स्थापित होना चाहिए, जहां से प्रत्येक गांववासी अपने घर और उससे बाहर सलाह और चिकित्सा प्राप्त कर सके। यह प्राथमिक स्वास्थ्य केन्द्र अपने से बड़े माध्यमिक स्वास्थ्य केन्द्रों और अन्ततः मुख्य केन्द्रीय अस्पतालों से जुड़े होने चाहिएं। इन मुख्य केन्द्रीय अस्पतालों में विशेषज्ञ कार्यकर्त्ता होंगे तथा उनकी ट्रेनिंग और अन्वेषण की व्यवस्था होगी। उसे हम केंद्रीय अस्पताल से न शुरू कर, प्राथमिक इकाई से शुरू करेंगे ।

प्राथमिक इकाई (Primary Unit). जिले की जनसंख्या के घनत्व और क्षेत्रफल के अनुसार प्रत्येक १०,००० से २०,००० व्यक्तियों के लिए एक प्राथमिक इकाई होगी। उदाहरणार्थ, पश्चिमी बंगाल में २०,०००जनसंख्या केवल ९० वर्गमील में, जब कि उड़ीसा में ५०० वर्गमील रहती है। इस प्रकार २०,००० जनता के लिए प्राथमिक इकाई के आधार पर ३० लाख जनसंख्या के लिए ऐसी १५० इकाइयों की आवश्यकता होगी। इस इकाई का केन्द्रीय कार्यालय एक स्वास्थ्य केंद्र होगा, जिसके अस्पताल में ७५ चारपाइयां होंगी (जिनमें माताओं और बच्चों की चारपाइयां भी सम्मिलित हैं), मेडिकल अफसर होंगे, एक मैट्रन, नर्सिंग स्टाफ, सार्वजनिक स्वास्थ्य नर्सें, दाइयां, सार्वजनिक स्वास्थ्य इंस्पेक्टर, स्वास्थ्य सहायक, सामाजिक कार्यकर्त्ता तथा विविध कर्मचारी होंगे। केंद्र में अन्दर और बाहर के रोगियों के लिए ओषधि, शल्य, प्रसूति और स्त्री-रोग चिकित्सा की व्यवस्था होगी। यह स्वास्थ्य-केंद्र प्राथमिक इकाई के हृदय के समान होंगे और उसको जीवित रखने के लिए आवश्यक रक्त प्रदान करेंगे ।

इस इकाई के अन्तर्गत क्षेत्र पुनः चार क्षेत्रों (Circles) में विभक्त होगा,

जिनमें से स्वास्थ्य केन्द्र एक होगा। इनमें से प्रत्येक गांव या उसके आसपास ग्राम्यकार्य के लिए विशेषरूप से ट्रेनिंग प्राप्त सार्वजनिक स्वास्थ्य नर्स और दो दाइयां रहेंगी। माताओं और बच्चों के कल्याण, स्कूल के स्वास्थ्य तथा अन्य निवारक सेवाओं का आयोजन इनका कार्य होगा। यह सार्वजनिक स्वास्थ्य नर्सें सप्ताह में एक या दो बार लोगों को बुलाकर उनकी चिकित्सा करेंगी तथा आवश्यक हिदायतें देंगी। स्वास्थ्य केन्द्र में से एक स्त्री डाक्टर इनमें से प्रत्येक दूसरे सत्र में उपस्थित होगी।

स्वास्थ्य केन्द्र के सार्वजनिक स्वास्थ्य इंस्पेक्टर समस्त प्राथमिक इकाई क्षेत्र में संरक्षित जलपूर्ति, सफाई, मलेरिया विरोधी कार्य और वातावरण आरोग्य के कार्यों का निरीक्षण करेंगे। स्वास्थ्य केन्द्र के सहायक शफाखाना चलाने के अलावा, गांवों में जन्म-मृत्यु के आंकड़ों का संकलन तथा मेडिकल स्टाफ के निरीक्षण में गांवों में निरोध और चिकित्सा कार्यों का संचालन करेंगे।

माध्यमिक इकाई (Secondary Unit). तीस प्राथमिक इकाइयां एक माध्यमिक इकाई से संयुक्त होंगी। माध्यमिक इकाई अधिक श्रेष्ठ और विशेषता प्राप्त प्रकार का स्वास्थ्य केन्द्र होगा और यह प्राथमिक इकाइयों के कार्य का निरीक्षण करेगा। इसके अस्पताल में ६५० चारपाइयां, ओषधि, शल्य, मातृत्व, तपेदिक और रोग परीक्षा के अलग-अलग विभाग होंगे, जिनमें लगभग १४० डाक्टर काम करेंगे। इन विभागों के अध्यक्ष प्राथमिक इकाइयों के कार्यों का निरीक्षण करेंगे। इसके अलावा, शासन अधिकारी भी होंगे, जैसे कि उच्च सार्वजनिक स्वास्थ्य नर्स और इंस्पेक्टर और सहायक सार्वजनिक स्वास्थ्य इंजीनियर, जो प्राथमिक इकाइयों के इंस्पेक्टरों के कार्यों का नियंत्रण और निरीक्षण करेंगे। यदि तीस प्राथमिक इकाइयों में से प्रत्येक २०,००० जनता की सेवा करेगी, तो उस अवस्था में लगभग ६ लाख जनता के लिए एक माध्यमिक होगी। इस प्रकार एक तीस लाख आबादी वाले जिलों में, ५ माध्यमिक इकाइयां होंगी जो कि सीधे जिला केन्द्रीय कार्यालय संगठन से संबंधित होंगी।

जिला केन्द्रीय कार्यालय संगठन (Headquarters Organisation) तीस लाख व्यक्तियों पर जिला स्वास्थ्य-संगठन का एक केन्द्रीय कार्यालय होगा। इसके ऊपर सारे जिले की स्वास्थ्य-सेवाओं का इंचार्ज एक अफसर होगा। इसे एक ओर जिला स्वास्थ्य बोर्ड, जो कि जनता की प्रतिनिधि संस्था होगी तथा दूसरी ओर जिला स्वास्थ्य कौंसिल जो कि स्वास्थ्य-सेवाओं की प्रतिनिधि होगी, दोनों संस्थाएं सलाह देंगी। उसके नीचे अन्य सहायक अधिकारी होंगे, जो कि डाक्टरी सहायता, सार्वजनिक स्वास्थ्य, माताओं और बच्चों के कल्याण,

वातावरण आरोग्य और नर्सिंग व्यवस्था की देखभाल करेंगे। उसके स्टाफ में सार्वजनिक स्वास्थ्य इंजीनियर भी होंगे, जो कि वातावरण आरोग्य और मलेरिया विरोधी कार्यों का संचालन करेंगे।

जिला स्वास्थ्य केन्द्र में एक अथवा कई अस्पताल होंगे जिनमें २,५०० चारपाइयां होंगी तथा लगभग २५० डाक्टर काम करेंगे। यहां पर छूत की बीमारियों, मानसिक रोगों, कोढ़, तपेदिक इत्यादि रोगों की चिकित्सा के लिए विशेष और पृथक् व्यवस्था होगी।

सम्पूर्ण योजना का रूप. इसमें संदेह नहीं कि इस योजना के कार्यान्वित होने पर देश के प्रत्येक कोने में प्रत्येक देशवासी को स्वास्थ्य-रक्षा और उन्नति की सुविधाएं प्राप्त हो जायेंगी। किंतु इसे संभव बनाने के लिए परिवहन और संचार का भी साथ-साथ विकास करना होगा। यदि हम यह मान लें कि योजना के पूरा होने तक हमारी आबादी ३८ करोड़ से अधिक न बढ़ेगी, तो हमारी स्वास्थ्य सेवाओं में लगभग १२५ जिला स्वास्थ्य-संगठन, ६२५ माध्यमिक इकाइयां, तथा १८,७५० प्राथमिक इकाइयां होंगी।

यह एक बहुत बृहत् कार्य है, जिसे तत्काल सम्पन्न नहीं किय जा सकता। इसलिए हमें इसे पूरा करने के लिए एक पर्याप्त लम्बी अवधि निश्चित करनी होगी और उसे पांच या दस साल के कार्यक्रमों में बांटना होगा। इन लक्ष्यों को प्राप्त करने की सफलता, मूलतः आवश्यक धन की राशि, इमारतों और ट्रेनिंग की प्राप्त सुविधाओं पर निर्भर है। इस योजना को पूरा करने के लिए आवश्यक साधन एकदम नहीं जुटाये जा सकते।

अल्पकालीन दसवर्षीय योजना

अपने लक्ष्य पर पहुंचने के लिए हमें क्रमशः आगे बढ़ना होगा। शुरू के पांच सालों में योजना का लक्ष्य ४०,००० जनता के लिए एक प्राथमिक इकाई की स्थापना होगा। इस इकाई में ६ डाक्टरों की जगह २, और ८० कार्यकर्त्ताओं की जगह केवल ३४ कार्यकर्ता होंगे। इकाई में पहलेपहल कुल ४ इमरजेंसी चारपाइयां होंगी, तथा प्रत्येक ४ इकाइयों के लिए ३० चारपाइयों का अस्पताल होगा। दूसरी अवस्था में प्रत्येक दो इकाइयों के लिए ३० चारपाइयां, तीसरी में प्रत्येक इकाई के लिए ३० चारपाइयां तथा अंतिम अवस्था में प्रत्येक अस्पताल में ७५ चारपाइयां हो सकती हैं। इसी प्रकार माध्यमिक इकाई भी शुरू में २०० चारपाइयों से शुरू होगी और जिला संगठन का रूप भी उसी के अनुसार होगा।

अल्पकालीन योजना में प्रति ३० लाख व्यक्तियों के पीछे प्रस्तावित विकास बहुत कुछ इस प्रकार होगा :—

	पहला वर्ष	पांचवां वर्ष	दसवां वर्ष
प्राथमिक इकाइयां	५	१०	२५
शफाखानें	५	१०	२५
३० चारपाईवाले अस्पताल	१	२	१३
माध्यमिक इकाइयां	१	२	२
२०० चारपाईवाले अस्पताल	१	१	१
५०० चारपाईवाले अस्पताल	—	—	१

प्रत्येक प्राथमिक इकाई के लिए अल्पकाल में २ मेडिकल अफसरों, ४ सार्वजनिक स्वास्थ्य नर्सों, एक शफाखाने से संयुक्त नर्स, ४ दाइयों, ४ मिड-वाइफों, २ सफाई इंस्पेक्टरों, २ स्वास्थ्य सहायकों, २ क्लर्कों, १ मिस्त्री, १ कम्पाउंडर और नौकरों के रखने की सिफारिश की गई है।

अल्पकालीन योजना में समस्त प्रांतों में नई चिकित्सा संस्थाओं की वृद्धि का निम्न अनुमान लगाया गया है :—

	४ चारपाई वाले शफाखाने	३० चारपाई वाले अस्पताल	२०० चारपाई वाले अस्पताल	५०० चारपाई वाले अस्पताल
पहले छः वर्ष बाद	२,२९३	६३९	२१६	कोई नहीं
पहले दस वर्ष बाद	३,९०५	१,९९०	२१६	१३९

इसके अतिरिक्त, तपेदिक, मानसिक रोगों और कोढ़ के लिए पृथक् अस्पतालों की व्यवस्था होगी।

प्रस्तावित व्यय. भोर-समिति में प्रथम दसवर्षीय योजना को कार्यान्वित करने के वार्षिक व्यय का अनुमान १ रु० १४ आने प्रतिव्यक्ति लगाया गया है। दस वर्ष तक पूंजी के व्यय का अनुमान ३६३ करोड़ रुपये या ३६ करोड़ वार्षिक या १ रु० प्रतिव्यक्ति है। यह न तो अत्यधिक ही है और न ही इतना है जिसे कि न उठाया जा सके। हमारे यहां विभिन्न राज्य अपनी आय का औसतन ५ प्रतिशत स्वास्थ्य सेवाओं पर खर्च करते हैं, जब कि इंग्लैंड में इस पर २५ प्रतिशत खर्च होता है। यदि राज्य-सरकारें अपनी आय का १५ से २० प्रतिशत स्वास्थ्य-सेवाओं पर खर्च करने को तैयार हों, तभी इस योजना को कार्यान्वित किया जा सकता है।

पांचवां अध्याय

ग्राम-जीवन, उसका पुनर्निर्माण और आयोजन

ग्राम और समाज

अनाज के उपजने का ज्ञान होने पर मानव जाति के आदिवासी परिवारी कुटुम्ब और कबीलों ने जो भोजन की खोज में शिकार या पशुओं के चारे के लिए इधर- उधर मारे फिरते थे, एक जगह स्थिर हो बसने की ठानी और कृषि को अपना प्रमुख उद्यम बनाया और इस प्रकार गांवों की बुनियाद पड़ी। कृषि ने मनुष्य की भोजन की चिंता को बहुत कम कर दिया और उसे पर्याप्त अवकाश प्रदान किया। अपेक्षतया समृद्ध जीवन और अवकाश ने पर्याप्त सामाजिक उन्नति का सुयोग प्रदान किया और इस प्रकार मनुष्य की सबसे पहली सभ्यताओं का जन्म समृद्ध कृषि-क्षेत्रों में हुआ। अतएव हम कह सकते हैं कि गांवों का विकास मानव जाति के सामाजिक विकास में दूसरी महत्त्वपूर्ण मंजिल है।

सामान्यतः ग्राम समाजों में सुदूर प्रदेशों और देशों से व्यापार का प्रारंभ नहीं हुआ। इसलिए आत्मनिर्भरता ग्राम जीवन का एक प्रमुख लक्षण रही। गांवों का जीवन वहुत सरल, आवश्यकताएं बहुत ही सीमित और जनसंख्या बहुत ही कम होती है। यह सीमित जनसंख्या अपनी आवश्यकताओं को स्वयं पूरा करने का प्रयत्न करती है। गांवों के रहनेवाले सब लोगों का जीवन, उसके अन्य सदस्यों पर अत्यधिक निर्भर होता है; वह प्रायः रोज ही एक दूसरे से मिलते हैं और सबों को भली भांति पहचानते हैं। इस प्रकार उनमें अधिक एकता की भावना और आत्मीयता होती है। वह एक दूसरे को बहुत ही प्रबलता से प्रेरित करते हैं। इन अर्थों में ग्राम एक पृथक् और लघु समुदाय है। यह ऐसा समुदाय ह जो न केवल सभी हितों की रक्षा करता है, बल्कि सदा के साहचर्य के कारण वह अपने सदस्यों के व्यवहार को बहुत प्रभावित करता है। इसलिए हम उसे एक प्राथमिक समूह कह सकते हैं।

इसके अतिरिक्त कृषि पर निर्भरता ग्राम-जीवन की एक अन्य प्रमुख विशेषता है। कृषि पर यह निर्भरता उसके रहन-सहन के स्तर, उसके परिवार, शिक्षा, स्वास्थ्य, मनोरंजन, यहां तक विचारधारा, विश्वास और मनोवृत्ति सबों पर

एक विशेष प्रभाव डालती है और इस प्रकार उसके रहनेवालों को जंगलों अथवा नगरों के रहनेवालों से पृथक् करती है।

भारत में ग्रामों का महत्त्व

भारत की ३५ करोड़ जनसंख्या में से २५ करोड़ गांवों में रहती है इसका अर्थ यह हुआ कि हमारी ८७ प्रतिशत जनता गांवों में ही रहती है। भारत में लगभग ५ लाख गांव हैं, जो सारे देश में बिखरे हुए हैं। इस प्रकार यह कहने में अत्युक्ति न होगी कि भारत गावों का देश है। भारत के सामाजिक जीवन में गांवों का प्रमुख स्थान है। भारत के सामाजिक जीवन और उसकी समस्याओं की, विस्तृत और सामान्य दोनों ही प्रकार की जानकारी के लिए, उसके गांवों के जीवन को समझना और जानना आवश्यक है। भारत के सामाजिक जीवन के पुर्ननिर्माण में गांवों का पुर्ननिर्माण पहला स्थान रखता है।

संक्षेप में हम अगले पृष्ठों में भारतीय ग्राम-जीवन की प्रमुख विशेपताओं, समस्याओं और उनके समाधान के उपायों पर प्रकाश डालने की चेष्टा करेंगे।

भारतीय ग्राम-जीवन के मुख्य लक्षण

सार्वभौम और विशेष तत्त्व. यों तो सभी ग्राम संस्कृतियों के जीवन में पर्याप्त एकता पाई जाती है। ग्राम जीवन के कुछ ऐसे लक्षण और विशेषताएं हैं, जो कि हमें भारत, इंग्लैंड, रूस, अमरीका, चीन सभी देशों के ग्रामों में समान रूप से दृष्टिगोचर होंगी। इन्हें हम ग्राम जीवन के सार्वभौम लक्ष्य या तत्त्व कह सकते हैं। इसके अलावा ग्राम जीवन के कुछ ऐसे तत्त्व या तथ्य हैं जो हमें प्रत्येक देश में समान रूप से नहीं मिलते, उन्हें हम आकस्मिक, पारिस्थितिक, संक्रमण-कालीन, परिवर्तनशील या राष्ट्रीय तत्त्व या तथ्य कह सकते हैं।

विशेष की परिवर्तनशीलता. इसके अलावा एक विशेष संस्कृति में भी कोई एक विशेषता, स्थिति या तथ्य सदैव विद्यमान नहीं रहता। उसमें पर्याप्त परिवर्तन होते रहते हैं। बाह्य और आन्तरिक प्रभाव उसके स्वरूप और धारणाओं में निरंतर हेर-फेर उपस्थित करते रहते हैं। यह किसी भी सामाजिक जीवन का, चाहे वह ग्राम हो अथवा नगर, एक गतिशील (Dynamic) पहलू है। यद्यपि हमें यह न भूलना चाहिए कि इस गतिशीलता की रफ्तार स्वयं पूर्वनिश्चित नहीं ह, उसमें तेजी और हल्कापन आता रहता है।

भारतीय ग्राम जीवन की विशेषताओं का अध्ययन करते समय उक्त सार्वभौम और विशेष, जड़ और परिवर्तनशील पहलुओं को निरन्तर दृष्टि में रखना अत्यावश्यक है।

१. निर्धनता. शहरों से भारत के गांवों में जानेवाले किसी भी दर्शक का सबसे अधिक ध्यान आकर्षित करनेवाली चीज, गांवों की गरीबी है। वहां की अधिकांश जनता ऐसी है जिसे भरपेट भोजन नहीं मिलता, तन ढंकने के लिए साधारण कपड़े नसीब नहीं होते, रहने के लिए मामूली मकान मयस्सर नहीं होते। उनका रहन-सहन का दर्जा बहुत ही गिरा हुआ है। यह बात नहीं कि शहरों में गरीबी नहीं है। फर्क सिर्फ इतना है कि गांवों के पल्ले में गरीबी का सबसे ज्यादा हिस्सा पड़ा है। गांव का मजदूर और किसान खेत और खलिहान में, बिना रात और दिन, आंधी और बरसात, कड़ी सर्दी और भीषण गर्मी की परवाह किये जी तोड़ मेहनत करता है, फिर भी उसे इतनी आमदनी नहीं हो पाती कि जिससे वह आसानी से अपना और अपने परिवार का गुजारा कर सके। आखिर इसका क्या कारण है ?

गांवों की गरीबी का कोई एक कारण नहीं जिसे कि उसके लिए जिम्मेदार ठहराया जा सके। उसकी गरीबी के अनेक और विविध कारण हैं। उन अनेक कारणों को हम छः मुख्य श्रेणियोंमें बांट सकते हैं, (क) कृषि पर अत्यधिक निर्भरता, (ख) पिछड़ी कृषि, (ग) सहायक या कुटीर उद्योगों का अभाव, (घ) बेकारी, (ङ) ऋण-ग्रस्तता, (च) बढ़ती जनसंख्या। हम संक्षेप में क्रमशः इन पर विचार करेंगे।

(क) **कृषि पर अत्यधिक निर्भरता.** यों तो कृषि पर निर्भरता ग्राम जीवन की प्रमुख विशेषता है। पर इस निर्भरता की भी सीमाएं हैं। विभिन्न ग्राम संस्कृतियों में इस निर्भरता का अल्पाधिक अनुपात है। यह निर्भरता का अनुपात उन संस्कृतियों के आर्थिक स्तर को अत्यन्त प्रभावित करता है। हम निर्धनता और समृद्धि की सामान्य विवेचना करते हूए यह देख चुके हैं कि किसी देश की प्राथमिक उद्योगों पर, जिसमें कृषि मुख्य है, अत्यधिक निर्भरता उसकी निर्धनता का प्रधान कारण है। जब कि किसी समाज में त्रैयिक उद्योगों, अर्थात् व्यापार, सेवाओं, बैंकिंग इत्यादि कार्यों में लगी जनता का अधिक अनुपात उनकी समृद्धि का सूचक है। इस दृष्टि से भारतीय ग्रामों की अवस्था बहुत ही दयनीय है, वहां की जनसंख्या का अत्यधिक, लगभग ७० प्रतिशत अनुपात केवल कृषि पर निर्भर है। अन्य किसी रोजगार के लिए उसके रास्ते प्रायः बन्द हैं। जनसंख्या की वृद्धि ने इस समस्या को और भी जटिल बना दिया है और जमीन पर बराबर जनसंख्या का जोर बढ़ता जा रहा है।

गांवों की गरीबी को कम करने के लिए एक कार्य उसका पेशेवार पुनर्वितरण है। इसके लिए कृषि पर निर्भर लोगों की संख्या के अनुपात में कमी करना आव-

श्यक है। किन्तु यह तभी संभव है, जब कि हम उनके लिए नये रास्ते खोलें। उसके लिए छोटे और बड़े उद्योगों का विकास पहली शर्त है।

(ख) **पिछड़ी कृषि.** एक देश मुख्यतः कृषि पर निर्भर रहकर भी समृद्ध और सम्पन्न हो सकता है, आस्ट्रेलिया, न्यूजीलैंड, कनाडा इसके ज्वलंत उदाहरण हैं। लेकिन इसके लिए आवश्यक है कि कृषि उत्पादक हो, अधिक उन्नत हो। भारत का यह दुर्भाग्य है कि उसकी कृषि बहुत ही पिछड़ी हुई है। अल्प उत्पादकता पिछड़ी कृषि का प्रधान लक्षण है। निस्संदेह उसके अनेक पारिस्थितिक और संस्थागत कारण भी हैं। इनका दूर होना कृषि की अवस्था में सुधार करने के लिए जरूरी है।

संक्षेप में उन तत्त्वों का विवेचन अप्रासंगिक न होगा जो कि भारतीय कृषि के पिछड़ेपन के लिए उत्तरदायी हैं।

भूमि की उपजाऊ शक्ति का ह्रास. यदि हम भारत की विभिन्न फसलों, विशेषकर अनाज की फसलों की उपज पर दृष्टि डालें तो ऐसा प्रतीत होता है कि उसमें निरन्तर कुछ कमी आती जा रही है। कुछ विशेषज्ञों की राय में यह क्रमशः भूमि की उपजाऊ शक्ति नष्ट हो जाने का प्रमाण है। स्वयं कृषि कमीशन की राय में भूमि की फसल-उत्पादन की क्षमता बराबर घटती जा रही है। इसका प्रधान कारण किसान द्वारा अच्छी उपज के लिए आवश्यक तत्त्वों का जमीन से खींच लेना और उस कमी को पुनः पूरा न करना है। इससे क्रमशः बढ़ता हुआ ह्रास तो सूचित नहीं होता, पर इतना अवश्य है साल पर साल जमीन जोती जाती है और उस पर फसलें बोयी जाती हैं, किन्तु उस पर खाद नहीं दी जाती। इसका नतीजा होता है कि एक स्थिर अवस्था आ जाती है। बंगाल प्रांतीय बैंकिंग जांच समिति की राय में भी खाद के अभाव में जमीन की उपजाऊ शक्ति क्रमशः कम होती जा रही है। वास्तव में भारत की जमीन कम उपजाऊ या खराब नहीं है, बल्कि उसे ऐसा बना दिया गया है। भूमि-विशेष डा० बाल की सम्मति में, भारत में जमीन की उपजाऊ शक्ति बिना उचित खादों और पोषण के एक निम्नस्तर पर जाकर स्थित हो गई है।

भूमि की उपजाऊ शक्ति के नाश को रोकने का एक ही उपाय है— भूमि की शक्तियों का संरक्षण और वर्धन। यह अच्छी खाद देने तथा उचित फसलों के हेर-फेर से ही संभव है। अनुभव से यह सिद्ध हुआ है कि खाद के अतिरिक्त, विशेषकर हेर-फेर कर, फलीदार फसलों का उत्पादन भूमि की उर्वरा शक्ति की पुनःप्राप्ति का अच्छा साधन है।

जल और सिंचाई की सुविधाओं की कमी. अच्छी फसलें उपजाने के लिए

पर्याप्त जल का समय पर मिलना अत्यावश्यक है। भारत में जल की प्राप्ति मुख्यत: मानसून पर निर्भर है, इसीलिये मात्रा और समय दोनों की ही दृष्टि से यह बहुत कुछ अनिश्चित है। इसके अतिरिक्त सभी प्रदेश मानसून से वर्षा प्राप्त नहीं करते। पंजाब और राजस्थान के प्रांत सर्वथा सूखे हैं। यहां पर कृषि की सफलता एकांतत: कृत्रिम सिंचाई पर निर्भर है। और फिर उत्तर-पश्चिमी भारत, दक्षिण और मद्रास के प्रदेश ऐसे हैं, जहां वर्षा सर्वथा अनिश्चित है। अत: ऐसे प्रदेशों में भी कृत्रिम सिंचाई की सुविधाओं का होना आवश्यक है। पिछले ६० सालों में सिंचाई के क्षेत्र में पर्याप्त विस्तार हुआ है। फिलहाल ५८० लाख, अर्थात् कुल जोती जानेवाली भूमि के २४ प्रतिशत भाग को सिंचाई की सुविधाएं प्राप्त हैं। अभी तक हमारे यहां मुख्यत: नहरी सिंचाई के विकास के प्रयत्न हुए हैं। नहरी सिंचाई के विस्तार के लिए एक तो बहुत अधिक पूंजी की आवश्यकता पड़ती है। दूसरे इसमें जमीन के कटने, ऊपर रेह आ जाने, इस प्रकार जमीन खराब हो जाने तथा बीमारियां फैलने की अनेक बुराइयां हैं। ऐसी स्थिति में कुंओं और नलकुंओं की सिंचाई का विस्तार और विकास अधिक उपयोगी है। पंचवर्षीय योजना में छोटी और मध्यम सिंचाई-योजनाओं के विकास के लिए ३० करोड़ रुपया स्वीकृत किया गया है। देश की सिंचाई की आवश्यकताओं को देखते हुए यह बहुत कम है। कृषि की उन्नति के लिए सिंचाई की सुविधाओं में पर्याप्त विस्तार आवश्यक ह। स्वयं प्लानिंग कमीशन की राय में, आनेवाले १५-२० सालों में खाद्य समस्याओं को हल करने के लिए वर्तमान सिंचाई-क्षेत्रफल को दुगुना करना आवश्यक है। प्रथम पंचवर्षीय योजना में सिंचाई के अन्तर्गत वर्तमान ५८० लाख एकड़ क्षेत्रफल में केवल १६९ लाख एकड़ की और वृद्धि हो सकेगी। अनुमान लगाया गया है कि जिन प्रदेशों में सिंचाई की सुविधाएं प्राप्त हो सकेंगी वहां की उपज में सरलता से २० से ३० प्रतिशत वृद्धि हो सकती है।

खाद की कमी. उचित मात्रा में खाद का उपयोग जमीन की उपजाऊ शक्ति को नष्ट होने से बचाने तथा उसमें वृद्धि करने का सर्वोत्तम उपाय है। जमीन के लिए खाद वही काम करती है जो कि शरीर के लिए भोजन। जैविक पदार्थ, नाइट्रोजन, फास्फोरस और पोटाश वह तत्त्व हैं जो कि जमीन को मिलने चाहिएं। गोबर, मूत्र, कम्पोस्ट, मैला, हरी खाद, खली, हड्डी का चूरा, सूखा खून, सींग और खुर तथा रासायनिक फर्टीलाइजर इसके प्रमुख साधन हैं। १९५१ की पशु-गणना के अनुसार, भारत में प्रतिवर्ष लगभग ८० करोड़ टन गोबर प्राप्त होता है, किन्तु इनमें से कम से कम आधा उपले बनाकर जलाने के काम में ले लिया जाता है। इस प्रकार अमूल्य खाद नष्ट हो जाती है। और हमारी जमीन

पोषक तत्त्वों से वंचित रह जाती है। आवश्यकता इस बात की है कि गोबर के इस विनाश को तत्काल रोका जाय तथा गांववालों में पत्थर का कोयला जलाने का प्रचार किया जाये। इसी प्रकार हमारे यहां पशुओं का मूत्र, जिसकी मात्रा का अनुमान उपलब्ध नहीं है, यों ही नष्ट होने दिया जाता है। मूत्र खाद का उत्तम साधन है। अतः इसके संग्रह और उपयोग का प्रयत्न जरूरी है। मनुष्य के मल और मूत्र में भी महत्त्वपूर्ण नाइट्रोजन, फास्फोरस और जैविक पदार्थ उपलब्ध हैं। हमारे यहां इसका समुचित उपयोग नहीं होता। गांववाले यों तो खेतों में ही शौच जाते हैं। किंतु इस प्रकार मल-मूत्र का ठीक उपयोग नहीं हो पाता। खुली हवा और धूप में उसके अनेक कीमती आवश्यक तत्त्व नष्ट हो जाते हैं। उनके संरक्षण के लिए उसे कुछ समय तक गाड़कर उसका कम्पोस्ट बनाना जरूरी है। इसके लिए गांवों में खाईवाली टट्टियों का भी प्रचार आवश्यक है। शहरों में, जहां कि मेहतर सफाई का काम करते हैं, प्रायः मल को कूड़े के साथ मिलाकर कम्पोस्ट बना दिया जाता है और बाद में वह खाद के रूप में किसानों को बेच दिया जाता है। हाल ही में अधिकांश राज्य-सरकारों ने म्युनिसिपैल्टियों और नोटीफाइड ऐरियाओं के लिए मल का कम्पोस्ट बनाना अनिवार्य कर दिया है। पिछले सालों में इस दिशा में पर्याप्त उन्नति भी हुई है जो कि आंकड़ों से स्पष्ट है। १९४६-४७ में कम्पोस्ट का उत्पादन केवल २·८९ लाख टन था, जो कि १९५१-५२ में बढ़कर १३.५९ लाख टन पर पहुंच गया। पर अभी भी लगभग ३,००० म्युनिसिपैल्टियों और टाउन एरियाओं में केवल १,६८४ नगरों में कम्पोस्ट बनाने की व्यवस्था है, जिससे आजकल प्रतिवर्ष लगभग १७ लाख टन कम्पोस्ट प्राप्त होता है। समस्त नगरों में इसका विस्तार कर इसकी मात्रा में पर्याप्त वृद्धि की जा सकती है। पंचवर्षीय योजना में इसे ३० लाख तक बढ़ाने की व्यवस्था है।

मानव और पशु-मूत्र का उपयोग एक प्रकार से मल और गोबर से भी अधिक महत्त्वपूर्ण है, क्योंकि इसमें कहीं अधिक अनुपात में नाइट्रोजन उपलब्ध है। शहरों में जमीन के नीचे नालियां होने के कारण इसका संग्रह सरल है, किंतु गांवों में यह कार्य कठिन है, जब तक कि वहां पर सामुदायिक मूत्रालय न हों और उनमें उसे सुखाने की पूरी व्यवस्था न हो। 'अग्रीसन' नामक मूत्रालय का आविष्कार कर भारतीय कृषि-गवेषणा इंस्टीट्यूट ने इस दिशा में प्रारंभिक कार्य किया है। इसके अपनाने की आवश्यकता है।

जमीन पर फलीदार फसलों का उगाना जमीन-निर्माण का एक सुविदित उपाय है। फलीदार फसलों में दालें मुख्य हैं। जमीन को शक्तिशाली बनाने के लिए फलीदार फसलों के उगाने का अभी पर्याप्त मात्रा में उपयोग नहीं हो रहा है। अतः

उसे बढ़ाने और प्रोत्साहित करने की आवश्यकता है। इसके लिए राज्य इन फसलों पर लगान और जल-कर में कुछ रियायत दे इसको आगे बढ़ा सकती है।

मूंगफली, सरसों, लाहा, अलसी, बिनौला, रेंडी, महुआ और नीम हमारे यहां खली के मुख्य साधन हैं। इनमें भी पर्याप्त मात्रा में नाइट्रोजन और फास्फोरिक एसिड प्राप्त है। हमारे यहां खाद्य-खली का उपयोग, मुख्यतः दुधारू पसुओं को खिलाने में होता है, जो उचित भी है। आवश्यकता इस बात की है कि अखाद्य खलियों का खाद के रूप में उपयोग हो और उनका उत्पादन बढ़ाया जाय। खून, सींग, खुर और बेकार मांस पर्याप्त मात्रा में बूचड़खानों से उपलब्ध हो सकते हैं और इनका खाद के रूप में कीमती उपयोग हो सकता है। अभी तक इस ओर ध्यान नहीं दिया गया है। अनुमान लगाया गया है कि देश के बूचड़खानों से हर साल १०,००० टन सूखा खून प्राप्त किया जा सकता है। इसके अलावा बूचड़-खानों में उपलब्ध खालों के टुकड़ और बेकार मांस, जिसे कि 'तंकाज' कहते हैं, फलों और तरकारियों के लिए बहुत ही उत्तम खाद है। म्युनिसिपैल्टियां इस काम को अपने हाथ में ले हमारी खाद की समस्या में सहायता प्रदान कर सकती हैं।

इसके अतिरिक्त, हड्डियां भी खाद का उत्तम साधन हैं। आजकल इसकी ७५ प्रतिशत मात्रा विदेशों को भेज दी जाती है। हमारे यहां हड्डियों का औसत संग्रह १,५०,००० टन है। आवश्यकता इस बात की है कि इसके निर्यात को रोका जाय और साथ ही यहां पर सरेंश और जिलेटीन के उद्योग का भी प्रारंभ किया जाये, ताकि उससे खाद की मांग भी पूरी हो सके तथा पूरा आर्थिक लाभ भी उठाया जा सके। हाल ही में जापान से एक बोन डाइजेस्टर का आयात किया गया है जिससे कि सरेश और जिलेटीन अलग की जा सकती है और फिर हड्डियों को आसानी से पीसा जा सकता है। इसके अधिकाधिक प्रचार और प्रसार की आवश्यकता है।

रासायनिक खादों में अमोनियम सल्फेट, अमोनियम नाइट्रेट, केल्शियम नाइट्रेट और अमोनियम फास्फेट मुख्य है। अभी तक हमारे यहां इन रासायनिक खादों का प्रयोग बहुत ही सीमित है, यद्यपि पिछले सालों में बराबर इनकी खपत बढ़ती जा रही है। कुछ लोगों का ख्याल है कि हमें रासायनिक खादों के उत्पादन से पहले अन्य प्रकार की जैविक खादों के पूर्ण उपयोग का प्रयत्न करना चाहिए। बेहतर यह होगा कि दोनों प्रकार की खाद के उत्पादन में साथ-साथ वृद्धि की जाय।

पंचवर्षीय योजना में कृषि-विकास में खाद के उपयोग पर विशेष रूप से ध्यान आकर्षित किया गया है। कमीशन ने खाद के उचित संरक्षण, उत्पादन और

वितरण के कार्यों के संचालन के लिए भारतीय कृषि कौंसिल के अन्तर्गत एक स्थायी विशेषज्ञ समिति रखने का सुझाव दिया है।

जमीन का कटना (Erosion). देश के ।वस्तृत क्षेत्र जमीन के कटने से बिल्कुल बेकार हो गये हैं और ऐसे क्षेत्र और भी अधिक हैं जहां कि भूमि की उत्पादकता जमीन के कटने के कारण बहुत ही कम हो गई है। परत कटना (Sheet Erosion), जिसमें कि जमीन की ऊपरी उपजाऊ परत कट जाती है, बहुत ही विस्तृत है और थोड़ी भी ढालू जमीन पर यह पाया जाता है। इससे हमारी कृषि को अल्प उत्पादन के रूप में अपार हानि उठानी पड़ती है। नालियों के कटाव (Gully Erosion) पर, जो कि प्रायः परत के कटने के बाद शुरू होता है, एक लम्बे अरसे से कोई रोक नहीं है और उसने भी बहुत जमीन बेकार कर दी है और यह बर्बादी बराबर बढ़ती जा रही है। देश के पश्चिमी शुष्क भागों में, विशेषकर राजस्थान के रेगिस्तान के किनारों पर, हवा के वेग के कारण जमीन कटने से एक भीषण समस्या खड़ी कर दी है।

जमीन के कटने का सबसे मुख्य कारण ढालू जमीनों, रेगिस्तान के किनारों तथा अन्य प्रभावित क्षेत्रों से जंगलों तथा अन्य वनस्पति का कट जाना है। पेड़ तथा अन्य वनस्पति पानी और हवा के वेग को रोकते हैं और इस प्रकार जमीन को कटने से बचाते हैं। यही नहीं, पेड़ पानी का वहुत अंश अपने अन्दर सोखकर बाढ़ों की भीषणता को कम और समाप्त करते हैं। शुष्क प्रदेशों में भी पेड़ों और घासों के नाश से जमीनों को भीषण हानि पहुंचती है। इसके अलावा, देश के विभिन्न भागों में जमीन के कटने के कारणों के संबंध में पर्याप्त भिन्नता पाई जाती है। असाम के जंगलों की भांति बिहार, उड़ीसा और मध्यप्रदेश के कुछ भागों में एक स्थान छोड़ दूसरे स्थान पर खेती की प्रथा जंगल कटने और परिणामतः जमीन कटने का मुख्य कारण है। विस्तृत क्षेत्रों में अनियंत्रित चराई भी जंगलों के नष्ट होने और जमीन कटने के लिए उत्तरदायी है। इसके अतिरिक्त, अत्यधिक चराई, ईंधन और लकड़ी के लिए पेड़ों का गिराना तथा खेती करने के गलत तरीके, जमीन के कटने के अन्य कारण हैं। ढालू जमीनों पर उसके एक सतह के स्थानों पर हल न चलाना और फसलों का गलत हेर-फेर तथा विशेष फसलों के उगाने से भी जमीन के कटने में सहायता मिलती है। बंजर तथा चराई क्षेत्र तथा अनजुती कृषि योग्य जमीन, जिसकी सामान्यतः उचित देखभाल नहीं की जाती, जमीन के कटने का कारण बनती है।

जमीन के कटने को रोककर हम अपनी कृषि योग्य भूमि के क्षेत्र को बढ़ा तथा विद्यमान कटनेवाली जमीन के उत्पादन में पर्याप्त वृद्धि कर सकते हैं।

इसके लिए चार चीजें आवश्यक हैं, (१) जमीन के प्रयोग पर नियंत्रण; इसमें खेती होनेवाली पर अत्यधिक कटनेवाली जमीन पर खेती बन्द कर उस पर जंगल लगाने अथवा चराई इत्यादि का नियंत्रण मुख्य हैं; (२) वैज्ञानिक प्रबन्ध द्वारा जंगलों का संरक्षण और नये जंगलों का लगाना; (३) खेती के विद्यमान दोषपूर्ण तरीकों में सुधार और (४) इंजीनियरिंग कार्य ; इसमें बांधों, मुंडेरों, नालियों का निर्माण, प्राकृतिक दरारों का बन्द करना प्रमुख हैं।

जमीन को कटने से रोकने की दिशा में पंजाब और बम्बई इत्यादि राज्यों में कुछ कार्य हुआ है किन्तु समस्या के विस्तार की तुलना में यह बहुत अपर्याप्त है। पंचवर्षीय योजना में इस कार्य के लिए सहकारी भूमि संरक्षण समितियों के निर्माण को प्रोत्साहित करने तथा राज्यों द्वारा इस कार्य को अपने हाथ में लिए जाने के संबंध में उचित कानून बनाने की ओर निर्देश किया गया है। साथ ही इसके लिए अपेक्षित जमीन और भूमि के उपयोग की पड़ताल तथा गवेषणा और प्रदर्शन पर भी विशेष बल दिया है। इसके अतिरिक्त, समुदायिक योजनाओं में भी जमीन-संरक्षण को स्थान दिया गया है। नदी-घाटी योजनाओं में इसका ध्यान रखा गया है। राजस्थान के रेगिस्तान के नियंत्रण के लिए प्रभावित राज्यों द्वारा सम्मिलित कार्यवाही करने की सिफारिश की गई है तथा भूमि और जमीन-संरक्षण के कार्य को सुचारु रूप से चलाने के लिए केन्द्र में एक केन्द्रीय भूमि उपयोग और जमीन-संरक्षण संगठन तथा राज्यों में भूमि उपयोग और जमीन-संरक्षण बोर्डों की स्थापना का प्रस्ताव किया गया है।

निस्संदेह प्रथम पंचवर्षीय योजना से इस समस्या का सम्पूर्ण समाधान नहीं हो सकेगा, पर यदि हम इसका पूर्ण प्रतीकार कर सकें, तो अवश्य हमारे कृषि उत्पादन में २० से ३० प्रतिशत तक वृद्धि हो सकती है। अतः इस ओर हमारा ध्यान देना अत्यावश्यक है।

जन्तुओं तथा रोगों से हानि. हमारी कृषि को हर साल विभिन्न जीव-जंतुओं, जंगली घासों, और फसलों के रोगों से भी पर्याप्त हानि उठानी पड़ती है। इस हानि को रोकने का अभी तक कोई समुचित प्रबन्ध नहीं है। यह हानि खेतों तक ही सीमित नहीं है। अनाज के रखने में भी चूहे और घुन अपार हानि पहुंचाते हैं। इन सब हानियों का अन्दाज लगाना मुश्किल है, फिर भी खाद्य और कृषि संगठन की राय में केवल अनाज के रखने में यह हानि लगभग १० प्रतिशत है। यदि इसमें खेतों पर हुई हानि को और जोड़ दिया जाय तो यह शायद २० प्रतिशत से कम न होगी।

फिलहाल हमारे यहां केन्द्र में पौधों की संरक्षण डायरेक्टरेट हैं जिसके तीन विभाग हैं; (१) कीटाणु-शास्त्र, (२) पौधों के रोग और (३) क्वारनटाइन। टिड्डी दल का नियंत्रण भी इसी की जिम्मेदारी है। पौधों की विभिन्न महामारियों से लड़ना तथा उसके विनाश के उपायों को खोजना इस संगठन का मुख्य कार्य है। इसका कार्य अभी पर्याप्त सीमित है।

फसलों की जीव-जंतुओं तथा रोगों के विरुद्ध रक्षा करने के चार प्रमुख साधन है—(१) क्वारनटाइन—जिसका तात्पर्य है देश में विदेश से आनेवाले रोगी पौधों, जीव-जंतुओं या रोगों पर रोक। धुआं देकर कीटाणुओं को नष्ट करना, जिसे कि फ्यूमिगेशन कहते हैं, क्वारनटाइन का अच्छा साधन है। फिलहाल हमारे यहां केवल बम्बई में ही फ्यूमिगेटोरियम की व्यवस्था है। पंचवर्षीय योजना में मद्रास और कलकत्त में भी ऐसे ही क्वारनटाइन और फ्यूमिगेटिंग स्टेशन स्थापित करने की व्यवस्था है। इसके अतिरिक्त, भूमि की सीमा द्वारा जीव-जंतुओं या पौधों के रोगों के प्रवेश पर नियंत्रण भी जरूरी है। (२) प्राणिशास्त्रीय (Biological) नियंत्रण—इसके अन्तर्गत किसी अन्य जीव-जन्तुओं या कीड़ों की सहायता से विद्यमान रोगों के कीटाणुओं को नष्ट करने का प्रयत्न किया जाता है। गन्ने तथा नारियल के कीड़ों को नष्ट करने में इसका हमारे यहां पर्याप्त उपयोग हो रहा है। भारतीय कृषि रिसर्च इंस्टीट्यूट में भी प्राणिशास्त्रीय नियंत्रण की व्यवस्था है। (३) सांस्कृतिक विधियां—इसमें बीजों की कीटाणुरक्षक किस्मों को बोने, तथा फसलों में उचित हेर-फेर, गहरी या उथली जुताई, सिंचाई करना या उसे रोकना, इत्यादि ऐसी विधियों का समावेश है, जो कि स्वयं फसल की रक्षा करती हैं। सांस्कृतिक विधियों का सबसे बड़ा लाभ यह है कि इन पर कोई अतिरिक्त व्यय नहीं होता। (४) रासायनिक चिकित्सा—इसमें घातक कीड़ों को कीटाणुनाशक द्रव्यों के स्प्रे से नष्ट करने का समावेश है। हाल में इस कार्य के लिए डी० डी० टी० और बी० एच० सी० का प्रयोग विदेशों में बहुत लोकप्रिय होता जा रहा है। भारत में भी विशेषतः अन्तर्राष्ट्रीय संगठनों की सहायता से इसका प्रयोग प्रारम्भ हुआ है। इसका प्रयोग करते समय मानव-प्राणियों और पशुओं पर इसके उपरान्त-प्रभावों को ध्यान में रखना अत्यावश्यक है। इस संबंध में विशेषज्ञ भी एकमत नहीं हैं। अतः समझ-बूझकर इन्हें प्रयोग में लाने की आवश्यकता है। इसके अतिरिक्त, कीटाणुनाशकों और फंगस-नाशकों के निर्माण में देशीय पदार्थों के उपयोग की सम्भावनाओं पर भी विचार करना जरूरी है। उदाहरणार्थ काले सरसों के तेल और पिरेथ्रम (Pyrethrum) का इस कार्य में प्रयोग

किया जा सकता है। अन्त में जंगली जानवरों, सुअरों, खरगोशों, गीदड़ों, बन्दर तथा पालतू पशुओं के आक्रमणों से फसलों की रक्षा भी जरूरी है। इसके लिए जंगली जानवरों के मारने और पकड़ने तथा पालतू पशुओं के लिए कांजी हाऊस में भेजने तथा दण्ड देने की व्यवस्था होनी चाहिए। इस प्रकार फसलों की जीव-जंतुओं और रोगों से रक्षा कर, हम अपने कृषि उत्पादन में पर्याप्त वृद्धि कर सकते हैं।

बीजों की खराब किस्म. खेती में किस प्रकार के बीजों का प्रयोग होता है, इसका भी उसकी उत्पादकता पर विशेष प्रभाव पड़ता है। उत्कृष्ट किस्म के बीजों की खोज आधुनिक कृषि की महत्त्वपूर्ण देन है। सामान्यतः भारत में साधारण और निम्न किस्म के बीजों का खेती में प्रयोग होता है। किसानों की गरीबी तथा अच्छे बीजों का उन्हें न मिलना इसका प्रमुख कारण हैं। विशेषज्ञों ने अनुमान लगाया है कि केवल उत्तम बीजों के प्रयोग से ही हम अपनी कृषि के उत्पादन में २० से २५ प्रतिशत तक वृद्धि कर सकते हैं। उत्तम बीजों के निकालने में भारतीय कृषि रिसर्च इन्स्टीट्यूट ने प्रशंसनीय कार्य किया है। गन्ना, मूंगफली, और कपास जैसी व्यापारिक फसलों में नई किस्म के बीजों को अपनाने में किसानों ने पर्याप्त व्यग्रता दिखलाई है। लेकिन अनाज की फसलों में यह आन्दोलन बहुत ही कमजोर है। अच्छे बीजों की वृद्धि तथा वितरण को विकेन्द्रित कर तथा अच्छे किस्म के बीजों के प्रयोग को कानूनन अनिवार्य बनाकर इस दिशा में आगे बढ़ा जा सकता है और इस प्रकार कृषि के सुधार में महत्त्वपूर्ण योग दिया जा सकता है।

पिछड़े हुए खेती के तरीके. फसलों के बोने, मिलाने, काटने, बदलने तथा जमीन के जोतने और निराने के तरीकों का भी कृषि की उत्पादकता पर पर्याप्त प्रभाव पड़ता है। भारत में खेती के वही तरीके प्रचलित हैं, जो आज से सदियों पहले थे। अन्य देशों में इस दिशा में क्रांतिकारी परिवर्तन और सुधार हो चुके हैं। हम अभी तक प्रायः उससे अछूते ही हैं। खेती का तरीका उत्पादन इकाई के रकबे से घनिष्ठतया संबंधित होता है। अन्य देशों की तुलना में भारत में प्रति किसान जमीन का क्षेत्रफल बहुत ही कम है। ऐसी स्थिति में यहां बहुत से उन खेती के तरीकों का प्रयोग नहीं हो सकता जो कि बड़े फार्मों के उपयुक्त हैं। खेतों के क्षेत्रफल तथा भारतीय किसान के सीमित साधनों को देखते हुए भारतीय किसान के खेती के तरीके असंतोषजनक नहीं कहे जा सकते, फिर भी उनमें पर्याप्त सुधार की गुंजाइश है और इस प्रकार उनमें संशोधन कर हम भारतीय कृषि को उन्नत बनाने में हाथ बटा सकते हैं।

अनुन्नत उपकरण (Implements). अन्य बातों के अतिरिक्त, खेती के उपकरणों और यंत्रों की कार्यक्षमता का भी खेती की समृद्धि को निर्धारित करने में पर्याप्त हाथ होता है। भारत में अभी तक वही बाबा आदम के जमाने के उपकरणों से खेती हो रही है। खेतों के क्षेत्रफल को देखते हुए भारत में आधुनिक सोअर, मोअर और ट्रेक्टरों के प्रयोग का क्षेत्र बहुत सीमित है, किन्तु हाथ से चलाये जानेवाले उपकरणों में भी पर्याप्त सुधार अपेक्षित है। भारतीय कृषि रिसर्च इंस्टीट्यूट ने मेस्टन आदि हाथ के उन्नत और सस्ते हल बनाकर इस दिशा में अच्छा कार्य किया है। किन्तु अभी तक इन उन्नत उपकरणों का विशेष प्रचार और प्रसार नहीं हो सका है। सरकार इनके वितरण के काम को स्वयं हाथ में ले तथा किसानों के लिए किश्तों में भुगतान की सुविधा प्रदान कर इस संबंध में उपयोगी कार्य कर सकती है। सुधरे और उन्नत उपकरणों का खेती की उत्पादकता बढ़ाने में उपयोग हो सकेगा।

दुर्बल पशुधन. भारत जैसे देशों में जहां कि ढोनेवाले पशु जमीन बाहने, फसल गाहने और उसे मंडी तक ले जाने का प्रमुख साधन हैं, उनका स्वास्थ्य और समृद्धि विशेष महत्त्व रखती है। १९५१ की पशुगणना के अनुसार भारत में १५ करोड़ गाय-बैल और ४ करोड़ ३० लाख भैंसें हैं। अन्य देशों तथा देश के क्षेत्रफल की दृष्टि से यह विशाल संख्या है। किन्तु खेद की बात यह है कि इनमें से अधिकांश पशु अत्यन्त ही दुर्बल, अस्वस्थ और सूखे हैं। इसके कारण भी हैं। उन्हें भरपेट चारा नहीं मिलता, रोगी होने की अवस्था में चिकित्सा की सुविधाएं नहीं मिलतीं और महामारियों से बचने के लिए निःशुल्क रक्षा नहीं मिलती; उनकी नस्ल के सुधारने की ओर कोई ध्यान नहीं दिया जाता। देश में जितना चारा पैदा होता है वह कठिनाई से ८० प्रतिशत पशुओं के लिए और जो अन्य पौष्टिक भोजन हैं, वह कठिनाई से ३० प्रतिशत पशुओं के लिए पर्याप्त हैं। इस प्रकार हमारे यहां पशुओं के चारे और खाने की भीषण कमी है।

गोधन उपयोग समिति के अनुसार हमारे यहां लगभग १० प्रतिशत, अर्थात् ११४ लाख प्रौढ़ पशु सर्वथा बेकार और अनुत्पादक है। इसी प्रकार दूध देनेवाली गायों की संख्या के बराबर ही गायें प्रायः सूखी हैं। जहां तक खेती के लिए आवश्यक बैलों की आवश्यकता है डा० बर्न्स के अनुसार उत्तर प्रदेश और बिहार में उनकी संख्या में कम से कम ४० लाख बैल बढ़ती हैं। जब कि कुछ प्रान्तों में वह अधिक नहीं हैं। किन्तु उनकी कार्यक्षमता में लगभग ६० प्रतिशत वृद्धि की जा सकती है।

निकम्मे पशुओं का वध कर देना तथा बाकी आवश्यक पशुओं के लिए पर्याप्त भोजन की व्यवस्था तथा उनकी नस्ल में सुधार एक प्रमुख आवश्यकता है। प्रतिवर्ष लगभग ७५० अच्छी नस्ल के सांड़ राज्य सरकारों द्वारा बोझा ढोनेवाली तथा दुधारू किस्मों के विकास के लिए दिये जाते हैं। किन्तु इससे देश की कुल ०·५ प्रतिशत मांग ही पूरी होती है।

पंचवर्षीय योजना में यह कार्य बुनियादी (Key) ग्राम योजनाके अन्तर्गत ६०० केन्द्रों में शुरू करने का प्रस्ताव है। प्रत्येक केन्द्र में तीन या चार गांव होंगे तथा तीन साल से अधिक उम्र वाली लगभग ५०० गायें होंगी।

इन केन्द्रों में ग्याभन करने पर पूर्णतया नियंत्रण होगा और यह कार्य केवल तीन या चार अच्छी किस्म के सांड़ ही करेंगे। अस्वीकृत सांड़ों को खस्सी कर दिया जायेगा। उसके अतिरिक्त, कृत्रिम गर्भाधान का भी उपयोग किया जायेगा। यह आशा की जाती है कि योजना के पूरी तरह कार्यान्वित हो जाने पर हर साल ६०,००० सांड़ तैयार हो सकेंगे।

१९५१ की पशुगणना के अनुसार ४८० लाख गायों में से २८ लाख गायें सूखी हैं। इस संबंध में सूखी गायों के लिए पंचवर्षीय योजना में ९७ लाख रुपए की लागत से सारे देश में १६० गोसदन स्थापित करने की व्यवस्था है। प्रत्येक गोसदन में २,००० गायें रखी जा सकेंगी। इस प्रकार १९५६ के अन्त में कुल ३ लाख २० हजार सूखी गायों की उचित व्यवस्था हो सकेगी। सूखी गायों की समस्या को हल करने में गोसदन योजना सर्वथा अपर्याप्त है।

गोधन की उन्नति का एक महत्त्वपूर्ण अंश उनके भोजन में उन्नति है। कुछ विशेषज्ञों का मत है कि केवल उचित भोजन से ही गायों के दूध के उत्पादन में ३० प्रतिशत वृद्धि की जा सकती है। इसके अतिरिक्त, पशुओं के रोगों के निवारण और चिकित्सा की सुविधाएं जुटा गोधन की यथेष्ट उन्नति की जा सकती है। भारतीय कृषि को एक आर्थिक धंधा बनाने के लिए यह आवश्यक है।

संस्थागत कारण. अभी तक तो हमने भारतीय कृषि की निर्धनता के कुछ टेक्नीकल कारणों पर विचार किया, आगे हम संक्षेप में उन संस्थागत कारणों का जिक्र करेंगे जो कि उसकी निर्धनता को और बढ़ाने में मदद पहुंचाते हैं।

खेतों का विभाजन (Subdivision) **और उपविभाजन** (Fragmentation). उत्तराधिकार के फलस्वरूप जो कुल जमीन एक किसान को प्राप्त होती है वह विभाजन का परिणाम है, किन्तु जब वह कुल जमीन अनेक पृथक्-पृथक् छोटे खेतों में बंटी होती है, तो वह उपविभाजन कहलाता है। भारत में सब पुत्रों के समानाधिकार के कानून, बढ़ती जनसंख्या, व्यक्तिवादी

विचारों के फलस्वरूप अलग होने की भावना, खेती के अलावा अन्य उद्योगों के अभाव अथवा पतन, परिणामतः जमीन पर बढ़ते जोर के तथा जमीन के विभिन्न भागों के भिन्न उपजाऊपन तथा भिन्न लगान के कारण, हमारे यहां खेतों का विभाजन और उपविभाजन अपनी चरम और भयावह सीमा पर पहुंच गया है। खेती की इकाई के क्षेत्रफल और उसकी कार्यक्षमता और उत्पादकता में घनिष्ठ संबंध है। छोटे और बिखरे खेत होने के कारण उन पर खेती के उन्नत उपकरण इस्तेमाल नहीं किये जा सकते। मेड़ें तथा उपकरणों के एक खेत से दूसरे खेतों में ले जाने से व्यर्थ की जमीन और समय बर्बाद होता है। ऐसे उदाहरणों की कमी नहीं है जब कि एक ही किसान के पास $\frac{१}{४}$, $\frac{१}{३}$, $\frac{१}{२}$, १ बीघा के बीस-बीस या तीस छोटे-छोटे टुकड़े होते हैं। इस प्रकार विभाजन और उससे भी अधिक उपविभाजन हमारी कृषि के लिए एक बड़ा अभिशाप है।

पिछले सालों में कुछ राज्यों, विशेषकर पंजाब में चकबन्दी द्वारा उपविभाजन की समस्या को हल करने के प्रयत्न हुए हैं। किन्तु समस्या के विस्तार को देखते हुए उसमें अभी बहुत कम सफलता मिली है। वास्तव में चकबन्दी को बिना कानूनन अनिवार्य किए उपविभाजन का हल नहीं किया जा सकता। लेकिन उपविभाजन के समाधान से ही हमारे अनार्थिक और अत्यन्त छोटे खेतों की समस्या का समाधान नहीं हो जाता। यदि हम प्रति किसान के पास औसत जमीन का हिसाब लगायें तो मालूम होगा कि उसका क्षेत्रफल कितना कम है। १९५१ की भूमि-गणना के अनुसार हमारे ३४.४ प्रतिशत किसान २ एकड़ से कम, २७.६ प्रतिशत २ से ४ एकड़ तथा बाकी ३८ प्रतिशत ४ एकड़ से ज्यादा जमीन जोतते हैं। इससे हमारी जमीन पर अत्यधिक जनसंख्या का निर्भर होना सिद्ध होता है।

कृषि के पुनरुद्धार के लिए आर्थिक इकाइयों का निर्माण अत्यावश्यक है। आर्थिक इकाई वह है जिसकी आय एक परिबार के भरण-पोषण के लिए पर्याप्त है। आर्थिक इकाई का क्षेत्रफल निश्चित करना कठिन कार्य है। भूमि की उर्वरा शक्ति तथा खेती के साधनों के हेर-फेर से उसमें परिवर्तन हो जाना स्वाभाविक है। मोटे तौर पर फिलहाल भारत के लिए १० एकड़ आर्थिक इकाई कही जा सकती है। इस आर्थिक इकाई पर कैसे पहुंचा जाये? भारतीय कृषि की कार्यक्षमता को निश्चित करने में इस प्रश्न के उत्तर का प्रमुख हाथ होगा। कृषि के पुनर्संगठन का यह प्रश्न देश के आर्थिक पुनर्संगठन के महान् प्रश्न से जुड़ा हुआ है। जब तक देश में कृषि के सहायक उद्योगों तथा अन्य विद्यमान और नये उद्योगों का पर्याप्त विस्तार नहीं हो जाता, जमीन से वर्तमान दबाव को कम नहीं किया

जा सकता, और जब तक यह नहीं होता हम खेती की आर्थिक इकाई की ओर अधिक प्रगति नहीं कर सकते। विभिन्न राज्यों के भूमि-कानूनों ने खेती की इकाइयों की अधिक सीमा को तो निर्धारित कर दिया है, पर न्यूनतम सीमा का कोई हल नहीं किया है। विद्यमान अनार्थिक खेती की इकाइयां भारतीय कृषि के अल्पउत्पादन का मुख्य कारण है।

दोषपूर्ण भूमि व्यवस्था. किसी देश की भूमि-व्यवस्था और उसके कृषकों की आर्थिक अवस्था में भी बड़ा घनिष्ठ संबंध है। अभी हाल तक भारत में लगभग ५० प्रतिशत भूमि रैयतवाड़ी और महालवाड़ी प्रथा के अन्तर्गत तथा बाकी ५० प्रतिशत जमींदारी प्रथा के अन्तर्गत थी। रैयतवाड़ी और महालवाड़ी प्रथा में लगान के संबंध में किसान या ग्राम-समुदाय का सरकार से सीधा संबंध होता है, जब कि जमींदारी या जागीरदारी प्रथा में जमींदार या जागीरदार मध्यस्थ का काम करते हैं और कुल लगान की रकम का लगभग ५० प्रतिशत अंश उनकी जेब में चला जाता है। जमींदारी प्रथा के नीचे जमींदारों द्वारा किसानों के उचित और अनुचित शोषण के कारण किसानों की दशा बहुत खराब थी। जमींदार उनके सिर पर एक बड़ा बोझा तथा उनकी गरीबी को और अधिक असह्य बनाने में बहुत सहायक थे। जिन स्थानों में रैयतवाड़ी या महालवाड़ी प्रथा थी वहां पर भी भूस्वामियों द्वारा दूसरों को जमीन जोतने के लिए दे देने तथा बटाई के कारण भूमिहीन जोतदारों का पर्याप्त शोषण होता था और यह प्रथाएं वहां पर बराबर जोर पकड़ रही थीं। पिछले पांच सालों में अधिकांश भारतीय राज्यों ने जहां पर जमींदारी प्रथा प्रचलित है, उसे समाप्त करने तथा काश्तकारों के अधिकारों की सुरक्षा के लिए नये कानून बनाए हैं तथा इस बात की सुविधाएं जुटाने का प्रयत्न किया है कि काश्तकार स्वयं अपनी जमीन के मालिक बन जाये।

जमीन से मध्यस्थ अधिकारों का उन्मूलन निस्संदेह भूमिसुधार की दिशा में एक आवश्यक कदम है और इससे यह आशा की जा सकती है कि किसानों को कुछ राहत मिलेगी। पर भूमि-व्यवस्था के सुधार का सवाल यहीं पर समाप्त नहीं हो जाता। इसके लिए सहकारी या सामूहिक कृषि की दिशा में प्रगति अनिवार्य है। इसलिए भूमि-व्यवस्था को सहकारी अथवा सामूहिक आधार पर पुनर्गठित करना आवश्यक है। उसी पर हम आर्थिक और समृद्ध कृषि की बुनियाद रख सकते हैं।

विकृत विक्रय (Marketing) व्यवस्था. किसानों को अपनी उपज की उचित कीमत मिलना उन्हें प्राप्त विक्रय की सुविधाओं पर निर्भर है। एक अच्छी विक्रय-व्यवस्था किसानों को पर्याप्त आर्थिक लाभ पहुंचा सकती है और इस प्रकार

उनकी कुल आय को बढ़ा सकती है। भारत के अधिकांश किसान इस दृष्टि से बड़ी ही अलाभकर स्थिति में हैं। उनमें से अधिकांश कर्ज के बोझ से दबे हुए हैं। कर्ज देनेवाले साहूकार या महाजन ही हमारे यहां प्रायः कृषि पदार्थों के विक्रय की भी व्यवस्थाँ करते हैं, और यह कर्ज देते समय बहुत बार किसान पर उन्हें ही अपनी उपज बेचने की शर्त लगा देते हैं। इस प्रकार किसान को प्रायः बाजार-दर से कम दाम मिलते हैं। इसके अलावा फसल को रोककर रखने की क्षमता न होने तथा तत्काल बेच नकद रुपया प्राप्त करने की जल्दी के कारण किसान को काफी कम कीमतें मिलती हैं। फसल के मौके पर एकदम पूर्ति बढ़ जाने के कारण फसलों के दाम गिर जाते हैं। और फिर मंडियों में बनिये, आढ़तिये और व्यापारी अनेक प्रकार की अनुचित रीतियों से किसानों से काफी कटौती कर लेते हैं तथा नाप तोल के मामले में भी गड़बड़ करने से नहीं हिचकते। इन सब बुराइयों को रोकने के लिए अनेक राज्यों ने नियंत्रित बाजारों के कानून बना दिये हैं। बम्बई, मद्रास, हैदराबाद, मैसूर, पेप्सू और मध्यभारत में नियंत्रित बाजार खुल गये हैं। उत्तर प्रदेश, प० बंगाल, बिहार, उड़ीसा इत्यादि राज्यों में नियंत्रित बाजार नहीं हैं। इन राज्यों में उनका तत्काल स्थापित होना आवश्यक है। जिन राज्यों में बाजारों के नियंत्रण के कानून हैं वहां भी अधिकांश बाजार अभी भी अनियंत्रित हैं। अतः उनका पूर्ण विस्तार आवश्यक है।

नियंत्रित बाजारों के लाभ का क्षेत्र बहुत ही सीमित है। वह केवल कुछ बेईमान कार्यवाहियों को रोक सकते हैं, किन्तु बिना विक्रय के ढांचे में परिवर्तन किये मध्यस्थों की संख्या और विक्रय की ऊंची लागत को जो औसतन २५ प्रतिशत से कम नहीं है, कम नहीं किया जा सकता। इस कार्य को सहकारी समितियां ही सम्पन्न कर सकती हैं। उत्तर प्रदेश में गन्ने की बिक्री और बम्बई में कपास की बिक्री में इन्होंने महत्त्वपूर्ण कार्य किया है। फिर भी देश की आवश्यकताओं के देखते हुए सहकारी बिक्री का विकास बहुत ही धीमा है। किसानों को स्टोरेज और गोदामों की सुविधा प्रदान कर, उनकी फसल की सुरक्षा पर उन्हें रुपया अगाऊ देकर तथा उनके विक्रय की व्यवस्था कर सहकारी समितियां किसानों को बहुत लाभ पहुंचा सकती हैं और उनकी आय में पर्याप्त वृद्धि कर सकती हैं।

अन्य कारण. अभी तक हमने अपने किसानों की गरीबी के उन कारणों का वर्णन किया है, जो कि उसकी कृषि की अल्प उत्पादकता से संबंधित हैं। अब हम कुछ अन्य कारणों का विवेचन करेंगे जो कि उसकी आर्थिक स्थिति को प्रभावित करते हैं।

(ग) कुटीर-उद्योगों का नाश और सहा क धंधों की कमी. आधुनिक बड़े पैमाने के उद्योगों के आगमन से पहले भोजन और कच्चे माल के उत्पादन के अतिरिक्त, हमारी सभी आवश्यकताएं हाथ के कुटीर उद्योगों द्वारा पूरी होती थीं। हमारे ग्राम प्रायः पूर्णतः आत्म-निर्भर थे। इस प्रकार कपड़े, लकड़ी, लोहे, मिट्टी, चमड़े इत्यादि अन्य पदार्थों की वस्तुओं को बनाने में हमारे गांवों की जनसंख्या का एक बड़ा हिस्सा लगा हुआ था। प्रारम्भ में विदेशी और बाद में देशी कारखानों की प्रतियोगिता के सामने हाथ के यह छोटे-छोटे कारीगर न ठहर सके और इन्हें अपनी दस्तकारियां छोड़नी पड़ीं। इस प्रकार इनमें से अधिकांश तो जमीन के भूखे भूमिहीन मजदूर होने पर मजबूर हुए और बाकी शहरों के कारखानों में मजदूर बन गावों से निकल गये। इस प्रकार हमारे यहां बेकारी की भीषण समस्या को सृष्टि हुई। यदि यही कार्य आयोजित ढंग से होता, तो यह भीषण आर्थिक अराजकता न मचती। यदि हमारे कारीगरों को पूंजी और अपने कुटीर-उद्योगों को ही आधुनिक बनाने की सुविधाएं प्राप्त होतीं, जैसा कि जापान में हुआ, हमारे कुटीर-उद्योग नष्ट ही न हो पाते, प्रत्युत् ग्रामवासियों की आर्थिक अवस्था को उन्नत करने में बड़ा सहयोग देते।

ग्रामों के आर्थिक पुनरुद्धार और पुर्ननिमर्ण के लिए यह अत्यावश्यक है कि गांवों में कुटीर-उद्योगों को पुनरुज्जीवित और पुनर्स्थापित किया जाये। किन्तु आज के जमाने में हम पुराने ढर्रे पर उन्हें चालू नहीं कर सकते। उसके लिए हमें उन्हें आधुनिक आविष्कारों और सुधारों से लाभान्वित करना होगा, आवश्यक आर्थिक सहायता, ट्रेनिंग की सुविधा और टेक्नीकल मार्ग-दर्शन करना होगा। इस प्रकार हम गांव की जनता की मौसमी और बारहमासी बेकारी का अन्तर कर सकेंगे और उनके रहन-सहन के स्तर को ऊंचा कर सकेंगे।

पक्के माल के उद्योगों को छोड़, फलों और सब्जियों का उगाना तथा दूध और मक्खन का उत्पादन कृषि के मुख्य सहायक धंधे हैं। कृषि के साथ-साथ इनका समुचित विकास समृद्ध कृषि का प्रधान लक्षण है। न्यूजीलैंड, आस्ट्रेलिया, कनाडा, हालैंड इत्यादि कृपि-प्रधान देशों की समृद्धि का प्रमुख कारण उन देशों में कृषि के साथ फल, तरकारी और दूध, मक्खन के धंधे का विकास है। इस दृष्टि से हमारी अवस्था बहुत ही शोचनीय है। हमारे यहां कुल जुती जमीन का १ प्रतिशत से कुछ ही अधिक अंश फल और तरकारी की उपज में प्रयुक्त है। इसके अतिरिक्त, हमारा वार्षिक फल और तरकारी-उत्पादन बहुत ही कम है। उसका प्रतिव्यक्ति औसत उत्पादन क्रमशः केवल १.५ और ३ औंस है,

जब कि पोषण-विशेषज्ञों के अनुसार हमें कम से कम ३ और १० औंस प्राप्त होना चाहिए।

भारत-जैसे शाकाहार-प्रधान देश में दूध-उत्पादन की उन्नति विशेष महत्त्व रखती है। हमारे यहां एक दुधारू गाय औसतन ४१३ पौंड दूध देती है, जब कि आस्ट्रेलिया, स्वीडन और इग्लैंड के लिए यह औसत क्रमशः ७,०००, ६,००० और ५,००० पौंड है। हमारे दूध देनेवाले पशुओं में भैंसों का अनुपात ३० प्रतिशत है, यद्यपि वह कुल दूध उत्पादन का ५४ प्रतिशत प्रदान करती हैं। भारत में दूध की प्रति व्यक्ति खपत का औसत केवल ५.५ औंस है, जब कि उसे कम से कम १० औंस की आवश्यकता है।

इस प्रकार, भारतीय ग्राम-जीवन के आर्थिक स्तर को उन्नत करने के लिए फल, तरकारी, दूध, मक्खन-घी के धंधे में विस्तृत उन्नति की आवश्यकता ह। पंचवर्षीय योजना में फल और तरकारी की उपज के विकास के लिए १२१.२८ लाख रुपए तथा गोपालन के लिए ७८१ लाख रुपए की व्यवस्था है। देश की आवश्यकताओं को देखते हुए यह बहुत ही कम है।

(घ) **बेकारी**. किसी भी जनसंख्या में गरीबी और भुखमरी बेकारी का सीधा परिणाम है। बेकारी की अवस्था में श्रम की, उत्पादन-शक्ति की कुल हानि ही होती है और उस खोई हुई उत्पादन-शक्ति को पुनः प्राप्त या संचय नहीं किया जा सकता। यह बेकारी जहां एक ओर गरीबी का कारण है वहां दूसरी ओर यह स्वयं विशेष आर्थिक परिस्थितियों का परिणाम है। कुटीर-उद्योगों और कृषि के सहायक उद्योगों का अभाव और अविकास भारतीय ग्रामों में बेकारी का प्रमुख कारण है। ग्रामों में पूर्णरूप से बेकारी उतनी नहीं है जितनी कि प्रच्छन्न (Disguised) बेकारी, अर्थात् जिसमें बाह्यतः तो आदमी काम में लगे दीखते हैं, पर वैसे वह काफी समय बेकार बैठे रहते हैं। अनुमान लगाया गया है कि हमारे गांवों में बेकारी का कुल अनुपात ५० प्रतिशत से कम नहीं है। इस प्रकार यदि हम उत्पादकता की विद्यमान औसत आय से ही, जो कि बहुत ही कम है, मापें तो भी हमारी आधी आय बेकारी में ही नष्ट हो जाती है। यह एक भयानक स्थिति है जिसका शीघ्र अन्त होना आवश्यक है। कुटीर और सहायक उद्योगों के विकास द्वारा ही ग्रामों में बेकारी की समस्या का समाधान किया जा सकता है।

(ङ) **ऋणग्रस्तता** (Indebtedness). भारतीय किसानों की गरीबी को बढ़ाने में उनकी ऋणग्रस्तता का भी कम हाथ नहीं है। जहां एक ओर ऋणग्रस्तता उनकी गरीबी का एक कारण है, वहां दूसरी ओर वह स्वयं ही उनकी

गरीबी का एक परिणाम है। हमारे किसानों की सामान्य आय इतनी कम है कि उन्हें खेती में थोड़ी-सी रकम लगाने के लिए फसल मारी जाने पर लगान अदा करने के लिए अथवा शादी-ब्याह और मृत्यु के किसी भी आकस्मिक-व्यय के लिए प्रायः उधार का आश्रय लेना पड़ता है। यह उधार देने का काम गांवों में प्रायः सूदखोर और मुनाफाखोर साहूकारों के हाथ में है, जो कि किसान की असहायता और कष्ट का पूरा-पूरा फायदा उठाते हैं। उसे २० प्रतिशत से लगाकर कभी-कभी तो १०० प्रतिशत तक सूद की दर देनी पड़ती है। इस प्रकार एक बार कर्ज लेकर उसे पुश्त-दर-पुश्त कर्ज के बोझ के नीचे दबा रहना पड़ता है। अनुमान लगाया गया है कि हमारे किसानों के कर्ज का यह बोझ ९०० करोड़ रुपए से कम नहीं है।

पिछले तीस सालों में साहूकारों के अनुचित शोषण और हरकतों से कर्जदार किसानों की रक्षा के लिए विभिन्न राज्यों में अनेक कानून पास हुए हैं। उनसे अवश्य उन्हें कुछ राहत मिली है, पर उससे उनकी समस्या का समाधान नहीं हुआ है। जब तक कि पूर्णतः सहकारी आधार पर कृषकों को ऋण देने की व्यवस्था नहीं होती, उनकी अनुत्पादक ऋणग्रस्तता और शोषण का अन्त नहीं हो सकता। अतः आवश्यकता इस बात की है सरकार सहकारी समितियों की सहायता से कृषकों के लिए ऋण की व्यवस्था का दायित्व अपने ऊपर ले, तभी उनकी अवस्था में सुधार संभव है।

(च) **बढ़ती जनसंख्या.** भारत में ग्रामवासियों की गरीबी को बढ़ाने में उनकी निरंतर बढ़ती जनसंख्या ने भी अपना प्रभाव छोड़ा है। यों तो अन्य उन्नत और उद्योग-प्रधान देशों की तुलना में भारत की जन्म और मृत्यु-दर तथा कुल वृद्धि वैसे ही ज्यादा है। किन्तु यह एक सर्वविदित तथ्य है कि गांवों में जन्म और मृत्यु-दर तथा कुल जनसंख्या-वृद्धि की दर शहरों की तुलना में पर्याप्त अधिक है। यदि गांवों में इस बढ़ती जनसंख्या को खपाने के लिए आवश्यक उद्योग और सहायक धंधे होते, तब वृद्धि की यह समस्या इतनी भयावह न होती, किन्तु उनके अभाव में इस बढ़ती जनसंख्या ने भीषण दुरवस्था का सूत्रपात किया है। जोते जानेवाली जमीन का क्षेत्रफल तो लगभग स्थिर रहा है किन्तु उसे जोतनेवालों की संख्या बराबर बढ़ती जा रही है। विद्यमान कृषि में संलग्न जनसंख्या ही जरूरत से ज्यादा है, उसका निरन्तर बढ़ना कृषकों के औसत उत्पादन में निरन्तर कमी कर रहा है।

इस स्थिति को देखते हुए यह सुझाव देना अनुचित न होगा कि ग्रामवासियों की गरीबी की समस्या का हल ढूंढ़ते हुए हमें उनकी जनसंख्या-वृद्धि के रोकने

के उपायों पर भी विचार करना होगा तथा उन्हें उन उपायों को अपनाने के लिए प्रेरित करना होगा।

अन्य आर्थिक पहलू. पीछे हमने भारतीय ग्राम-जीवन की निर्धनता से सम्बद्ध कुछ प्रमुख आर्थिक कारणों की विवेचना की, आगे हम उसकी सामान्य आर्थिक जीवन से सम्बद्ध कुछ प्रधान विशेषताओं का जिक्र करेंगे। इन विशेषताओं में से कुछ तो वह हैं जो कि सभी देशों में सामान्यतः कृषि-जीवन से संयुक्त हैं, और कुछ ऐसी हैं जो कि भारतीय ग्राम-जीवन के विशिष्ट अवशेष हैं।

२. आत्मनिर्भरता (Self sufficiency). आज से सौ साल पहले हमारे गांव प्रायः पूर्णतः आत्मनिर्भर थे। अपनी आवश्यकता की समस्त चीजें वह स्वयं ही तैयार कर लेते थे। उनकी आवश्यकताएं बहुत ही सीमित थीं, जीवन बहुत सादा था। बाहरी संसार से उनका आर्थिक दृष्टि से प्रायः कोई सम्पर्क न था। पिछले सौ सालों में परिवहन और संचार के साधनों के विकास, विदेशी और देशी कारखानों के सस्ते और पक्के माल की प्रतियोगिता के फलस्वरूप गांवों की यह पूर्ण आत्मनिर्भरता बहुत कुछ नष्ट हो गई है और होती जा रही है, पर फिर भी शहरों की तुलना में गांवों का जीवन अभी भी अपेक्षतया पर्याप्त आत्मनिर्भर है।

३. परिवहन (Transport) **और संचार** (Communication) **साधनों का अभाव.** सामान्यतः हमारे गांवों में न तो पक्की सड़कें ही हैं और न रेलें ही। कच्चे रास्ते और बैलगाड़ियां ही परिवहन का प्रमुख साधन हैं। इसके अतिरिक्त, तार, टेलीफोन की तो व्यवस्था प्रायः बिल्कुल ही नहीं है। डाकखाने भी केवल बड़े और बहुत थोड़े ही गांवों में हैं। आधुनिक परिवहन और संचार के साधनों का अविकास हमारे ग्राम-जीवन का एक प्रमुख लक्षण है और मुख्यतः उनकी आत्मनिर्भरता और आर्थिक पिछड़ेपन के लिए उत्तरदायी है। यह एक समाजशास्त्रीय तथ्य है कि गांवों के संगठन की बनावट और जीवनधारा ही कुछ ऐसी है कि उसमें शहरों की तुलना में बहुत कम परिवहन और संचार के साधनों की आवश्यकता पड़ती है। परन्तु भारत के गांवों में परिवहन और संचार की अल्पतम अपेक्षित सुविधाएं भी प्राप्त नहीं हैं। ग्राम-जीवन में उन्नति के लिए उनमें इन साधनों का अधिकाधिक विकास आवश्यक हो जाता है।

४. अनाज और उपहारों (gift) **का विनिमय के माध्यम के रूप में प्रयोग.** वस्तुओं की अदल-बदल (barter) विनिमय का प्राचीन रूप है। जब

तक एक मूल्यमापक सर्वमान्य मुद्रा (Money) का आविष्कार और प्रचार नहीं हुआ था, अदल-बदल का ही रिवाज था। भारत के गांवों में अभी पर्याप्त अंशों में यह बाकी है। हमारे यहां किसान प्रायः अनाज के तोल में उन सब लोगों का भुगतान करते हैं जिनसे कि वह विभिन्न प्रकार की सेवाएं लेते हैं। इसी प्रकार गांवों के लोग दूकानों से या अन्य लोगों से अनाज के बदले में चीजें खरीदते हैं। इसे विशुद्ध अर्थों में अदल-बदल नहीं कह सकते, क्योंकि इस विनिमय के पीछे उसका मुद्रा-मूल्य विद्यमान है। जो भी हो, इसमें तो संदेह नहीं कि हमारे गांवों में अनाज का विनिमय के माध्यम के रूप में पर्याप्त प्रयोग किया जाता है। यह भी ठीक है कि नगरों के अधिकाधिक सम्पर्क में आने के कारण, निरंतर इस प्रकार के विनिमय का अनुपात घटता जा रहा है।

अनाज में भुगतान के अतिरिक्त, गांवों में शादी-ब्याह या अन्य विशेष अवसरों पर उपहार देने की प्रथा पर्याप्त प्रचलित है। इस प्रकार किसी व्यक्ति को उनका भार वहन करने में अधिक कठिनाई नहीं उठानी पड़ती। यहां पर उपहार एक महत्त्वपूर्ण आर्थिक आवश्यकता को पूरा करते हैं। उपहार देने की यह प्रथा पारस्परिक है। जो व्यक्ति एक विशेष अवसर पर अन्य लोगों से उपहार प्राप्त करता है, उसे अन्य व्यक्तियों के यहां ऐसा अवसर उपस्थित होने पर स्वयं उतना ही मूल्यवान् उपहार देना पड़ता है। लोग इस बात को बहुत अच्छी तरह याद रखते हैं कि उन्हें अमुक से क्या मिला और उसे उन्हें वैसा अवसर पड़ने पर क्या देना चाहिए।

५. **भूमिहीन मजदूर.** भारतीय ग्रामों की लगभग ३० प्रतिशत जनसंख्या भूमिहीन मजदूरों की है। इनमें से अधिकांश वह लोग हैं, जो पहले किन्हीं लाभप्रद कुटीर-उद्योगों में लगे हुए थे, किन्तु कुटीर-उद्योगों के नष्ट होने तथा कृषि के अलावा जीविका-उपार्जन का अन्य कोई उपाय उपलब्ध न होने के कारण यह लोग बटाई पर अथवा खेतों पर मजदूरी कर अपना गुजर-करते हैं। भूमिहीन मजदूर हमारे ग्रामों के आर्थिक जीवन का एक महत्त्वपूर्ण अंग और विद्यमान आर्थिक व्यवस्था का एक दुर्भाग्यपूर्ण परिणाम हैं।

भूमिहीन मजदूरों की दशा गांवों के किसानों से भी बदतर है। भारतीय ग्राम-जीवन के पुनर्निर्माण की योजना में इनकी समस्या के समाधान को प्राथमिकता मिलना आवश्यक हो जाता है। हाल में आचार्य बिनोवा भावे ने इसे भूदान-यज्ञ के आन्दोलन से हल करने का प्रयास किया है। उन्होंने १ करोड़ भूमिहीन मजदूरों के लिए १९५७ तक ५ करोड़ एकड़ भूमि जमींदारों

से एकत्रित करने की योजना बनाई है। जनवरी १९५४ तक इस कार्य के लिए लगभग ४५ लाख एकड़ जमीन प्राप्त हो सकी है । भूदान-आन्दोलन की सफलता और युक्तियुक्तता के संबंध में ग्राम-सुधारकों में पर्याप्त मतभेद है । मीराबेनें जैसी रचनात्मक कार्यकर्त्री ने इसके संबंध में बहुत संदेह प्रकट किया है। विद्यमान स्थिति में जब तक आर्थिक ढांचे के परिवर्तन और पेशेवर पुर्नवितरण की कोई विस्तृत और सार्वभौम योजना तैयार और कार्यान्वित नहीं होती, जो कि इन भूमिहीन मजदूरों को कृषि के अलावा अन्य उत्पादक उद्योगों में लगा सके--भूदान-आंदोलन वर्तमान अवस्था में उन्हें अवश्य बहुत कुछ राहत दिला सकता है। इस आन्दोलन का अवश्य एक महान् नैतिक महत्त्व है, पर आर्थिक आयोजन के एक अनुयायी को, विशेषकर उद्योगीकरण के प्रबल पक्षपाती को, इसका अधिक आर्थिक औचित्य प्रतीत नहीं होता। देश के आर्थिक पुर्ननिर्माण की योजना में भूमिविहीन मजदूरों का स्थान कृषि में न हो, उद्योगों, व्यापार और सेवाओं के विस्तार में होना चाहिए।

गैर आर्थिक पहलू. अभी तक हमने ग्राम-जीवन के प्रमुख,आर्थिक पहलुओं का विवेचन किया हैं, आगे हम उसके प्रमुख, गैर-आर्थिक पहलुओं का वर्णन करेंगे। पर हमें यह न भूलना चाहिए कि यह गैर-आर्थिक नजर आनेवाले पहलू भी अल्पाधिक अंशों में अन्य तथ्यों के साथ आर्थिक परिस्थितियों से बहुत कुछ और बहुत बार प्रभावित होते हैं।

६. गन्दगी. सर्वव्यापी गन्दगी हमारे गांवों में प्रवेश करनेवाले किसी भी दर्शक का ध्यान बलात् अपनी ओर आर्कषित करती है। यह गन्दगी मुख्यतः तीनतरफा है--व्यक्तियों, वातावरण और घरों से संबंधित । सामान्यतः ग्रामवासी व्यक्तिगत सफाई पर ध्यान नहीं देते, उनके शरीर और कपड़े गंदे रहते हैं। पानी और साबुन का अभाव तथा सफाई के प्रति उदासीनता इसका मुख्य कारण हैं। यह गन्दगी व्यक्तिगत गन्दगी तक ही सीमित नहीं है। गांवों में मैला और कूड़ा-करकट साफ करने और फेंकने की कोई उचित व्यवस्था नहीं है। प्रायः घरों के सामने ही गन्दगी के ढेर लगे रहते हैं। गांवों में सामान्यतः पाखानों का सर्वथा अभाव है। घरों के आसपास ही लोग कहीं भी बैठकर शौच और मूत्र-त्याग कर लेते हैं। गन्दे पानी के निकलने की भी कोई व्यवस्था नहीं है। परिणामतः, पानी सड़ता रहता है और कीचड़ जमा होती रहती है। इस प्रकार गांव का सामान्य वातावरण भी बहुत गन्दा रहता है। इसके अतिरिक्त, हमारे ग्राम-

वासी जिन घरों में रहते हैं, उनकी अवस्था भी बहुत दयनीय है। उनमें भी सफाई का पर्याप्त अभाव पाया जाता है।

गांवों की गन्दगी उनकी गरीबी और अशिक्षा से घनिष्ठतया संबंधित है। उसका ग्राम-जीवन से कोई कार्य-कारण का संबंध नहीं है। ग्रामीण जीवन की उन्नति के लिए उनकी गन्दगी को दूर करना परम आवश्यक है।

७. **बुरा स्वास्थ्य.** भारतीय ग्रामवासियों का स्वास्थ्य सामान्यतः बहुत ही गिरा हुआ है। यों तो गांववाले स्वयं ही खाद्य सामग्री उपजाते हैं, पर उन्हें स्वयं ही वह उचित मात्रा में उपलब्ध नहीं होती। उन्हें बहुत ही कम भोजन और पोषण मिलता है। इसके अतिरिक्त, गांव का अस्वच्छ वातावरण विभिन्न प्रकार की बीमारियों और महामारियों के लिए बहुत ही अनुकूल है। साथ ही वहां पर रोगों की चिकित्सा की सुविधाओं का सर्वथा अभाव है। इन सब कारणों से गांववालों का स्वाथ्य प्रायः खराब रहता है। वैसे तो खुली हवा और कारखानों के दूषित धुएं, या गैसों के अभाव में गांववालों का स्वास्थ्य शहरवालों की तुलना में अधिक अच्छा होना चाहिए। जिन देशों में किसानों की आर्थिक स्थिति अच्छी है, वहां पर ऐसा ही है, पर भारत की विशेष परिस्थितियां उसके ग्रामवासियों के गिरे हुए स्वास्थ्य के लिए जिम्मेदार हैं। अस्वास्थ्यकर आदतों के अलावा, बुरे स्वास्थ्य में उनकी गरीबी भी प्रधान कारण है। ग्राम-सुधार की किसी भी योजना में ग्रामवासियों की स्वास्थ्य-रक्षा को उचित स्थान मिलना चाहिए।

८. **अशिक्षा.** यों तो सारे देशों में ही शिक्षा सुविधाओं का सर्वथा अभाव है, पर गांवों में तो अशिक्षा का असाधारण आधिपत्य है। कुल देश में जब कि साक्षरता का अनुपात १७.२ प्रतिशत है गांवों में उसका अनुपात केवल २ प्रतिशत है। गांवों में हमारी लगभग ८३ प्रतिशत जनसंख्या रहती है जब कि वहां कुल प्राथमिक, माध्यमिक और हाई स्कूलों में से केवल क्रमशः ६०, ६७ और २६ प्रतिशत स्कूल स्थित हैं। इसके विपरीत, नगरों में जहां कि केवल १३ प्रतिशत जनसंख्या है, उनका अनुपात क्रमशः ४०,३३ और ८४ प्रतिशत है।

इससे स्पष्ट है कि अशिक्षा का बड़ा अंश गांवों के हिस्से पड़ा है। इसका आखिर क्या कारण है? गांवों की जनता शिक्षा के महत्त्व को समझती है, वह शिक्षितों का सम्मान भी करती है। पर न तो उसे शिक्षा की सुविधाएं ही प्राप्त हैं और न उसके पास उसे प्राप्त करने के साधन हैं। इसके अतिरिक्त, कुछ सामाजिक कारण भी हैं जो कि ग्रामों के विशेष वर्गों में शिक्षा के

प्रसार को रोकते हैं। उनमें जाति-भेद तथा नारी का निम्न स्थान मुख्य हैं। विशेषतः, गांवों में स्त्रियां और निम्न जाति के सदस्य पुरुषों और सवर्ण जातियों के साथ अथवा पृथक् शिक्षा पाने की कल्पना नहीं कर सकते। संक्षेप में ग्रामों की अशिक्षा का भी उसकी आर्थिक और सामाजिक स्थिति से घनिष्ठ संबंध है। अतः समुचित आर्थिक और सामाजिक सुधार ग्रामों में शिक्षा के प्रचार और प्रसार के लिए आवश्यक प्रतीत होता है। इसके अतिरिक्त सरकार की शिक्षा नीति भी इसे बहुत अंशों में प्रभावित करती और कर सकती है।

भारतीय ग्राम-जीवन के कुछ सार्वभौम तत्त्व

९. **संयुक्त और बड़े परिवार.** आधुनिक प्रभावों और प्रवृत्तियों के आगमन से पहले भारतीय ग्राम-परिवारों का रूप प्रायः संयुक्त ही था। सभी भाई और निकट-संबंधी मिलकर एक सम्मिलित परिवार में रहते थे। प्रत्येक सदस्य अपनी योग्यतानुसार कार्य करता था और उनमें से प्रत्येक को अपनी आवश्यकतानुसार सुविधाएं प्राप्त होती थीं। इस प्रकार सम्पत्ति पर संयुक्त स्वामित्व था। व्यक्तिवादी विचारधाराओं, उद्योगीकरण और परिणामतः, नगरों की ओर निष्क्रमण, पूर्वकालीन संयुक्त और वृहत् परिवार-व्यवस्था पर आघात कर रहे हैं, पर अभी भी ग्रामों में, नगरों की तुलना में संयुक्त और बड़े परिवार पर्याप्त संख्या में जीवित हैं। यद्यपि भावी प्रवृत्ति एकाकी ओर छोटे परिवारों की ओर है।

१०. **परिवार-उत्पादन की इकाई.** ग्रामों में उत्पादक उत्पादन के साधनों के स्वयं ही स्वामी हैं, उनका उत्पादन का पैमाना छोटा है और उनके उत्पादन की प्रक्रियाएं सरल हैं। इसलिए उत्पादन की इकाई प्रायः, बहुत ही छोटी, सामान्यतः एक परिवार है। एक परिवार के सदस्य—स्त्री, पुरुष, बच्चे और बूढ़े आपस में मिलकर अपनी क्षमतानुसार उत्पादन की विभिन्न प्रक्रियाओं को सम्पादित करते हैं। हमारे गांवों में उत्पादन का रूप अभी तक न तो सहकारी है और न सामूहिक ही। वह एकाकी है, अतः परिवार ही उत्पादन की इकाई है। सहकारिता और सामूहीकरण की नई प्रवृत्तियां यदि सफल हुईं, जैसी कि आशा की जाती है, तो अवश्य परिवार का एक उत्पादक इकाई के रूप में अन्त हो जाने की संभावना है।

११. **पारिवारिक नियंत्रण की प्रभुता.** चूंकि परिवार के सदस्य अधिकांश समय अपने परिवार के सदस्यों के साथ ही रहते और काम करते हैं, उन्हें

बाह्य संस्थाओं और समितियों के प्रभाव में आने का बहुत ही कम अवसर मिलता है। परिवार के सदस्यों के बीच स्नेह, सम्मान और निष्ठा के संबंध बहुत ही दृढ़ होते हैं। इसका यह स्वाभाविक परिणाम होता है कि परिवार के सदस्यों, विशेषकर बच्चों के व्यवहार पर, परिवार का अनुपम और प्रबल नियंत्रण होता है। परिवार से ही वह अपने आचार, कर्त्तव्य, खान-पान यहां तक कि सोचने की विशेषताएं भी प्राप्त करते हैं।

१२. नारी का निम्नस्तर. सामान्यतः गांवों के उदय के साथ सामन्तवाद का विकास हुआ। इस सामन्तवादी व्यवस्था में समृद्ध या बड़े किसानों-जमींदारों तथा निर्धन किसानों के दो मुख्य वर्ग बन गये। इस सामन्त-शाही व्यवस्था में प्रायः, सामन्त या जमींदार वर्गों में बहुपत्नी प्रथा का प्रारम्भ हुआ। स्त्रियां एक सजावट की चीज समझी जाने लगीं और आर्थिक कृत्यों में उनका सहयोग समाप्त हो गया। ऐसी स्थिति में उनका दर्जा गिरना स्वाभाविक था। किन्तु तथाकथित निम्न कृषक-वर्गों में, स्त्रियों के आर्थिक कृत्यों में सक्रिय सहयोग देने के कारण स्त्रियों की स्थिति अच्छी रही और आज भी उन वर्गों में स्त्री का स्थान अपेक्षतया पर्याप्त ऊंचा है। पर उच्च कृषक वर्गों के प्रतिष्ठागत प्रभाव के कारण स्त्री के प्रति उनके मन में भी सम्मान की भावना नहीं है और वह भी स्त्री को एक निम्न प्राणी समझते हैं।

१३. धर्म का व्यापक प्रभाव. आदिकालीन मनुष्य की भांति कृषक भी अमानवीय, अलौकिक और लोकोत्तर शक्तियों में गहरा विश्वास रखते हैं। वर्षा, बाढ़, मौसम, महामारियों, पशुओं और पौधों के रोगों इत्यादि प्राकृतिक तथ्यों की अनिश्चितता और उनके बीच उनकी असहायता अलौकिक शक्तियों में उनके विश्वास को दृढ़ करती है। यही कारण है कि ग्रामवासी प्रायः बहुत ही धार्मिक होते हैं। उनकी यह धार्मिकता उनके समस्त कार्यो और व्यवहारों में प्रकट होती है। उनके परिवार, उनकी नैतिकता, उनके विचारों उनके खानपान, उनके मनोरंजन, उनके त्योहार, उनकी चिकित्सा, यहां तक कि उनकी आर्थिक क्रियाओं को भी, उनका धर्म निश्चित और प्रभावित करता है। उसका प्रभाव विस्तृत और व्यापक है। कृषि और गांवों के विकास के साथ धर्म में एक और नई प्रवृत्ति का प्रादुर्भाव संभव हो सका। अब आर्थिक स्थिरता, निश्चितता और सम्पत्ति में कुछ वृद्धि हुई और गांवों में एक स्थायी धार्मिक पुरोहित वर्ग का उद्भव संभव हुआ और ब्राह्मणों या मुल्लाओं के रूप में एक श्रेणी विकसित हो सकी। इसी समय सामूहिक पूजा-स्थानों का निर्माण भी

संभव हुआ। ग्राम-जीवन, विशेषतः भारतीय ग्राम-जीवन, पर धर्म का अभी भी प्रबल प्रभाव है।

१४. जाति-भेद और सामाजिक स्तरीकरण (Stratification). जाति-भेद हिन्दू-धर्म की प्रमुख देन है। हिन्दू-धर्म के प्रभाव में आकर और अधिकांश मुसलमानों के पूर्वज हिन्दू होने के कारण, भारत में इस्लाम ने भी इसे अपना लिया है। ग्रामवासियों के पेशों और धंधों का निर्धारण अभी भी उनकी जाति करती है। यद्यपि आर्थिक परिस्थितियों के दबाव में बहुत-सी जातियों के सदस्यों को अपने पैतृक पेशों पर चिपटे रहने में पर्याप्त कठिनाइयां उत्पन्न हो रही हैं और वह अपने पेशे के निकट कुछ पेशों को अपनाने पर मजबूर हो रहे हैं, फिर भी उनके सामाजिक जीवन पर जाति का प्रबल प्रभाव है। शादी-ब्याह और खान-पान के मामले में तो वह अभी भी सर्वोपरि है।

१५. पंचायतों का प्रभाव. हमारे गांवों में झगड़ों के निपटाने और आचार-व्यवहार की सुरक्षा का प्रमुख साधन गांव की सामान्य और जातियों की विशेष पंचायतें हैं। पड़ोस या बिरादरी के सुपरिचित और घनिष्ठ सदस्यों द्वारा निर्मित होने के कारण गांववालों के जीवन पर उनका प्रबल प्रभाव होता है। गांवों में अपराधी का गांव के सब सदस्यों से घनिष्ठ परिचय होने के कारण लोकोपवाद या बिरादरी की निगाह में नीचे गिरने का डर सजा से भी ज्यादा होता है। इस प्रकार गांववालों के व्यवहार को समाज से स्वीकृत रीति पर नियंत्रित करने में पंचायतें महत्त्वपूर्ण पार्ट अदा करती हैं।

आधुनिक प्रवृत्तियों के प्रभाव, पारिवारिक विभाजन और जनसंख्या के एक अंश के निष्क्रमण के कारण गांव और जाति-पंचायतों का प्रभाव धीरे-धीरे कम होता जा रहा है। हाल में कुछ राज्यों की सरकारों ने, विशेषकर उत्तर-प्रदेश में, गांव-पंचायतों को जनतंत्रीय रीति पर पुनर्संगठित करने का प्रयास किया है और उसके लिए आवश्यक कानून पास किये हैं तथा गांव-पंचायतों को विशेष अधिकार प्रदान किये हैं, जिससे आशा की जाती है कि भविष्य में पुनः ग्राम-जीवन पर पंचायतों का प्रभाव दृढ़ हो सकेगा। किन्तु नई पंचायतों के संगठन, कार्य-प्रणाली और दंड-नीति में पुरानी पंचायतों से पर्याप्त अन्तर होगा।

१६. रिवाजों का प्रभाव. गांववालों का जीवन प्रायः प्रतियोगिता या सरकारी कानूनों के सिद्धान्तों से निर्धारित नहीं होता। रिवाज, प्रथा और परम्परा उसके मुख्य परिचालक हैं। किसान को विभिन्न सेवाओं के लिए दी गई

मजदूरी या मुआवजे का आधार उस सेवा का आर्थिक सिद्धान्तों द्वारा निश्चित मूल्य न होकर, प्रायः रिवाज होते हैं। अन्य गैर-आर्थिक क्षेत्रों में तो रिवाज ही निर्णायक तथ्य होता है। गांवों में बाह्य विचारों और सम्पर्कों के फलस्वरूप रिवाजों की पुरानी शक्ति, विशेषतः आर्थिक क्षेत्र में, प्रायः क्षीण होती जा रही है। पर अन्य क्षेत्रों में अभी उसका पर्याप्त प्रावल्य है।

१७. **मन्द जीवन.** उत्पादन के अपेक्षतया सरल साधन तथा प्रायः पर्याप्त अवकाश होने के कारण गांवों में जीवन की गति शहरों की तुलना में बहुत मन्द होती है। सब काम धीरे-धीरे चलता है। किसी को भागदौड़ या जल्दी नहीं होती। यह मन्दता केवल शारीरिक बाहरी दौड़धूप में ही नजर नहीं आती, प्रत्युत् विचारों, विश्वासों और संस्थाओं के सभी क्षेत्रों पर व्यक्त होती है।

१८. **आदर्श और परम्पराओं की एकता.** ग्राम-जीवन की आत्मनिर्भरता, बाह्य प्रभावों के आक्रमण से अपेक्षतया सुरक्षा, ग्रामवासियों के आदर्शों और एकता को अपेक्षतया अक्षुण्ण और एक रखने में बड़ी मदद करती है। ग्राम-जीवन में परिवर्तन की गति बहुत मन्द होती है। साथ ही अनेक जटिल समस्याओं, उनके परस्पर-विरोधी हल और नाना विचारधाराओं के प्रसार के साधन और संस्थाएं भी नहीं होतीं। इसका परिणाम होता है कि वहां के रहनेवालों के आदर्शों और परम्पराओं में पर्याप्त एकता पाई जाती है। यह चीज हमें भारतीय ग्रामों में भी दिखाई देती है।

१९. **संतोषी और भाग्यवादी दृष्टिकोण.** धर्म और कर्म के सिद्धान्त में अटूट विकास, प्रकृति के सम्मुख गांववालों की असहायता तथा पुरुषार्थ द्वारा उन्नति का सीमित अवसर और सुविधाएं तथा समाज का जातिगत, श्रेणिबद्ध और अजनतांत्रिक संगठन, गरीबी और मन्द जीवन सभी तथ्य मिलकर, उनके मन में एक संतोषी और भाग्यवादी दृष्टिकोण की सृष्टि करते हैं। यह संतोषी और भाग्यवादी दृष्टिकोण भारतीय गांवों के किसान और मजदूर की एक विशेषता बन चुकी है। वह अपने को ऐसी स्थिति में अनुभव करता है जहां कि उसके प्रयत्न उसे मुक्ति नहीं दिला सकते, केवल कोई अलौकिक रहस्यमयी शक्ति, जिसे वह भगवान् या अल्लाह कहता है, शायद उसे उससे छुटकारा दिला सकती है।

२०. **अपराधों की कमी.** सामान्यतः, आर्थिक स्थिति का अपराधों की संख्या पर पर्याप्त प्रभाव पड़ता है। गांवों की हृदयद्रावक गरीबी को देखते हुए वहां पर चोरी के अधिक अपराधों का होना स्वाभाविक है। परन्तु आर्थिक कारणों के अलावा कुछ ऐसे कारण हैं, जो कि गांवों में अपराधों की संख्या पर

प्रभावशाली प्रतिबन्ध का काम करते हैं। गांवों के सब रहनेवाले एक दूसरे से खूब अच्छी तरह परिचित होते हैं, उन्हें रोज ही आपस में काम पड़ता है और वह विभिन्न कार्यों के लिए सहयोग करते हैं। गांवों की बनावट ऐसी होती है कि वहां चोरी का छिपाना बहुत मुश्किल होता है। इसके अतिरिक्त, छुपने की सुविधाएं भी नहीं होतीं और पकड़े जाना अधिक सरल और पकड़े जाने पर लोकोपवाद का भय प्रबल होता है। इसके अलावा गांवों में ऐशोइशरत और सम्पत्ति की वह तड़क-भड़क और वह असंतोष भी नहीं होता जो कि ग्रामवासियों में अधिक प्रलोभन और अपराध की प्रवृत्ति पैदा करे। इन्हीं सब कारणों से गांवों में अपराधों का अनुपात प्रायः पर्याप्त कम होता है।

२१. **मुकदमेबाजी और मारपीट.** जहां एक ओर ग्रामजीवन, उसका संगठन, उसकी परिवार और पंचायत जैसी संस्थाएं अपराधों की संख्या पर पर्याप्त नियंत्रण रखती हैं, वहां पिछले सालों में उनके घटते प्रभाव और जमीन पर जनसंख्या के बढ़ते दबाव और नई व्यक्तिवादी प्रवृत्तियों के प्रवेश के कारण गांवों में मुकदमेबाजी बहुत बढ़ गई है। इसके अलावा गांवों में सामान्यतः शिक्षा का अभाव होने के कारण, छोटी-छोटी बातों को लेकर लोग प्रायः अपने होश-हवास खो बैठते हैं और औरतों और ढोरों, पेड़ों और पानी या सामान्य प्रतिष्ठा के साधारण से प्रश्नों के लिए वहां पर प्रायः भीषण मारपीट और रक्तपात हो जाता है। कभी-कभी परिवारों में दुश्मनियां ठन जाती हैं जो पुश्तों तक चलती रहती हैं और अनेक बार वह बहुत ही उग्र रूप धारण कर लेती हैं। गांवों में ऐसे बहुत से वर्ग हैं जो कि अपने झगड़ों को निपटाने के लिए अदालत में जाना अपनी हतक और स्वयं ही उनका निपटारा करना उचित समझते हैं।

२२. **प्रकृति से निकटता.** ग्रामवासी प्रकृति की गोद में पलते हैं। ऊषा, संध्या, वर्षा, ऋतुओं के परिवर्तन, पौधों, पक्षियों और पशुओं तथा अन्य प्राकृतिक वस्तुओं और घटनाओं से उनका घनिष्ठ सम्पर्क होता है और वह उनसे सदा अद्भुत आत्मीयता अनुभव करते है। प्रकृति के साथ उनकी यह आत्मीयता उनके लोकगीतों, उनकी जनश्रुति और उनके विश्वासों में अपनी अभिव्यक्ति पाती है। एक नगरवासी की भांति प्रकृति से उनका परिचय पुस्तकों और निर्जीव चल-चित्रों द्वारा न होकर, प्रत्यक्ष और साक्षात् होता है। ग्रामवासी की प्रकृति से यह आत्मीयता उसके साधारण ज्ञान और अनुभव में वृद्धि करती है तथा उसकी सृजनात्मक शक्तियों को विकसित करती है।

२३. **मनोरंजन में मुनाफाखोरी का अभाव.** गांवों के अन्य क्षेत्रों की

भांति गांवों में मनोरंजन भी अभी तक व्यापार और मुनाफाखोरी का साधन नहीं बन पाया है। साधारण जीवन की भांति उसके साधन बहुत ही सरल और सस्ते हैं, प्रायः उनमें कुछ भी खर्च नहीं होता। इसके अलावा वह व्यक्तिगत या एकाकी न होकर प्रायः सामुदायिक और सम्मिलित होते हैं। अन्य क्षेत्रों की भांति उनपर भी धर्म का प्रबल प्रभाव होता है। यह मनोरंजन उनके कष्टों को भुलाने और सहकारी भावना के विकास में बड़ा योग देते हैं। सामूहिक नृत्य, गान, अभिनय, खेल-कूद, त्योहार, उत्सव, मेले, सहभोज ग्रामों के मनोरंजन के उत्तम साधन हैं। ग्राम-सुधार की किसी भी योजना में इनसे लाभ उठाना और इन्हें प्रोत्साहित करना परम आवश्यक है।

भारतीय ग्रामों का पुर्ननिर्माण और आयोजन

पिछले पृष्ठों में हमने भारतीय ग्राम-जीवन के प्रमुख लक्षणों, उनकी विशेषताओं, समस्याओं, दुर्बलताओं और शक्ति का संक्षिप्त परिचय देने का प्रयत्न किया है। यह जानकारी हमें उसके पुर्ननिर्माण और आयोजन में सहायता देगी।

गांवों की समस्याओं ने बहुत पहले से हमारे देश के सुधारकों का ध्यान अपनी ओर आकर्षित किया है। भारतीय राजनैतिक जागृति के सूत्रधार महात्मा गांधी का ध्यान राजनीति में प्रवेश करने के साथ ही गांवों के सुधार की ओर गया और उन्होंने उनके सुधार और पुनरुद्धार पर सबसे अधिक बल दिया और अपने रचनात्मक कार्यक्रम में उसे सबसे प्रमुख स्थान दिया। उन्होंने एक लम्बे समय तक वर्धा में ग्राम-सुधार और उनकी समस्याओं को सुलझाने के विभिन्न प्रयत्न किये। गांधीजी की प्रेरणा से राष्ट्रीय आन्दोलन ने सदा ही ग्राम-सुधार के प्रति विशेष अभिरुचि दिखाई।

भारत की विदेशी सरकार, सामान्यतः देश के सुधार की सभी समस्याओं से, जिसमें ग्रामों का सुधार भी सम्मिलित है, प्रायः उदास ही रही। किन्तु कुछ अंग्रेज अफसरों ने अवश्य इस दिशा में महत्त्वपूर्ण कार्य किया। पंजाब में ब्रेन और डालिंग ने गांवों के सुधार के प्रशंसनीय प्रयत्न किये। ब्रेन ने १९२० के बाद गुड़गांवा जिले के गांवों को सुधारने का काम शुरू किया, जिसमें उन्हें अच्छी सफलता प्राप्त हुई। उनका यह प्रयास गुड़गांवा-परीक्षण के नाम से प्रसिद्ध है। उधर सरकार के सहकारी और कृषि-विभाग भी ग्रामवासियों को सहायता देने के प्रयत्न करते रहे।

१९३७ में पहली बार अधिकांश भारतीय प्रान्तों में लोकप्रिय शासन की

स्थापना हुई। यह सरकारें सुपरिचित राजनैतिक कारणों के कारण कठिनाई से सोलह महीने ही काम कर सकीं, लेकिन इस बीच इन्होंने ग्राम-सुधार के आन्दोलन में पर्याप्त दिलचस्पी ली। १९३९ में लोकप्रिय सरकारों के स्तीफा दे देने के कारण पुनः यह कार्य सार्वजनिक सहयोग और उत्साह के अभाव में शिथिल पड़ गया।

१९४७ में देश को स्वाधीनता प्राप्त हुई और पुनः प्रथम राष्ट्रीय सरकार का ध्यान गांवों तथा देश की अन्य समस्याओं की ओर आकर्षित हुआ। इस सरकार के तत्वावधान में देश के आर्थिक पुनर्निर्माण की एक पंचवर्षीय योजना तैयार की गई और इसमें अन्य समस्याओं के साथ ग्रामों के पुनर्निर्माण को प्रमुख स्थान दिया गया। पंचवर्षीय योजना में ग्राम-पुनर्निर्माण और आयोजन का यह कार्यक्रम सामुदायिक योजनाओं के नाम से प्रसिद्ध हैं। इन योजनाओं का संक्षिप्त परिचय आवश्यक है।

सामुदायिक योजनाएं (Community Projects)

यों तो पिछले तीस सालों से विभिन्न राज्यों में शासन के विभिन्न विभाग, जैसे कि सहकारिता और ग्राम-सुधार विभाग, ग्रामों के विकास के कामों को कर रहे हैं। लेकिन अभी तक एक तो इस विकास पर व्यय की गई रकम बहुत कम थी और साथ ही ग्राम-जीवन के प्रति इनका कोई एकीकृत, समन्वित दृष्टिकोण न था। प्रत्येक विभाग का कार्य एक दूसरे से पृथक् था और उनमें आपसी सामंजस्य न था।

पिछले सालों में मध्य प्रदेश में सेवाग्राम, मद्रास में फिरका-विकास योजना, बम्बई में सर्वोदय-केन्द्रों तथा उत्तर प्रदेश में इटावा और गोरखपुर की पाइलट योजनाओं में ग्राम-सुधार की दिशा में महत्त्वपूर्ण और सफल परीक्षण किये गये। इन परीक्षणों का अनुभव इस सामुदायिक विकास की योजना का प्रमुख आधार है। इन योजनाओं में ग्राम-सुधार की सभी समस्याओं को समग्र रूप में एक साथ लेने, जनता के सक्रिय सहयोग तथा जनता के ऊपर उनकी सफलता के मुख्य दायित्व को स्वीकार किया गया है।

लक्ष्य सामुदायिक विकास. पंचवर्षीय योजना में सामुदायिक विकास और ग्राम-विस्तार (Rural Extension) सेवाओं को गांवों के पुनर्निर्माण का साधन माना गया है।

सार्वभौम और विस्तृत रूप. सामुदायिक योजना ग्राम-जीवन के सभी मोर्चों पर एक साथ समग्र रूप से आगे बढ़ना चाहती है। इसमें कृषि और उससे

सम्बन्धित विषयों, सिंचाई, संचार, शिक्षा, स्वास्थ्य, सहायक रोजगार, गृह-निर्माण, कार्यकर्त्ताओं की ट्रेनिंग तथा सामाजिक कल्याण—ग्रामों के पुनर्निर्माण से सम्बद्ध सभी आवश्यक कार्यों का समावेश है।

कृषि से संबंधित कार्य. कृषि और उससे संबंधित विषयों में सामुदायिक योजना प्राप्य नई और बंजर भूमि के पुनरुद्धार, कृषि के लिए नहरों, नल-कुओं, साधारण कुओं, तालाबों तथा नहरों, झीलों और तालाबों द्वारा पानी पहुंचाने, अच्छे किस्म के बीजों, सुधरी हुई कृषि के तरीकों, पशुचिकित्सा की सहायता, सुधरे हुए कृषि उपकरणों, विक्रय और ऋण की सुविधाओं और पशुओं की नस्ल सुधारने के लिए केन्द्रों की व्यवस्था, आन्तरिक मीन-क्षेत्रों (Fisheries) के विकास, भोजन में आवश्यक परिवर्तन, फलों और तरकारियों की खेती की उन्नति, खाद के प्रबन्ध और जमीनों के गुणों की शोधों, जंगलों के लगाने तथा इन कार्यों के परिणामों के आंकने की व्यवस्था करती है।

संचार का विकास. संचार के क्षेत्र में यह सड़कों के निर्माण, यान्त्रिक सड़क, परिवहन सेवाओं के विकास तथा पशुओं द्वारा परिवहन के विकास की व्यवस्था करती है।

शिक्षा का विकास. शिक्षा के क्षेत्र में यह अनिवार्य और निःशुल्क प्राथमिक शिक्षा, मिडिल और हाई स्कूलों तथा सामाजिक शिक्षा और पुस्तकालय की सेवाओं को स्थान देती है।

स्वास्थ्य-सेवाओं का विकास. स्वास्थ्य के क्षेत्र में सफाई और सार्वजनिक स्वास्थ्य के कार्यों, रोगियों के लिए डाक्टरी सहायता, गर्भवती माताओं की देखभाल तथा प्रसूति की सेवाओं की व्यवस्था है।

ट्रेनिंग सुविधाओं का विकास. वर्तमान कारीगरों के रहन-सहन के स्तर को सुधारने के लिए उनके पुनर्शिक्षण; कृषकों, विस्तार-सहायकों, नये कारीगरों, निरीक्षकों, प्रबन्ध करनेवाले कार्यकर्त्ताओं, स्वास्थ्य-कार्यकर्त्ताओं तथा योजना के लिए कार्यशील अधिकारियों की ट्रेनिंग भी सामाजिक योजना का अंग है।

रोजगार का विस्तार. मुख्य या सहायक धंधों के रूप में कुटीर-उद्योगों और दस्तकारियों, स्थानीय आवश्यकताओं या योजना के बाहर के क्षेत्रों में निर्यात के लिए फालतू लोगों को रोजगार दिलाने के लिए मंझले और छोटे पैमाने के उद्योगों और आयोजित वितरण-व्यापार, सहायक और हितकारी सेवाओं द्वारा रोजगार को प्रोत्साहन देने की भी इसमें व्यवस्था है।

गृह-निर्माण का विस्तार. गृह-निर्माण के लिए गांवों के उपयुक्त नये डिजाइन देने तथा निर्माण-विधि में सुधार के तरीकों के सुझाने की व्यवस्था है।

सामाजिक कल्याण. सामाजिक कल्याण के लिए स्थानीय प्रतिभा और सांस्कृतिक आधार पर सामुदायिक मनोरंजन की व्यवस्था, शिक्षा और मनोरंजन के लिए ग्रामोफोन, रेडियो, सिनेमा इत्यादि साधनों का उपयोग, स्थानीय तथा अन्य खेलकूद का आयोजन, मेलों तथा सहकारी और आत्म-सहायता आन्दोलन का संगठन सामुदायिक योजना का अंतिम मुख्य कार्य है।

अंतिम लक्ष्य की रूपरेखा

उक्त सामाजिक योजना के पूर्ण होने के बाद हमारे ग्राम-जीवन और संगठन का रूप बहुत कुछ निम्न प्रकार होगा:—

१. ग्राम इकाई. एक ग्राम-इकाई लगभग १०० परिवारों से मिलेगी और उसकी जनसंख्या लगभग ५०० होगी।

पेशेवार पुनर्वितरण. एक गांव की जनसंख्या का पेशेवार पुनर्वितरण बहुत कुछ इस प्रकार होगा—१०० में से ५० कृषक, १० खेतिहर मजदूर, १० ट्रेक्टर और पम्प-ड्राइवर, १२ कला, दस्तकारी और कुटीर-उद्योगों में काम करनेवाले मजदूर, १० नगरीय छोटे पैमाने के उद्योगों में लगे हुए कार्यकर्त्ता, १.५ गृह-निर्माण करनेवाले, २ परिवहन-कर्मचारी, ३.५ दूकानदार, ३ स्कूल-अध्यापक, २ स्वास्थ्य सेवक, .२५ डाकिया, .२५ नाई, .५० कसाई और मोची इत्यादि, शासन से संबंधित व्यक्ति, १ पुलिस और रक्षासेवक, तथा ३ आवारा होंगे। कला-दस्तकारी और कुटीर-उद्योगों में लगे हुए १२ परिवारों का पेशेवार वितरण इस प्रकार होगा—१ बढ़ई, .५ लुहार, .५, दर्जी, .५ चपड़ा कमानेवाला, ४ जुलाहे और रंगरेज, १ हलवाई, .५ कुम्हार, .२ तेली, गुड़ इत्यादि बनानेवाले और २ बर्तन इत्यादि विविध कामों को करनेवाले होंगे।

ग्राम-इकाइयों में यह सुविधाएं होंगी—पीने के पानी के लिए दो पक्के कुएं, नल कुंआ या तालाब, मैला पानी निकलने की उचित व्यवस्था, प्रत्येक पांच गांवों के लिए एक कार्यकर्त्ता की दर से ग्राम-विस्तार-सेवा का विकास, योजना के केन्द्रीय कार्यालय में स्थित अथवा चलती-फिरती चिकित्सालयों द्वारा पशु-चिकित्सा की सेवाएं, खंड (Block) केन्द्रों में स्थित सफाई इन्स्पेक्टरों द्वारा सफाई-सेवाएं, विभिन्न साधनों द्वारा खेती की जानेवाली जमीन में से कम से कम आधी जमीन पर सिंचाई का विस्तार होगा। गांव का लगभग एक-तिहाई हिस्सा घरों, चरागाहों तथा विद्यमान या नये लगाये गये जंगलों के लिए सुरक्षित होगा। गांवों में इस भांति सड़कों को बढ़ाया जायेगा कि एक योजना-क्षेत्र के बीच अवस्थित एक गांव से दूसरे गांव तक के फासले को अधिक से अधिक आधा

मील छोड़ मिला दें और यह आधा मील का फासला गांववाले स्वयं अपनी मेहनत से बनायेंगे। बाकी सड़कों का निर्माण राज्य का दायित्व होगा। स्कूल जाने योग्य सब बच्चों के लिए प्राथमिक स्कूल होंगे। ग्राम-स्कूल या खुली हवा में प्रौढ़ों की शिक्षा और मनोरंजन का एक केन्द्र होगा। जहां सुविधाएं हैं, वहां मछली पकड़ने के लिए केन्द्र होंगे।

२. **मंडी इकाई.** उपर्युक्त गांव की इकाइयों को एक स्थान से मिलाया जाना आवश्यक है, जो विभिन्न गांवों के व्यापार और अन्य कार्यों का केन्द्र बन सके। योजना में इस इकाई को मंडी-इकाई कहा गया है। १५ से २५ गांवों के लिए एक मंडी-इकाई होगी, और यदि यह पहले से विद्यमान न हो, तो एक ऐसी इकाई को स्थापित करना होगा।

मंडी-इकाई में एक मिडिल या माध्यमिक स्कूल, प्राथमिक स्वास्थ्य-केन्द्र से चलती-फिरती स्वास्थ्य-सेवाओं द्वारा संयुक्त एक छोटा शफाखाना, जिसमें एक स्त्री स्वास्थ्य-निरीक्षक, दाई और सफाई-इन्स्पेक्टर होगा, कृषि-विस्तार-सेवा का एक केन्द्रीय कार्यालय, एक डाक और तार घर, एक परिवहन सेवा-केन्द्र, एक बिक्री-केन्द्र, एक कला, दस्तकारी और कुटीर-उद्योग-केन्द्र, कृषि पदार्थों के रखने के लिए एक गोदाम और बिक्री-केन्द्र, एक बाजार, एक सामुदायिक मनोरंजन-केन्द्र तथा एक आदर्श फार्म होगा, जिसमें कि एक बगीचा, एक बीज-उत्पादन-केन्द्र तथा चिड़ियों और पशुओं के ग्याभन कराने की व्यवस्था होगी तथा चलती-फिरती पशु-चिकित्सा-व्यवस्था के लिए एक खुला शफाखाना होगा।

चालू योजना में मंडी इकाइयां सम्मिलित नहीं. आर्थिक साधनों के अभाव में सरकार द्वारा संचालित योजना में मंडी-इकाई को छोड़ दिया गया है और यह आशा की गई है कि गांव इकाइयों के समुचित विकास हो जाने पर व्यक्तिगत और स्थानीय प्रयत्नों से स्वयं ही ऐसी इकाइयों का विकास हो सकेगा।

३. **विकास-खंड.** (Development Block). चार या पांच मंडी केन्द्र मिलकर अपने गांवों के साथ एक विकास-खंड कहलायेंगे। इस विकासखंड का केन्द्रीय कार्यालय एक ग्राम-नगर-संयुक्त उपनगर होगा, जिसकी आबादी लगभग ५००० होगी।

ग्राम-नगर-संयुक्त उपनगर (township) में १००० परिवारों के रहने, शौचालयों और स्नानगृहों, पीने के पानी की वितरण-व्यवस्था, एक पावर-स्टेशन अथवा ट्रांस्फारमर सब-स्टेशन द्वारा बिजली का प्रबन्ध, एक बाजार, कला, दस्तकारी, छोटे और मंझले पैमाने के कुटीर उद्योग, एक डाक-तार और टेली-

फोन घर, एक परिवहन केन्द्र, प्राइमरी और मिडिल स्कूल, एक कृषि-स्कूल, एक १५ चारपाईवाला प्राथमिक स्वास्थ्य-केन्द्र जो कि गांवों में जाकर काम कर सके, शासन-कार्यालय और थाना, एक गौशाला और मुर्गी पालने का केन्द्र, एक शिशुगृह, एक पशु-अस्पताल तथा सामाजिक शिक्षा और सामुदायिक कार्यों का केन्द्र होगा।

ग्राम-नगर-संयुक्त उपनगर भी चालू योजना में सम्मिलित नहीं. आर्थिक साधनों की कमी तथा अन्य कारणों से चालू सरकारी योजना में ग्राम-कस्बा-संयुक्त उपनगरों को छोड़ दिया गया है। इसके स्थान पर बुनियादी ग्राम-योजना में खंड के केन्द्रीय कार्यालय में एक मंडी-इकाई की व्यवस्था की गई है और यह आशा की गई है कि अन्ततोगत्वा यह मंडी-इकाई ही, यदि इसका ठीक प्रकार से आयोजन किया जाय, स्थानीय रहनेवालों के निजी प्रयत्न से एक ग्राम-नगर-संयुक्त उपनगर में विकसित हो सकेगी।

४. नगर ग्राम-संयुक्त उपनगर. तीन विकास-खंड, जिनमें कि लगभग ३०० गांव होंगे, मिलकर एक योजना-क्षेत्र कहलायेंगे। एक योजना-क्षेत्र लगभग आजकल की तहसील के बराबर होगा। योजना-क्षेत्र का केन्द्रीय कार्यालय नगर-ग्राम-संयुक्त उपनगर कहलायेगा। इस नगर-ग्राम-संयुक्त उपनगर की आबादी १० हजार से २० हजार होगी।

इस योजना-क्षेत्र के केन्द्रीय कार्यालय में, ग्राम-नगर-संयुक्त उपनगर में प्राप्त सुविधाओं के अतिरिक्त, एक बेसिक अध्यापकों का ट्रेनिंग कालिज, एक टेक्नीकल ट्रेनिंग केन्द्र, एक न्यायालय, एक ट्रेक्टर सर्विस और सप्लाई स्टेशन, एक परिवहन वर्कशाप, एक इंजीनियरिंग वर्कशाप, सब प्रकार की डाक्टरी सहायता से सज्जित एक माध्यमिक अस्पताल, एक ग्राम-स्तर कार्यकर्त्ताओं का ट्रेनिंग-केन्द्र, एक गौशाला, मुर्गीखाना और कृषि-परीक्षण केन्द्र होंगे।

नगर-ग्राम-संयुक्त उपनगरों की स्थापना की सीमित-व्यवस्था. चालू योजना में नगर-ग्राम-संयुक्त उपनगर की भी व्यवस्था नहीं की गई है। यह मान लिया गया है कि वर्तमान शासन-व्यवस्था में यह पहले से ही विद्यमान है। फिर भी कुछ सम्मिलित योजनाओं के लिए, जो कि बहुत ही सीमित हैं और विशेषतः विस्थापित शरणार्थियों के बसाने के लिए अथवा अविकसित क्षेत्रों के लिए सोची गई हैं, योजना-क्षेत्र के केन्द्र में एक नगर-ग्राम-संयुक्त उपनगर की स्थापना की व्यवस्था की गई है।

वर्तमान योजना का क्षेत्र और मूल्यांकन

भारतीय-अमरीकन टेक्नीकल सहयोग के अन्तर्गत प्राप्त ९० करोड़ रुपए

की रकम से भारत के सारे राज्यों में अभी तक १०८ योजनाओं (Projects) को स्थापित और कार्यान्वित करने की व्यवस्था की गई है। उक्त योजनाओं को पूरा होने में तीन साल लगेंगे। यह आशा की जाती है कि वर्तमान सामुदायिक योजनाएं तीन साल बाद विकास-खंडों में परिवर्तित हो सकेंगी। इसके अन्तर्गत प्रारम्भ में लगभग ४४,६०० गांव और लगभग ३७२ लाख जनसंख्या आ सकेगी। दूसरे शब्दों में इसका अर्थ हुआ कि पहले छः सालों में सामुदायिक योजनाओं से केवल ११ प्रतिशत ग्राम और १० प्रतिशत ग्रामवासी ही लाभान्वित हो सकेंगे। यह आशा की जाती है कि दस सालों में लगभग १,२०,००० गांव अर्थात् एक चौथाई ग्राम इसके नीचे आ सकेंगे। फिलहाल इनका क्षेत्र अत्यन्त ही सीमित है। अतः इन योजनाओं के सफल हो जाने मात्र से भारतीय ग्रामों के पुनर्निर्माण की समस्या हल नहीं हो जाती। हां, इतना अवश्य है कि इन योजनाओं के सफल होने से भविष्य में पुनर्निर्माण के लिए अनुभव प्राप्त कर भावी विकास के लिए एक जमीन तैयार हो सकती है।

वास्तव में ग्रामों के कायाकल्प की समस्या इतनी विस्तृत, विशाल और जटिल है कि उसे राज्य और केन्द्रीय सरकारों के सीमित बजटों और उनके सीमित व्ययों या सीमित वैदेशिक सहायता से नहीं सुलझाया जा सकता। परम्परागत साधन उसकी मांग पूरा नहीं कर सकते। उसके लिए तो जनता में एक विशाल आन्दोलन, एक प्रबल सार्वजनिक चेतना, एक अदम्य उत्साह और लगन की सृष्टि करनी होगी, जिससे कि जनता का एक बड़ा अंश स्वयं निर्माण के कार्य में जुट पड़े। अभी तक विद्यमान नौकरशाही तरीके तथा निर्माण के प्रति जनता की उदासीनता, पुनर्निर्माण के कार्य में बड़ी बाधा हैं। जब तक यह जड़ता दूर नहीं होती, अधिकारी वर्ग और जनता की मनोवृत्ति में एक क्रांतिकारी परिवर्तन नहीं होता, सामाजिक ढांचे को बदलने का दृढ़ निश्चय नहीं होता, तब तक गांवों के पुनर्निर्माण का प्रश्न, जो दूसरे शब्दों में हमारे देश के पुनर्निर्माण का प्रश्न है, बेहल ही रहेगा।

छठा अध्याय

नगरों का विकास, उद्योगीकरण और सामाजिक विघटन

नगरों का विकास

दस्तकारी और व्यापार की वृद्धि से नगरों का उदय. सामुदायिक जीवन के विकास में नगरों का उदय काफी बाद की घटना है। जिस प्रकार कृषि के प्रारम्भ होने के साथ ग्रामों का बसना शुरू हुआ, उसी प्रकार उद्योग, खाद्य वस्तुओं तथा पक्के माल को ले जाने की सुविधाओं के बढ़ने, परिणामतः, व्यापार की उन्नति और वृद्धि के साथ नगरों का उदय हुआ। नगर दस्तकारी की वस्तुओं के निर्माण और क्रय-विक्रय तथा खाद्य पदार्थों के क्रय-विक्रय के केन्द्र बने। इस प्रकार उन स्थानों पर जहां यातायात की सुविधाएं थीं, वस्तुओं की पर्याप्त मांग थी अथवा आसपास कच्चे माल के मिलने की पर्याप्त सुविधाएं थीं, अथवा जहां राजधानियां थी, छोटे-बड़े नगर बन गये। वह स्थान और बन्दरगाह जहां से कि माल देश देशान्तरों को भेजा जाता था, बड़े व्यापारिक नगरों के रूप में विकसित हो गये। इसके अतिरिक्त, विभिन्न प्रकार की वस्तुएं बनानेवाले उत्पादन-केन्द्र औद्योगिक नगरों में विकसित हो गये। कुछ स्थानों ने धार्मिक पवित्रता, परिणामतः वहां पर बड़ी संख्या में लोगों के आने-जाने के कारण, नगरों का रूप धारण कर लिया।

उद्योगीकरण (Industrialisation), **नगरों की वृद्धि और विस्तार.** औद्योगिक क्रान्ति से पहले नगर प्रायः छोटे होते थे। औद्योगिक क्रान्ति ने उत्पादन के तरीके में आमूलचूल परिवर्तन कर बड़े पैमाने के उत्पादन की नींव डाली। इस बड़े पैमाने के उत्पादन के लिए बड़ी राशि में पूंजी की आवश्यकता थी और साथ ही इसके अन्तर्गत एक ही उत्पादन-संस्थान में एक साथ बहुत बड़ी संख्या में मजदूरों का काम करना अनिवार्य हो गया। किसी स्थान पर प्राप्त सुविधाओं के कारण एक मुख्य उद्योग की स्थापना हुई और उस एक मुख्य उद्योग के स्थापित होने पर अनेक पूरक और सहायक गौण उद्योगों की स्थापना हुई। इन उद्योगों के क्रय-विक्रय की मांग को पूरा करने के लिये विभिन्न और निरंतर बढ़नेवाली व्यापारिक यातायात और संवादवहन की सुविधाओं की आवश्यकता उत्पन्न हुई

और समय बीतने पर छोटे-छोटे औद्योगिक नगर, अन्ततोगत्वा बृहत् नगरों में परिवर्तित हो गये। इस प्रकार उद्योगीकरण ने नगरों की वृद्धि और विस्तार में पर्याप्त योगदान दिया। वास्तव में उद्योगीकरण और नगरीकरण एक समानान्तर प्रक्रिया बन गये।

भारत में नगरों का विकास. शिल्पकला और दस्तकारी के पर्याप्त-विकास के साथ भारत में नगरों की स्थापना शुरू हुई। मौर्य युग में हमें पाटलिपुत्र, उज्जैन, ताम्रपर्णी इत्यादि नगरों का वर्णन मिलता है। सारे मध्यकाल में देश भर में विभिन्न छोटे-बड़े नगर विद्यमान थे। यह नगर मुख्यतः शिल्प और व्यापार के केन्द्र थे और इन्हीं में प्रायः राजधानियां थीं। अंग्रेजी शासन की स्थापना के फलस्वरूप, देशी राज्यों और दस्तकारी के नष्ट होने के बाद, इनमें से अधिकांश नगरों का प्राचीन वैभव नष्ट हो गया। उनके स्थान पर नये औद्योगिक नगरों का विकास प्रारम्भ हुआ। कलकत्ता, बम्बई, अहमदाबाद, मद्रास, टाटानगर, कानपुर इनमें से प्रमुख हैं। यों तो भारत में उद्योगीकरण प्रारम्भ हुए आज प्रायः एक शताब्दी हो चुकी है, लेकिन यह देश अभी भी मुख्यतः खेती पर निर्भर है और इसकी ८३ प्रतिशत जनता गांवों में रहती है। बावजूद उद्योगीकरण की मन्द प्रगति के, पिछले तीस सालों में नगरों की जनसंख्या में असाधारण वृद्धि हुई है। पिछले दस सालों में तो इस वृद्धि ने बहुत ही उग्र रूप धारण कर लिया है। १९४१ और १९५१ के बीच हमारे नगरों की जनसंख्या में ५४ प्रतिशत वृद्धि हुई है। भारत की लगभग १७ प्रतिशत जनता शहरों में रहती है। नगरवासियों की संख्या की असाधारण वृद्धि ने आज नगरों में अनेक सामाजिक और आर्थिक समस्याओं को उत्पन्न कर दिया है। देश-निर्माण की किसी भी योजना में इनका समाधान होना आवश्यक है। उद्योगीकरण और नगरीकरण की ओर कदम उठ चुका है, उसकी प्रगति को नहीं रोका जा सकता। अतः यह आवश्यक है कि हम उसके समुचित नियंत्रण का प्रयत्न करें।

उद्योगीकरण और नगरों के विकास से उत्पन्न समस्या का समाधान करने से पहले उसकी प्रमुख विशेषताओं और सामाजिक-आर्थिक जीवन पर उसके प्रभावों को जानना जरूरी है।

नगर की विशेषता

नागरिक जीवन ग्राम-जीवन से पर्याप्त पृथक्. नगरों के जीवन में ग्राम-जीवन से पर्याप्त मौलिक मतभेद है। यों तो मध्यकालीन और आधुनिक नगरों के जीवन में भी पर्याप्त अन्तर है, पर तत्त्वतः आधुनिक नगरों ने मध्यकालीन

नागरिक जीवन की कुछ विशेषताओं को तीव्रतर कर दिया है। संक्षेप में उद्योग और व्यापार नागरिक जीवन की मुख्य धुरी हैं। नगरों के ।नवासी अपनी भोजन की आवश्यकताओं के लिए गांवों पर निर्भर होते हैं। गांवों के विपरीत, वह बहुत बड़ी संख्या में एक स्थान पर एकत्रित हो रहते हैं। उनकी जीविका का साधन, रहन-सहन का स्तर, स्वास्थ्य, ज्ञान, विश्वास, धारणाएं, व्यवहार, सामाजिक संगठन और जीवन गांवों से पर्याप्त पृथक् होता है। परिणामतः, उनकी समस्याएं भी पर्याप्त भिन्न होती हैं। इसलिए उनका पृथक् रूप में अध्ययन आवश्यक हो जाता है।

समुदायों का समुदाय. सदस्यों की संख्या बहुत सीमित तथा उनके आपस में घनिष्ठतया सम्बद्ध और आबद्ध होने के कारण ग्राम एक समुदाय और प्राथमिक समूह है; इसके विपरीत, सदस्यों की अत्यधिक संख्या तथा आपस में उनकी अल्प घनिष्ठता तथा आत्मीयता के अभाव में नगर विभिन्न समुदाय का एक समुदाय है। नागरिक समूह एक बहुत ही ढीलाढाला समूह है।

उद्योगीकरण और नगरीकरण के सामाजिक-आर्थिक प्रभाव

आज हम जिस नागरिक जीवन का अध्ययन करते हैं, वह उस नागरिक जीवन का है जो कि एक औद्योगिक समाज में विद्यमान है। कृषि-प्रधान देशों में ग्रामों और उद्योग-प्रधान देशों में नगरों का प्रभुत्व रहता है। अतः उद्योगीकरण और नागरिक जीवन के प्रभावों का साथ-साथ अध्ययन अप्रासंगिक न होगा।

उद्योगीकरण और तज्जनित नगरों की वृद्धि और विकास ने सामाजिक जीवन के प्रत्येक पहलू को प्रभावित किया है। विभिन्न देशों में उद्योगीकरण और नगरों का प्रसार विभिन्न परिस्थितियों में और विभिन्न रीतियों से हुआ है। ऐसी स्थिति में यह सर्वथा स्वाभाविक है कि उनके जीवन में कुछ पार्थक्य दृष्टिगोचर हो, फिर भी औद्योगिक और नागरिक जीवन के कुछ तत्त्व तो ऐसे हैं, जिन्हें कि सार्वभौम या स्थायी कहा जा सकता है। इसके विपरीत, कुछ ऐसे तथ्य हैं जिन्हें पारिस्थितिक, संक्रमणकालीन अथवा समाज के ढांचे-विशेष से सम्बद्ध कहा जा सकता है। आगे हम दोनों प्रकार के तथ्यों का जिक्र करेंगे।

१. आर्थिक विश्रृंखलता, संकट और बेकारी. उद्योगीकरण ने उत्पादन के साधनों में क्रान्तिकारी परिवर्तन उपस्थित किए। जिस काम के लिए पहले सैकड़ों आदमियों की जरूरत पड़ती थी, उसे अब कुछ व्यक्तियों द्वारा सुधरे यन्त्रों

और मशीनों की सहायता से अल्प समय में पूरा करना संभव हुआ। परिणामतः, जो लोग हाथ के उद्योगो में लगे हुए थे वह मशीन के माल की प्रतियोगिता के सामने न ठहर सके और उनमें से अधिकांश बेकार हो गये। उनमें से थोड़े ही लोग तत्काल नये उद्योगो में खप सके और उन्हें एक लम्बे समय तक भीषण आर्थिक कष्टों का सामना करना पड़ा। इसके अतिरिक्त, अनियन्त्रित पूंजीवादी व्यवस्था में उद्योगों और उत्पादन का संचालन बाजार की मांग के अनुमान और मुनाफे की प्रवृत्ति द्वारा परिचालित होता है। जिस समय भी पूंजीपति मुनाफे की दर में कमी अथवा घाटे की संभावना देखते हैं, उत्पादन रुक जाता है। इस प्रकार समय-समय पर भीषण आर्थिक संकट और मन्दियों की सृष्टि होती है। परिणामस्वरूप, उद्योग-प्रधान नगरी सभ्यता में उसके सदस्यों को पर्याप्त आर्थिक अनिश्चितता और अस्थिरता का जीवन यापन करना पड़ता है। किन्तु हमें यहां पर यह स्मरण रखना चाहिये कि यह अवस्था उद्योगीकरण का अनिवार्य अंग नहीं है। उत्पादन में मुनाफे की वृत्ति की समाप्ति और आर्थिक आयोजन द्वारा इसे बहुत अंशों में समाप्त किया जा सकता है।

२. **आर्थिक परनिर्भरता और विशेषीकरण.** गांव मूलतः स्वावलम्बी और आत्मनिर्भर थे। गांवों के सदस्य अपनी आवश्यकता की समस्त वस्तुएं स्वयं तैयार कर लेते थे। इसके विपरीत, नगर अपनी आवश्यकताओं की पूर्ति के लिये अन्य प्रदेशों पर आश्रित होते हैं। आर्थिक परावलम्बन उनका प्रमुख लक्षण है। वहां पर श्रमिकों के बीच सूक्ष्म श्रम-विभाजन होता है। उद्योगीकरण ने इस प्रवृत्ति को और भी अधिक प्रोत्साहित कर दिया है। यह अत्यधिक परनिर्भरता और विशेषीकरण, आर्थिक यन्त्र में किसी प्रकार का व्याघात उत्पन्न होने पर, विस्तृत कठिनाइयों को जन्म देते हैं। किसी उद्योग-विशेष पर निर्भरता उस उद्योग की वस्तुओं की मांग अथवा उत्पादन के तरीकों में परिवर्तन होने पर, उससे सम्बन्धित व्यक्तियों की आर्थिक स्थिति को गंभीर रूप से प्रभावित करती है।

३. **क्रय-विक्रय की प्रधानता.** ग्रामों में जनता के अधिक स्वावलम्बी होने, उपहारों का अत्यधिक रिवाज होने तथा सेवाओं के पारिश्रमिक के रूप में अनाज का प्रयोग क्रय-विक्रय को बहुत ही सीमित रखते हैं। इसके विपरीत, नगरों में छोटी से छोटी वस्तु के लिये मुद्रा में उसकी कीमत चुकानी पड़ती है। वहां उपभोग की वस्तुएं दूरस्थ प्रदेशों से आती हैं। इस प्रकार उत्पादकों और उपभोक्ताओं में सीधा सम्बन्ध न होने के कारण, एक ही वस्तु को अनेकानेक मध्यस्थों के हाथों से गुजरना पड़ता है। जनसंख्या का एक बड़ा अनुपात केवल

क्रय-विक्रय का ही कार्य करता है। क्रय-विक्रय के लिए विभिन्न संस्थाओं का उदय और विकास होता है। इस प्रकार उद्योगीकरण और नगरों के अन्तर्गत आर्थिक जीवन में क्रय-विक्रय की प्रधानता होती है। यह क्रय-विक्रय की प्रधानता ही उद्योग और नगर-प्रधान समाजों में अनेक बार भीषण आर्थिक संकट का कारण बन जाती है। क्रय-विक्रय संस्थाओं के कार्यों में तनिक सा भी व्याघात भयंकर आर्थिक विश्रृंखलता को जन्म दे सकता है। विनिमय-दर का नियंत्रण और बैंकों की ऋण-व्यवस्था क्रय-विक्रय को अत्यन्त प्रभावित करती है, अतः इनका सुचारु रूप से संचालन उद्योग-प्रधान नगरी सभ्यता की एक मुख्य समस्या है।

४. उत्पादन-यन्त्रों पर मजदूरों के स्वामित्व की समाप्ति और नियंत्रण की पृथकता. उद्योगीकरण और नगरों के विकास ने बड़े पैमाने पर उत्पादन को जन्म दिया। नये उन्नत उत्पादन-साधनों को अपनाने के लिए बृहत् पूंजी और उन्हें चलाने के लिये बड़ी संख्या में मजदूरों के एक ही स्थान पर काम करने की आवश्यकता थी। इन नये और कीमती उत्पादन-यन्त्रों का स्वामी बनना साधारण मजदूरों के बूते के बाहर था। केवल पूंजीपति ही उन्हें लगा सकते थे। उन्होंने इन्हें लगाया और मजदूर रोजी पर उनके नीचे काम करने लगे। इससे पहले, जब तक कि उत्पादन प्रणाली सरल और उसके यन्त्र सस्ते थे, मजदूर उत्पादन. यन्त्रों का स्वयं ही मालिक था। किन्तु बड़ी मशीनों के आगमन ने स्थिति को बिल्कुल बदल दिया। इनके आने से उत्पादन के यन्त्रों का स्वामित्व कमकरों के हाथ से निकल गया। आगे चलकर एक नई घटना घटी। शुरू में तो पूंजीपति स्वामी ही स्वयं उद्योगों के वास्तविक संचालक और नियंत्रणकर्त्ता थे। लेकिन बाद में उद्योगों के संचालन का कार्य बहुत ही विशिष्ट हो गया और उसके लिए विशेष योग्यता-प्राप्त संचालकों—मैनेजरों की आवश्यकता पड़ी। इस प्रकार उद्योगों का वास्तविक संचालन पूंजीपतियों अथवा नये उद्योग के स्वामियों के हाथों से भी निकल कर अन्ततोगत्वा वेतनप्राप्त मैनेजरों के हाथ में चला गया।

५. अधिक सम्पत्ति का उत्पादन. भाप या बिजली से परिचालित नये उत्पादन-यन्त्र पुराने हाथ के सरल यन्त्रों की तुलना में कहीं अधिक श्रेष्ठ थे। उनके उपयोग ने जहां एक ओर पर्याप्त सामाजिक अव्यवस्था पैदा की, वहां दूसरी ओर उनके प्रयोग ने बड़े पैमाने पर सम्पत्ति का उत्पादन संभव बनाया। संक्षेप में उन्होंने जनता के लिए वस्तुओं के उत्पादन की नींव डाली। बड़े पैमाने पर वस्तुएं बनने के कारण उनकी प्रति वस्तु लागत अत्यन्त नगण्य हो गई और जो वस्तुएं या सेवाएं पहले केवल कुछ चुने हुए व्यक्तियों को उपलब्ध थीं, वह सर्वसाधारण को मिलने लगीं। जनता के रहन-सहन के स्तर में

उन्नति हुई। उनकी गरीबी दूर हुई और समृद्धि का सूत्रपात हुआ। यही कारण है कि कृषि और ग्रामबहुल देशों की तुलना में उद्योग-प्रधान और नगरबहुल देश आज कहीं अधिक सम्पन्न और समृद्ध हैं।

६. **सम्पत्ति का अधिक असमान वितरण.** गांवों में सम्पत्ति का उत्पादन भी कम था और उसकी असमानता भी कम थी। इसके विपरीत, उद्योगीकरण ने जहां नगरों की कुल सम्पत्ति में वृद्धि की, वहां उसने वितरण की असमानता को भी बढ़ाया। मुनाफे द्वारा परिचालित औद्योगिक व्यवस्थाओं में तो यह असमानताएं असाधारण अनुपात में बढ़ गईं। समाज द्वारा परिचालित और नियंत्रित औद्योगिक व्यवस्थाओं में अवश्य उसे कम करने के प्रयत्न हुए। जैसे-जैसे मजदूरों के रहन-सहन का दर्जा ऊंचा उठ रहा है, उनमें शिक्षा का प्रसार हो रहा है, राजनैतिक चेतना बढ़ती जा रही है और सरकारी यन्त्र पर उनका प्रभाव बढ़ता जा रहा है, ऐसे कानून बन रहे हैं, जिससे कि पहले की तुलना में आर्थिक असमानता निरंतर कम होती जा रही है। परिस्थितियों की वर्तमान प्रवृत्ति असमानता को कम करने की ओर ही है।

७. **निवास-स्थानों की कमी.** उद्योगीकरण और नगरों के बड़ी तेजी से विस्तार ने नगरों में जनता के रहने की समस्या को बड़े उग्र रूप में उपस्थित की है। गांवों में जीविका उपार्जन की कठिनाई और उद्योगीकरण ने ग्रामों से नगरों की ओर जनसंख्या के अभियान की गति को बहुत तेज कर दिया है। परिणामतः, बड़ी संख्या में जनता ग्रामों से नगरों की ओर निष्क्रमण कर रही है। नगरों की बढ़ती जनसंख्या के अनुपात में वहां पर निवास-स्थानों को बढ़ाना गंभीर सामाजिक समस्या है। निवास-स्थानों के बनाने में पर्याप्त समय और धन की आवश्यकता होती है। इसलिए नगरों की जनसंख्या की वृद्धि, परिणामतः, मकानों की मांग की तुलना में उनकी पूर्ति, सदा अपर्याप्त रहती है। भारत में ही १९४१ से १९५१ तक नगरों की जनसंख्या में ५४ प्रतिशत की वृद्धि हुई जब कि मकानों में कठिनाई से १० प्रतिशत हुई होगी। वातावरण आरोग्य समिति के अनुसार फिलहाल हमारे नगरों में लगभग १९ लाख घरों की कमी है, इसमें पाकिस्तान से आये हुए शरणार्थियों के लिये अपेक्षित १० लाख घरों का समावेश नहीं है।

नगरों में निवास-स्थान की कमी गंभीर सामाजिक और नैतिक समस्याओं को जन्म देती है। निवास-स्थान के अभाव में प्रायः कई व्यक्तियों—स्त्री-पुरुषों और बच्चों को एक तंग जगह में साथ-साथ सोना पड़ता है, जिसका उनके स्वास्थ्य और चरित्र पर हानिकर प्रभाव पड़ता है।

८. अधिक शिक्षा. उद्योगीकरण और नगरों के विकास ने आर्थिक सम्पत्ति में वृद्धि कर शिक्षा के विस्तार को भी परोक्ष रूप से प्रभावित किया है। ग्रामों की तुलना में नगरों में शिक्षा की विस्तृत सुविधाएं हैं। पर्याप्त संख्या में छात्र और अध्यापक तथा अन्य आवश्यक सुविधाएं प्राप्त होने के कारण वहां पर उच्च और विशेष शिक्षा प्रदान करना भी संभव है। इसीलिए उच्च और टेक्नीकल शिक्षा के केन्द्र नगरों में ही स्थापित हो सकते हैं। इसके अतिरिक्त, नगरवासी ग्रामवासियों की तुलना में अधिक सम्पन्न हैं और अपने बच्चों को स्कूलों और कालिजों में भेज सकते हैं। इन्हीं सब बातों का परिणाम है कि नगरों में शिक्षा का अधिक प्रसार है। निस्संदेह उद्योगीकरण और नगरों के विकास ने सामान्यत: शिक्षा को प्रोत्साहित किया है।

९. निकृष्ट स्वास्थ्य तथा श्रेष्ठ और विस्तृत चिकित्सा-सुविधाएं. गांवों की तुलना में सामान्यत: शहरों में खुली हवा और रोशनी की पर्याप्त कमी रहती है। कारखानों का धुआं, तापक्रम, कोलाहल, निवास-स्थानों की कमी, गंदी मजदूर-बस्तियां नगरवासियों के स्वास्थ्य पर बुरा प्रभाव छोड़ती हैं। शहरों के अति गतिशील और तेज जीवन, वहां के लोगों में बढ़ती और अतृप्त वासनाओं ने, विशेषत: मानसिक रोगियों की संख्या में असाधारण वृद्धि की है। न्यूरोसिस—स्नायु-रोग औद्योगिक और नागरिक सभ्यता की एक विशेष देन हैं। स्वास्थ्य के लिए हानिकर उक्त कारणों के बावजूद, पिछले पचास सालों से शहरों के वातावरण को स्वच्छ करने, वहां पर गन्दी बस्तियों को समाप्त करने तथा सफाई की सुविधाएं जुटाने की दिशा में पर्याप्त प्रगति हुई है। इसके अतिरिक्त, नगरों में रोगों की चिकित्सा और निवारण की विस्तृत सुविधाएं प्राप्त हैं। नगरों की समृद्ध आर्थिक अवस्था बहुत अंशों में इसके लिए उत्तरदायी है।

१०. पारिवारिक नियंत्रण का अभाव. उत्पादन, शिक्षा और मनोरंजन की इकाई और संस्था के रूप में नगरों में परिवार समाप्त हो चुका है। वह केवल प्रेम और प्रजनन की इकाई के रूप में ही वहां जीवित है। जीविका उपार्जन के लिए परिवार के विभिन्न सदस्य पृथक् कारखानों या दफ्तरों में काम करते हैं। उन्हें सारा दिन घर से बाहर रहना पड़ता है। शिक्षा के लिए स्कूल हैं; मनोरंजन का स्थान सिनेमा इत्यादि वाह्य संस्थाओं ने ले लिया है। इसके अतिरिक्त, सामाजिक और राजनैतिक कार्यों के लिए विभिन्न संस्थाएं और दल हैं। परिवार के व्यक्ति इनके सदस्य बनते हैं और इनके प्रभाव में आते हैं। इस प्रकार एक तरह सिर्फ सोने भर के लिए परिवार के सदस्य घर पर इकट्ठे होते हैं। इन सब प्रवृत्तियों का यह अनिवार्य परिणाम है कि व्यक्ति

के ऊपर से परिवार का नियंत्रण बहुत कुछ उठ चुका है। परिवार के बजाय, व्यक्ति के व्यवहार पर अन्य बाह्य प्रभावों का प्रभाव अधिक प्रबल है और वही उसका नियंत्रण करते हैं।

११. उच्चतर विवाह-आयु और अल्प विवाह. शिक्षा के प्रसार, नई आकांक्षाओं के जागृत होने तथा पुरानी परम्पराओं प्रभाव नष्ट होने के कारण, नगरों में सामान्यतः लोग अधिक उम्र में विवाह करते हैं। इसके अतिरिक्त, नागरिक परिस्थितियों ने परिवार के पूर्व महत्त्व और अनिवार्यता को काफी कम कर दिया है तथा उससे प्राप्त संतोष और सुविधाओं के अनेक नये साधन और स्थानापन्न प्रस्तुत कर दिये हैं। इन सबका यह परिणाम है कि विवाह के प्रति लोगों का पहले जैसा अनुराग और आकर्षण नहीं रह गया है। विवाह को अधिक समय तक स्थगित करना या कुछ स्थितियों में सर्वथा उससे बचना औद्योगिक और नागरिक समाज की एक विशेषता है।

१२. एकाकी और छोटे परिवार. संयुक्त परिवार हमारे ग्राम-जीवन की एक विशेषता थी। किन्तु आर्थिक कठिनाइयों और व्यक्तिवादी स्वाधीनता की विचारधाराओं ने उनके टूटने की स्थिति उत्पन्न की। अनेक ग्रामवासी अपने संयुक्त परिवारों से पृथक् हो अपनी पत्नी और बच्चों को नगरों में ले गये। इसके अतिरिक्त, नगर की परिस्थितियों में तो संयुक्त परिवार असंभव है। परिणामतः, एकाकी परिवारों का ही नगर में आधिपत्य है। पर जहां नगरों का जीवन एकाकी परिवारों के पक्ष में है, वहां वह छोटे परिवारों के भी अनुकूल है। नगरों में पारिवारिक भावना के ह्रास, शिक्षा के प्रसार और रहन-सहन के स्तर में उन्नति तथा गर्भ-निरोध (Birth Control) के बढ़ते ज्ञान और सुविधाओं के फलस्वरूप, माता-पिता अधिक संतान की उत्पत्ति के विरुद्ध होते हैं। इन्हीं कारणों से ग्रामों की तुलना में नगरों में जन्म-दर पर्याप्त कम होती है और परिवार छोटे होते हैं।

१३. पुरुषों की अधिकता. स्त्रियों की संख्या की तुलना में पुरुषों की अधिकता, नागरिक जीवन की एक अन्य विशेषता है। भारत में तो यह स्थिति कुछ नगरों में बहुत ही उग्र है। हमारे औद्योगिक नगरों के अधिकांश मजदूर अभी भी गांवों और कृषि से सम्बन्धित हैं। निवास-स्थान की कमी और अन्य आर्थिक कठिनाइयां, उन्हें अपने स्त्री और बच्चों को नगरों में लाने और बसाने के मार्ग में अन्य बाधाएं हैं। इसी का परिणाम है कि कुछ नगरों में पुरुषों की संख्या स्त्रियों से दुगनी है। इस स्थिति का नगरों की नैतिकता पर विशेष प्रभाव पड़ा है। पारिवारिक जीवन के अभाव में मजदूर व्यभिचार की ओर अग्रसर

होते हैं। स्त्रियों की अल्प संख्या नगरों में चारित्र्य-शैथिल्य का प्रमुख कारण बनती है।

१४. **नारी का ऊंचा स्थान.** शिक्षा की सुविधाओं और निरंतर बढ़ती आर्थिक स्वाधीनता और स्वाधीन विचारों ने नगरों में स्त्रियों की स्थिति को उन्नत करने में पर्याप्त योग प्रदान किया है। ग्रामों की तुलना में यहां पर सामान्यतः स्त्रियों का स्थान ऊंचा है।

१५. **सामुदायिक घनिष्ठता का विनाश और सहयोग-भावना का अभाव.** ग्राम एक छोटा समुदाय था, जिसके सदस्य एक दूसरे से पूर्ण परिचित तथा सामाजिक और आर्थिक दृष्टि से घनिष्ठतया सम्बन्धित थे। उनके विचारों में समता थी। परिणामतः, उनमें घनिष्ठ सौहार्द, स्नेह, आत्मीयता और सहयोग की भावना विद्यमान थी। उद्योगीकरण और नगरों के विकास ने उस सामुदायिक एकता और सहयोग की भावना को नष्ट कर दिया। नगर के निवासी एक समुदाय के न हो, अनेक समुदायों के सदस्य हैं, जिनकी विभिन्न और विरोधी विचारधाराएं और मांगे हैं। इसका स्वाभाविक परिणाम, वहां पर सहयोग के स्थान पर सदैव संघर्ष और प्रतियोगिता की संभावना और उपस्थिति है। सामुदायिक एकता के नष्ट होने से वहां पर सामाजिक विघटन की स्थिति विद्यमान है।

१६. **विचारों की विविधता.** उद्योगीकरण और तज्जनित नागरिक विकास ने वहां के आर्थिक-सामाजिक जीवन और उनके सम्बन्धों में क्रान्तिकारी परिवर्तन कर, वहां के निवासियों के विचारों में भीषण परिवर्तन उपस्थित किये। परम्परागत समाज का ढांचा नष्ट हो जाने से, उसकी चिन्तन-प्रणाली, उसके मूल्यों, मान्यताओं और आदर्शों के प्रति नगरवालों की आस्था नष्ट हो गई है। नये संकट, समस्याओं और परिस्थितियों से मुक्ति दिलाने के लिए नई-नई विचारधाराएं, कार्यक्रम और नारे उनके सम्मुख उपस्थित किये जाते हैं। पारिवारिक नियंत्रण और सामुदायिक एकता समाप्त हो रही है। इन सबका यह परिणाम है कि नगरवासियों के विचारों में एक विचित्र अराजकता विद्यमान है। कुछ अंशों तक और कुछ सीमाओं में तो विचारों में विविधता एक स्वस्थ लक्षण है, किन्तु जब यह विभिन्नता सामाजिक सहयोग को नष्ट करने का कारण बन जाय, तब चिन्ताजनक हो जाती है।

१७. **जातिभेद और वर्गभेद की कमी.** भारत का ग्राम-समाज मुख्यतः जातिभेद और वर्गभेद पर आधारित था। उद्योगीकरण और नागरिक जीवन ने जातिभेद और वर्गभेद की बहुत-सी कठोरताओं को कम कर दिया। विभिन्न

जाति और धर्म के लोगों के साथ-साथ रेलों और मोटरों में यात्रा, काम करने तथा रहने ने छूतछात और खानपान के बहुत-से बंधनों को नरम कर दिया है। इसके अतिरिक्त, नगरों में विभिन्न जातियों के लड़के-लड़कियों की साथ-साथ शिक्षा तथा जातिभेद के विरुद्ध नये आन्दोलनों ने ऊंच-नींच की भावना को नष्ट करने में बड़ा योग दिया है। अन्त में आर्थिक मजबूरियों ने जाति-व्यवस्था को नष्ट करने में अपनी प्रबल चोट की है। एक पेशे से दूसरे पेशे के बीच गतिशीलता और निष्क्रमण पर्याप्त बढ़ गया है और कुछ अपवादों को छोड़, प्रत्येक जाति और सम्प्रदाय के सदस्य आज नगरों में प्रायः सभी पेशों और धंधों में पाये जाते हैं। इसके अतिरिक्त, उन्नत रहन-सहन ने अधिकाधिक नागरिकों को शिक्षा की सुविधाएं प्रदान कर वर्ग-भेद के अन्तर को भी पर्याप्त कम कर दिया है।

१८. धर्म का घटता प्रभाव. ग्राम-जीवन आविष्कारों और विज्ञान की कमी के कारण पर्याप्त रहस्यमय था। अतः प्रकृति के रहस्यों और घटनाओं को सुलझाने में धर्म प्रमुख साधन था। नगरों में आर्थिक जीवन, घटनाओं और सामाजिक प्रश्नों को परीक्षण और तर्क से सुलझाने का प्रयत्न हुआ। रुढ़ि का स्थान प्रयोग और विश्वास का स्थान परीक्षा ने लिया। किन्तु अभी भी ऐसे अनेक क्षेत्र हैं जो कि तर्क-परीक्षा के नीचे नहीं आ पाये हैं और वहां धार्मिक विश्वास का जोर है। संक्षेप में नगरों में धर्म का क्षेत्र निरंतर संकुचित होता जा रहा है और उसका प्रभाव घटता जा रहा है। इसका एक प्रधान कारण नगरों में गैर-धार्मिक और बाह्य ऐहिक (Secular) प्रभावों की प्रधानता है।

१९. राज्य-शक्ति का केन्द्रीकरण और व्यक्ति के महत्त्व का ह्रास. उद्योगीकरण ने उत्पादन के साधनों के स्वामित्व से श्रमिकों को पृथक् कर, यातायात और संवादवहन के साधनों के विपुल विस्तार तथा शिक्षा और रेडियो, सिनेमा और समाचार-पत्रों के प्रसार तथा नये आविष्कारों से राज्य की जनता के आर्थिक, सामाजिक, यहां तक कि मानसिक क्रियाओं को अधिकाधिक नियंत्रित करने की क्षमता प्रदान की है। उद्योगीकरण और नगरों के विकास के बिना यह संभव न था। औद्योगिक देशों में राज्य द्वारा शक्ति का केन्द्रीकरण बहुत सरल हो गया है। यह शक्ति का केन्द्रीकरण, विशेषतः युद्ध के विनाशात्मक अस्त्रशस्त्रों के केन्द्रीकरण में व्यक्त हुआ है। इस प्रकार जिन देशों में राजनैतिक दलों ने उद्योगीकरण से उत्पन्न परिस्थितियों और सामाजिक नियंत्रण के आविष्कारों और टेक्नीकों से लाभ उठाकर राज्य की शक्ति को केन्द्रित करने का प्रयत्न किया है, वहां पर व्यक्ति का महत्त्व और मूल्य प्रायः

नष्ट हो गया है। अत्यधिक केन्द्रीकरण से रक्षा और व्यक्ति की स्वाधीनता का संरक्षण आज के औद्योगिक समाज की एक गंभीर समस्या है। किन्तु जब कि एक ओर हम उद्योगीकरण और नगर-जीवन द्वारा उत्पन्न निकटता और निर्भरता का प्रयोग शक्ति के केन्द्रीकरण में कर सकते हैं, वहां दूसरी ओर हम उसे विकेन्द्रित भी कर सकते हैं। अतः उद्योगीकरण के साथ स्थानीय और प्रादेशिक इकाइयों तथा जनता को विस्तृत अधिकार प्रदान कर केन्द्रीकरण की प्रवृत्ति का प्रतिकार किया जा सकता है।

२०. जीवन की तेज गति और संस्कृति की अत्यधिक गतिशीलता. ग्राम-जीवन मन्द गति से चलता है। इसके विपरीत, नगरों में जीवन की गति बहुत तेज है। हर व्यक्ति बहुत व्यस्त और व्यग्र है। हर ओर विशेष दौड़-धूप और चपलता नजर आती है। ऐसा लगता है कि जैसे मनुष्य और मशीन में होड़ है। किसी को कारखाने पहुंचने की जल्दी है तो किसी को दफ्तर का काम निपटाने की फिक्र है। हर काम के लिये समय की पाबंदी है। समय की कमी है और मिनट-मिनट का मोल है। इस अत्यधिक सक्रियता और गति का प्रभाव मनुष्य के शारीरिक और मानसिक स्वास्थ्य पर अच्छा नहीं पड़ता। इसीलिए नगरों में पर्याप्त अधिक लोग अत्यधिक श्रम, थकान और स्नायु-रोगों से पीड़ित पाये जाते हैं।

इसके अतिरिक्त, औद्योगिक समाज और नगरों में, विशेषतः भौतिक क्षेत्र में, निरंतर वृद्धि और उन्नति होते रहने के कारण संस्कृति में बहुत शीघ्र और निरंतर परिवर्तन आते रहते हैं। इस प्रकार उसके सदस्यों के जीवन-क्रम और विचारों में अत्यधिक अस्थिरता और गतिशीलता रहती है। परिणामतः, वहां सामाजिक विघटन के बीज सदैव विद्यमान रहते हैं।

२१. प्रकृति से पार्थक्य और बच्चों के लिए खेल-कूद के स्थान की कमी. उद्योगीकरण और नगरों के विकास ने वहां की जनता को प्रकृति से बहुत दूर फेंक दिया है। सूर्योदय और संध्या, चांदनी और चैत की दुपहरी, वसन्त और हेमंत के दृश्यों से नगरवासी वंचित रहते हैं। इसी प्रकार वनस्पति, पशु-पक्षियों से भी उनका सम्पर्क नहीं होता। नगरों में स्थान की भीषण कमी होती है; जिससे बच्चों को खुली हवा में स्वच्छन्द प्रकृति से आत्मीयता स्थापित करने का अवसर नहीं मिलता। मोटर, ट्राम, साइकिल इत्यादि गाड़ियों के डर से बच्चे स्वछन्द खेल-कूद और दौड़-धूप नहीं कर सकते। परिणामतः, उनके व्यक्तित्व के विकास में रुकावट पड़ती है। नगर का जीवन मुक्त व्यक्तित्व और प्राकृतिक सौन्दर्यानुभूति के विकास में सहायक नहीं होता।

२२. **व्यापारिक मनोरंजन.** उद्योगीकरण और नगरों के विकास ने मनोरंजन को धर्म, परिवार और समुदाय से पृथक् कर अनियंत्रित अवस्था में व्यापारिक संस्थाओं, अथवा नियंत्रित अवस्था में सरकार के हाथों में दे दिया है। इस प्रकार अस्वास्थ्यकर, अश्लील, सस्ते या प्रचारात्मक मनोरंजन की संभावनाएं बढ़ गई हैं। स्वस्थ, सामाजिक और सृजनात्मक मनोरंज्ञन का विकास आज के औद्योगिक समाज की एक गंभीर समस्या बन गई है।

२३. **असंतुष्ट व्यक्तियों की वृद्धि और जनता का भोगवादी दृष्टिकोण.** अत्यधिक उपभोग के साधन जुटा व्यक्तियों की इच्छाओं और आकांक्षाओं में असाधारण वृद्धि कर, तथा रुढ़ि और परम्परा में विश्वास न होने के कारण, उद्योगीकरण तथा तज्जनित नगरों के द्रुत विकास और उससे उत्पन्न अव्यवस्थाओं ने नगरों में निराश और जीवन से असंतुष्ट व्यक्तियों की संख्या में विपुल वृद्धि कर दी है। इसके अतिरिक्त, अधिक उपभोग ने और अधिक उपभोग प्रवृत्ति को जागृत किया है। फैशनों के प्रतिदिन होनेवाले परिवर्तनों में यह प्रवृत्ति अच्छी तरह व्यक्त हुई है। जब कि गांवों की जनता सामान्यतः संतुष्ट और भाग्यवादी है, नगरों की जनता असंतुष्ट और भोगवादी है।

२४. **अधिक अपराध की प्रवृत्ति.** उद्योगीकरण और तज्जनित नगरों के विकास ने प्राचीन परम्पराओं को नष्ट कर दिया है, तथा व्यक्तिगत व्यवहार के नियंत्रण के पुराने साधनों—परिवार, धर्म, रिवाज इत्यादि के प्रभाव को बहुत कम कर दिया है। इसके अतिरिक्त, नगरों में व्यक्ति किसी एक घनिष्ठ समुदाय का सदस्य न होने, कठिनाई में पड़ने पर अन्य लोगों द्वारा सहायता न पाने, अधिक प्रलोभनों के होने, आसानी से पकड़े जाने और पहचाने जाने तथा अपने लोगों के सामने अपमानित होने के भय के अभाव तथा अपराध को छुपाने की सुविधा होने के कारण, सरलतया अपराध की ओर अग्रसर होता है। ग्राम और नगरों में हुए विभिन्न प्रकार के अपराध के आंकड़े इस बात को सिद्ध करते हैं कि नगरों में ग्रामों की तुलना में अधिक अपराध होते हैं। अपराधों का उन्मूलन नगरों की एक प्रमुख सामाजिक समस्या है।

२५. **भीड़-व्यवहार (Crowd behaviour) की बढ़ती संभावनाएं.** उद्योगीकरण और नगरों के विकास ने बहुत बड़ी संख्या में जन समूहों को एक स्थान पर एकत्रित कर दिया है। नगर में रहनेवाले विभिन्न वर्गों में आपसी एकता की अनुभूति बहुत कम होती है। इसके अतिरिक्त, नगर के जीवन ने बड़ी संख्या में ऐसे व्यक्तियों को पैदा कर दिया है जो कि अपने जीवन से पर्याप्त असंतुष्ट और निराश हैं। उनके व्यक्तित्व का विघटन हो चुका है। ऐसी स्थिति

में जब कि उनपर परम्परागत नियंत्रण की संस्थाओं का प्रभुत्व समाप्त हो चुका है, उन्हें किसी भी समय वर्तमान अवस्था से मुक्ति की आशा दिला उत्तेजित किया जा सकता है । नये आविष्कारों के फलस्वरूप विकसित प्रचार के नये और प्रभावपूर्ण साधनों के प्रयोग ने अवसरवादी नेताओं और प्रचारकों का कार्य और भी सरल कर दिया है । माइक्रोफोन, रेडियो, टेलीविजन और समाचार-पत्रों और सिनेमा की सहायता से आजकल आसानी से जनता को एक भीड़ की भांति भड़काया जा सकता है । इस प्रकार आज के उद्योग-प्रधान नागरिक समाज में भीड़-व्यवहार की संभावनाएं बहुत बढ़ गई हैं । समाज-सुधारकों के लिए यह एक गंभीर स्थिति है, जिसका कि उन्हें प्रतीकार करना है ।

उक्त विवेचन से स्पष्ट है कि उद्योगीकरण और नगरों के विकास ने हमारे जीवन के विभिन्न पहलुओं को गंभीर रूप से प्रभावित किया है । जहां उसने समाज को आर्थिक उन्नति की दिशा में आगे बढ़ाया है, शिक्षा का विस्तार किया है, चिकित्सा-सुविधाओं को उन्नत किया है, अन्धविश्वासों को नष्ट किया है, वहां उसने अनेक भीषण सामाजिक समस्याओं की सृष्टि की है । संक्षेप में उसने सामाजिक विघटन की अनेक अवस्थाओं को उत्पन्न किया है । आगे संक्षेप में सामाजिक विघटन और उस पर उद्योगीकरण के प्रभाव का अध्ययन उपयोगी होगा ।

सामाजिक विघटन (Social Disorganisation)

संगठन समाज का आधार. सामाजिक जीवन और कल्याण के लिए समाज में संगठन की आवश्यकता अनुभव होती है । किसी भी संस्कृति के विभिन्न भौतिक और अभौतिक तत्त्व, रीति-रिवाज, विश्वास और धारणाएं, पारिवारिक, आर्थिक, राजनैतिक और शिक्षण-संस्थाएं, क्रीड़ा, मनोरंजन क्रियाएं एक समाज के संगठन का आधार होती हैं । जब तक किसी समाज में भौतिक संस्कृति के विभिन्न विभाग, मनुष्य की सृजनात्मक शक्ति की विभिन्न अभिव्यक्तियां, एक दूसरे के साथ कदम से कदम मिलाकर चलती हैं, उन सबमें एक मूलभूत एकता, अनुकूलता और पूरकता विद्यमान रहती है, हम कह सकते हैं कि समाज संगठित है । पर जैसे ही उसके कुछ या समस्त विभागों में किसी प्रकार की विषमता, विकार, अव्यवस्था, अराजकता, प्रति-योगिता, प्रतिकूलता प्रारम्भ हो जाती है, समाज विघटन की ओर अग्रसर होने लगता है ।

सामाजिक विघटन के प्रमुख लक्षण. संक्षेप में, समाज की विभिन्न

शक्तियों का असंतुलन, सामाजिक ढांचे की विश्रृंखलता और पूर्व विद्यमान सामाजिक नियंत्रणों की असफलता सामाजिक विघटन के प्रमुख लक्षण हैं।

सामाजिक परिवर्तन सामाजिक जीवन के विभिन्न क्षेत्रों में असंतुलन की सृष्टि करता है, अतः यह सामाजिक विघटन का मूल स्रोत है। दूसरे शब्दों में सामाजिक विघटन सामाजिक परिवर्तन का ही एक पहलू है। सामाजिक विघटन वह प्रक्रिया है जिसके द्वारा किसी समूह के विभिन्न सदस्यों के बीच विद्यमान सम्बन्ध छिन्न-भिन्न हो जाते हैं। सामाजिक विघटन, वस्तुतः समूह के विघटन की प्रक्रिया है, चाहे वह समूह परिवार हो, पड़ोस हो, समुदाय हो अथवा राष्ट्र।

सामाजिक विघटन के कारण

प्रत्येक व्यक्ति अनेक समूहों के सूत्रों में बंधा होता है और वह सभी सूत्र एक साथ ही नहीं टूट जाते। एक व्यक्ति का एक समूह से सम्बन्ध-विच्छेद हो जाने पर, अन्य समूहों से उसके सम्बन्ध अविच्छिन्न रह सकते हैं। पर जैसे भी किसी एक समूह से यह सम्बन्ध टूटते हैं, सामाजिक विघटन विद्यमान होता है।

अनेक कारणों की सह-उपस्थिति. अन्य सामाजिक घटनाओं की भांति ही सामाजिक विघटन भी एक जटिल तथ्य है। हम इसका कोई एक कारण नहीं ढूंढ़ सकते। धर्म का ह्रास, परिवार का परिवर्तित ढांचा, शासन-व्यवस्था का नया स्वरूप, उत्पादन के नये यन्त्र, नई सामाजिक विचारधाराएं, सभी इसमें अपना-अपना योग देती हैं। एक कारण बताने के धुनी लोगों ने इन अनेक कारणों में से किसी एक को एकांततः सामाजिक विघटन के लिए उत्तरदायी ठहराया है।

आज भी हमारे यहां ऐसे व्यक्तियों की कमी नहीं है जो धार्मिक विधि-विधान या धार्मिक शक्ति के ह्रास को वर्तमान सामाजिक विघटन की विभिन्न अभिव्यक्तियों—अपराध, अनैतिकता, बेकारी, पारिवारिक कलह का—एकमात्र कारण मानते हैं। एक अन्य वर्ग की राय में सुप्रजननशास्त्र के सिद्धान्तों पर न चलना ही आधुनिक कष्टों का मूल है।

इनमें से प्रत्येक व्यक्ति या वर्ग अपनी रुचि या रुझान के अनुसार किसी एक तथ्य को सामाजिक विघटन का कारण मानने लगता है। वास्तव में सामाजिक बुराइयों के किसी एक कारण को खोजनेवाला व्यक्ति किसी एक समस्या के नाना पहलुओं को समग्र रूप से समझने में असमर्थ रहता है। अतः

सामाजिक विघटन को सही रूप में समझने के लिए हमें उन समस्त पहलुओं पर विचार करना होगा जो कि इससे सम्बन्धित हैं। विघटित व्यवहार कभी भी किसी एक विशेष कारण का परिणाम नहीं है। वास्तव में उसमें विभिन्न कारण अन्तर्हित हैं।

अध्ययन की सुविधा के लिए हम सामाजिक विघटन को प्रेरित करने वाली पांच प्रमुख परिस्थितियों की ओर संकेत कर सकते हैं। यह हैं—(१) सामाजिक ढांचा, (२) सामाजिक परिवर्तन, (३) सामाजिक धारणाएं, (४) सामाजिक मूल्य और (५) सामाजिक संकट। वास्तव में यह सब परिस्थितियां भी एक दूसरे से पर्याप्त घनिष्ठतया सम्बन्धित हैं। आगे हम संक्षेप में इन पर विचार करेंगे।

१. **सामाजिक ढांचे में परिवर्तन.** एक गतिशील समाज में सामाजिक ढांचा निरन्तर तेजी से बदलता रहता है। व्यक्ति का पद (Status) और भूमिका (Role) ठीक निश्चित नहीं होती और व्यक्ति अपने को ऐसी स्थिति में पाते हैं जहां कोई पूर्व निर्धारित व्यवहार विद्यमान नहीं होते। गतिशील समाज में स्थिर और स्थायी व्यवहारों को निश्चित करना बहुत कठिन हो जाता है। परिणामतः, पद और भूमिका में पर्याप्त हेर-फेर होता रहता है। बहुत से व्यक्तियों को सर्वथा नई भूमिका ग्रहण करने के लिए मजबूर होना पड़ता है। यह प्रक्रिया बहुत बार समाज के लिए हितकर सिद्ध नहीं होती। इस प्रकार एक गतिशील समाज में स्वयं सामाजिक विघटन के तत्त्व अन्तर्हित होते हैं। जो तत्त्व सामाजिक ढांचे को गतिशील बनाते हैं, वही उसे विघटित भी करते हैं।

पद और भूमिका सामाजिक निर्धारण का परिणाम. सामाजिक पद और भूमिका सामाजिक निर्धारण का परिणाम होते हैं। समाज ही अधिकांश व्यक्तियों के लिए यह निर्णय करता है कि वह क्या पद ग्रहण करें और कौन-सी भूमिका अदा करें। जब यह पद और भूमिकाएं स्पष्ट और निश्चित होती हैं, समाज सापेक्षतः सुसंगठित होता है। जब कि ऐसा नहीं होता, विघटन घटित होता है। हमारे वर्तमान समाज में उद्योगीकरण और पाश्चात्य शिक्षा के प्रसार के फलस्वरूप सामाजिक ढांचे में क्रान्तिकारी परिवर्तन हो रहे हैं और पद और भूमिका के सम्बन्ध में निश्चितता निरंतर कम होती जा रही है और इस प्रकार विघटन के बीज बोये जा रहे हैं।

प्रत्याशित पद और भूमिका तथा उसकी पूर्ति में व्यवधान. एक विघटित समाज में व्यक्तियों द्वारा पोषित और प्रत्याशित पद और भूमिका की कल्पना और उनकी पूर्ति में सदैव एक बड़ा अन्तर प्रदर्शित होता है। प्रत्येक क्षेत्र में

व्यक्तियों को ऐसे आदर्शों का सामना करना पड़ता है, जिन्हें वह शायद कभी भी प्राप्त नहीं कर पाते। इसका स्वाभाविक परिणाम निराशा होता है। अन्ततोगत्वा व्यक्तियों को निराश हो समाज-विरोधी कार्यों में कूदना पड़ता है। वह समाज जिसके सदस्यों की पर्याप्त संख्या समाज द्वारा अस्वीकृत तरीकों से अप्राप्य भूमिकाओं को अदा करने का प्रयास करती है, स्पष्टतः विघटित है।

सामाजिक एकमतता का अभाव. एक विघटित समाज में प्रमुख भूमिकाओं के बारे में कोई सामाजिक एकमतता नहीं होती। उदाहरणार्थ, आज हमारे समाज में एक पत्नी कौन-सी भूमिका अदा करे, यह एक महत्त्वपूर्ण प्रश्न है। वह एक माता या कमानेवाली, घर की शोभा बढ़ानेवाली या दिल बहलानेवाली संगिनी की भूमिका अदा करे, यह निश्चित नहीं है। इनमें से कुछ भूमिकाएं तो एक दूसरे की पूरक हैं, पर कुछ ऐसी नहीं हैं। ऐसी स्थिति में एक स्त्री के लिए विभिन्न भूमिकाओं को अदा करने के प्रयत्न का परिणाम व्यक्तिगत निराशा ही होगा। अप्रत्याशित परिस्थितियों में व्यक्तियों की असफलता और निराशा उन्हें समूह के ही विरुद्ध खड़ा कर देती है।

२. **सामाजिक परिवर्तन का प्रतिरोध.** एक संस्कृति के अभौतिक तत्त्व उसकी विभिन्न सामाजिक संस्थाओं का रूप धारण कर लेते हैं, जिन्हें बदलना सुगम नहीं होता। वह संस्थाएं जो कि एक समाज में स्थिरता लाती हैं, परिवर्तन के विरुद्ध अपनी हठ और प्रतिरोध के कारण प्रायः सामाजिक विघटन का कारण बन जाती हैं। किसी संस्था अथवा समाज के जीवित रहने के लिए अनिवार्य है कि वह परिवर्तित परिस्थितियों के अनुसार अपने को संशोधित कर सके।

जहां कहीं भी सामाजिक परिवर्तन की गति सापेक्षतया तीव्र है, नई परिस्थितियों और पुरानी जीवन-प्रणाली के विरोध से सामाजिक ढांचा निरंतर हिलता रहता है और सामाजिक विघटन को उपस्थित करता है। एक माने में सामाजिक विघटन सामाजिक परिवर्तन और प्रगति की कीमत का एक अंश है।

अभौतिक संस्कृति में परिवर्तन की मन्द गति. यह एक सर्वविदित तथ्य है कि भौतिक संस्कृति की तुलना में अभौतिक संस्कृति में परिवर्तन बहुत मन्द गति से होते हैं। संसार में कोई भी वस्तु इतनी मन्द गति से परिवर्तित नहीं होती जितनी कि विचार। भौतिक संस्कृति के परिवर्तन में अधिक कठिनाई नहीं होती। इसका कारण स्पष्ट है। एक बैलगाड़ी की तुलना में एक मोटरकार की श्रेष्ठता प्रदर्शित करना विशेष कठिन नहीं है। पर एक नये राजनैतिक

या सामाजिक संगठन की श्रेष्ठता प्रदर्शित करना और उसे अपनाना इतना सुगम नहीं। इससे हमारी उन भावनाओं और विश्वासों को आघात पहुंचता है जिन्हें हमने बचपन से संजोया है। यही कारण है कि जहां हम सरलता से नय भौतिक परिवर्तन स्वीकार कर लेते हैं, वहां अभौतिक परिवर्तनों को स्वीकार करने में प्रबल प्रतिरोध प्रदर्शित करते हैं। इसका परिणाम, भौतिक और अभौतिक दोनों क्षेत्रों के, परिवर्तन में विषमता की सृष्टि होता है। इसी विषमता को सांस्कृतिक पिछड़ (Lag) का नाम दिया गया है।

अभौतिक संस्कृति में भौतिक संस्कृति के अनुरूप परिवर्तन की आवश्यकता. भौतिक संस्कृति में परिवर्तन, अभौतिक संस्कृति में भी तदनुसार परिवर्तन की आवश्यकता पर बल देते हैं। आधुनिक यातायात और संवादवहन के साधनों ने आज दूरी की समस्या को बिल्कुल बदल दिया है, और परिणामतः राजनैतिक, आर्थिक और सामाजिक क्षेत्र में विस्तृत परिवर्तनों को अनिवार्य बना दिया है। इसी प्रकार कृषि और उद्योग के नये यन्त्रों और संगठनों ने हमारे आर्थिक ढांचे में विस्तृत परिवर्तन ला दिये हैं। विभिन्न भौतिक परिवर्तनों के साथ-साथ समस्त अभौतिक क्षेत्रों में उससे संगत परिवर्तन लाना आधुनिक युग की प्रधान समस्या है।

३. **सामाजिक धारणाओं में विषमता.** एक संतुलित सांस्कृतिक व्यवस्थापन (Adjustment) के लिए आवश्यक है कि सामाजिक व्यवहार में परिवर्तित यन्त्रों, परिवर्तित आर्थिक मांगों और परिवर्तित संस्थात्मक आवश्यकताओं के अनुसार सुधार हों। परन्तु मनुष्य की चिरपोषित धारणाएं प्रायः बहुत धीरे-धीरे बदलती हैं और जब नई धारणाएं पुरानी स्वीकृत धारणाओं को मानने से इनकार कर देती हैं, तब सामाजिक विघटन की सृष्टि हो जाती है और व्यक्ति परम्परागत व्यवहार को तिलांजलि दे देते हैं। सामाजिक धारणाओं में यह संशोधन परिवर्तन का कारण न होकर उसका परिणाम होता है।

ऐसी धारणाओं का ज्ञान, जो कि व्यवहार के विद्यमान नियमों की क्षमता को नष्ट करता है, और इस प्रकार सामाजिक संस्थाओं पर प्रहार करता है, सामाजिक विघटन को जन्म देता है।

४. **सामाजिक मूल्यों** (values) **का विरोध.** प्रत्येक समाज की कुछ मान्यताएं अथवा मूल्य होते हैं जो कि प्रत्येक समूह की सांस्कृतिक विरासत का आधारभूत अंश हैं। वह इस बात का निर्णय करते हैं कि समाज की किस बात को महत्त्वपूर्ण या उचित और किसे नगण्य या अनुचित समझा जाय। तलाक हमारे लिए एक समस्या बन जाता है, क्योंकि उससे हमारी विवाह-

सम्बन्ध की अविच्छिन्नता की मान्यता पर कुठाराघात होता है। विवाह से पूर्व यौन-सम्बन्ध अनैतिक घोषित किये जाते हैं, क्योंकि वह हमारी ब्रह्मचर्य की कल्पना के विरुद्ध जाते हैं। इस प्रकार समस्त क्षेत्रों में सामाजिक मूल्य सामाजिक संगठन का अभिन्न अंग होते हैं। ज्योंही सामाजिक मूल्यों के विरुद्ध आवाज उठती है, त्योंही सामाजिक विघटन शुरू हो जाता है।

जब लोगों में सामाजिक एकमतता नष्ट हो जाय और वह व्यक्तिगत अथवा वर्गीय स्वार्थ की दृष्टि से सामाजिक प्रश्नों पर सोचना शुरू कर दें तब सामाजिक विघटन विद्यमान माना जायेगा। आधुनिक समाज में संगठित धर्म के ह्रास, संयुक्त परिवार के विघटन और परस्पर-विरोधी राजनैतिक विचार-धाराओं के उदय और विकास में यह विघटन भलीभांति व्यक्त हुआ है। आज अर्थशास्त्र, राजनीति, वैदेशिक सम्बन्ध, धर्म, परिवार इत्यादि महत्त्वपूर्ण विषयों पर बहुसंख्यक जनता में एकमतता का अभाव है। परिवर्तित संसार ने विभिन्न सामाजिक विचारधाराओं को जन्म दिया है। आज से सौ साल पहले सामाजिक प्रश्नों पर जो एकमतता व्यक्त होती थी, वह शनैः-शनैः समाप्त होती जा रही है। उद्योगीकरण, आधुनिक यातायात और संवादवहन के साधनों, सामयिक आर्थिक मन्दियों, राजनैतिक परिवर्तनों, नये सामाजिक कानूनों और आधुनिक शिक्षा तथा युद्धों ने हमारी मान्यताओं और मूल्यों में क्रान्तिकारी परिवर्तन ला दिया है और सामाजिक प्रश्नों पर एकमतता को नष्ट करने में यथेष्ट योग दिया है।

धारणाएं और मूल्य सहवर्ती और एक दूसरे पर अत्यन्त निर्भर होते हैं। दोनों ही सामाजिक परिवर्तन और सामाजिक मतवैषम्य को प्रकट करते हैं। समाज की गतिशीलता में वृद्धि के साथ-साथ, सामाजिक प्रश्नों, व्याख्याओं और सामाजिक मूल्यों में अधिक परिवर्तन स्वाभाविक हैं। एक सामान्य व्यक्ति ऐसी स्थिति में अपने को अधिकाधिक कठिनाई में पाता है। वास्तव में सामाजिक मूल्यों का यह समकालीन संघर्ष मानव-इतिहास में सबसे विस्तृत सामाजिक विघटन को दर्शाता है।

५. **संकटकालीन स्थिति** (crisis). यद्यपि सामाजिक विघटन एक क्रमिक प्रक्रिया है, परन्तु संकटकालीन परिस्थितियों में इसके बहुत-से उग्र रूप प्रकट होते हैं। समूह के विचारों अथवा कार्यों में एक ऐसा गंभीर व्याघात, जो कि नई परिस्थिति में पुरानी आदतों, रिवाजों और व्यवहार को व्यक्त करे, सामाजिक संकट है। एक सामाजिक संकट व्यक्तिगत संकटों का भी सूत्रपात करता है, क्योंकि अधिकांश व्यक्ति अपने-आप परिवर्तित परिस्थितियों का सामना नहीं कर सकते।

आकस्मिक और क्रमिक संकट. सामाजिक संकट दो प्रकार के होते हैं—आकस्मिक और क्रमिक। जब किसी समूह या समुदाय की आदतों में एक आकस्मिक व्याघात उत्पन्न होता है और रातोंरात उन्हें अपने कार्यों को नई परिस्थिति के अनुरूप ढालना पड़ता है, तो यह आकस्मिक संकट है। नेताओं की मृत्यु, आकस्मिक दुर्घटनाएं, अकाल, भूकम्प, बैंकों का फेल हो जाना अथवा शेयर बाजार का ठप्प हो जाना ऐसे ही आकस्मिक संकट हैं। हमारे लिये द्वितीय महायुद्ध और देश के विभाजन के फलस्वरूप हुई मारकाट आकस्मिक संकट थे। अमरीका और पाकिस्तान सैनिक समझौता भी हमारे लिए एक आकस्मिक संकट है। इसके विपरीत, एक क्रमिक संकट वह है, जो दीर्घकाल में धीरे-धीरे उग्र रूप धारण करता है। नई नस्लों के परस्पर-सम्मिलन से उत्पन्न होनेवाली कठिनाइयां, क्रमिक संकट का उदाहरण हैं। इसी प्रकार हमारी आर्थिक व्यवस्था में हुए परिवर्तनों ने एक क्रमिक संकट को जन्म दिया है। हमारी कृषि-अर्थव्यवस्था का सामाजिक संगठन धीरे-धीरे नष्ट होता जा रहा है। पर्याप्त संख्या में जीविका की खोज में लोग गांवों से शहरों को निष्क्रमण कर रहे हैं। आधुनिक बाजारों की मांग के परिवर्तन सामयिक आर्थिक मन्दियों को जन्म देते और भीषण बेकारी को फैलाते हैं।

सामाजिक विघटन के प्रमुख रूप

आर्थिक मन्दी और बेकारी. उत्पादन, विनिमय और यातायात के साधनों ने जहां एक ओर जनसाधारण के लिए उपयोग और आराम की वस्तुओं का जुटाना संभव बनाया है, वहां दूसरी ओर व्यक्तिगत लाभ के लिए पूंजीपतियों द्वारा संचालित अर्थ-व्यवस्था ने आर्थिक मन्दी—बेकारी जिसका परिणाम है, जैसे क्रमिक संकट को जन्म दिया है। उत्पादन के लिए धन लगाने (Investment) में आकस्मिक कमी के कारण बड़ी संख्या में मजदूर बेकार हो जाते हैं। इस प्रकार लाखों मजदूरों को बेकार कर, उनमें असंतोष और निराशा की वृद्धि कर और समाज-विरोधी भावनाएं जगा आर्थिक मन्दी एक विकट सामाजिक विघटन को जन्म देती है। व्यक्तिगत लाभ के लिए उत्पादन, विनिमय और वितरण-यन्त्रों का उपयोग और सम्पत्ति का अत्यन्त असमान वितरण इस विघटन के लिए उत्तरदायी हैं।

पारिवारिक विघटन. बड़े-बड़े कारखानों के बनने से पहले एक कृषक परिवार केवल स्नेह और कामसूत्र से ही नहीं, प्रत्युत् धर्म, अर्थ, शिक्षा और मनोरंजन के सूत्रों से भी बंधा था। इन बंधनों का तोड़ना कठिन था। किन्तु

परिवार के अधिकांश कार्य आज बाहरी संस्थाओं के पास चले गये हैं। परिणामतः, पारिवारिक बंधन ढीले हो गये हैं। ऐसी स्थिति में तलाक, विच्छेद और परित्याग बढ़ गये हैं। नई आर्थिक परिस्थितियों ने परिवार के ढांचे को बदल दिया है, पर हमारी पुरानी पारिवारिक धारणाएं और मूल्य अभी परिवर्तन में पिछड़ गये हैं। इस कारण इस क्षेत्र में भी सामाजिक विघटन विद्यमान है।

युद्ध. किसी भी समाज के लिए युद्ध एक महान् आपदा और संकट है। युद्ध आर्थिक क्षेत्र में उत्पादन, विनिमय, वितरण में क्रान्तिकारी परिवर्तन उपस्थित करते हैं उपभोग की वस्तुओं का भीषण अभाव हो जाता है। समाज की सारी शक्ति उपयोगी वस्तुयें बनाने के स्थान पर विनाश के साधनों के निर्माण में लग जाती है। युद्धों में भीषण धन और जन की हानि उठानी पड़ती है। भय, घृणा, क्रूरता लोगों को आक्रान्त कर लेती है। व्यक्ति और विचारों की स्वाधीनता युद्ध-उद्देश्यों के लिए समाप्त कर दी जाती है। युद्धरत समाज युद्धकाल में एक दूसरे के विरुद्ध बर्बर व्यवहार की स्वीकृति दे शांतिकाल में भी उससे मुक्त नहीं हो पाते। बड़ी संख्या में पुरुषों के युद्ध-क्षेत्र में चले जाने अथवा मारे जाने के कारण, पारिवारिक जीवन नष्ट हो जाता है और व्यभिचार और चारित्र्य-शथिल्य उसका स्थान ले लेते हैं। इस प्रकार हम देखते हैं कि युद्ध समस्त विद्यमान सामाजिक सम्बन्धों, धारणाओं और मूल्यों को छिन्न-भिन्न कर गंभीर सामाजिक विघटन की सृष्टि करते हैं।

अपराध. जब समाज में विघटन होता है, तब लोग परम्परागत नैतिकता और सदाचार की भावनाओं में विश्वास खो देते तथा विभिन्न आर्थिक मजबूरियों से प्रेरित हो समाज-विरोधी दृष्टिकोण अपनाने की ओर अग्रसर होते हैं। परिणामतः, अपराधों की वृद्धि होती है। किसी समाज में अपराधों की उपस्थिति ऐसे व्यक्तियों की उपस्थिति को सूचित करती है जो कि असंतुष्ट हैं और अपने वातावरण के साथ सामंजस्य स्थापित नहीं कर पाये हैं। सामाजिक विघटन की अवस्था में ऐसे व्यक्तियों की संख्या असाधारण रूप से बढ़ जाती है। फलस्वरूप, अपराध भी बढ़ जाते हैं। अधिक अपराधों का होना किसी भी सामाजिक संगठन के लिये बड़ा खतरा और उसकी रोगी और विघटित अवस्था का द्योतक है। अगले अध्याय में हमने विस्तार से अपराध और उसके उन्मूलन की समस्या पर विचार किया है।

उद्योगीकरण और सामाजिक विघटन

सामाजिक विघटन की सामान्य विवेचना करते हुए हम देख चुके हैं कि अन्य अनेक कारणों के साथ अनियोजित उद्योगीकरण (Unplanned

Industrialisation) वर्तमान समाज में सामाजिक विघटन का एक प्रधान कारण है। अतः उस पर पृथक् रूप से कुछ कहना आवश्यक है।

उद्योगीकरण और सामाजिक संगठन को लेकर कुछ अन्वेषकों और विद्वानों ने कुछ महत्त्वपूर्ण तथ्य संकलित किये हैं। इन तथ्यों की जानकारी अत्युपयोगी है। यह अध्ययन मुख्यतः फ्रांस और अमरीका को लेकर किये गये हैं, किन्तु इनमें दिये हुए निष्कर्ष भारत पर भी पूरी तरह लागू होते हैं। वास्तव में जिन देशों में अनियोजित उद्योगीरण हुआ, उन्हें ही प्रायः समान परिणामों का सामना करना पड़ा है।

लाप्ले का अध्ययन. फ्रच इंजीनियर, फ्रेडरिक लाप्ले उन्नीसवीं सदी में फ्रांस में उद्योगीकरण के प्रभावों का अध्ययन करते हु ए इस परिणाम पहुंचे कि सरल संस्कृतियों में, जहां कि जीविका का मुख्य साधन कृषि अथवा मछली पकड़ने के प्राथमिक उद्योग हैं, सामाजिक संगठन में स्थिरता है, जो कि विकसित उद्योगी केन्द्रों में नष्ट हो चुकी है। इन सरल संस्कृतियों में प्रत्येक व्यक्ति विभिन्न आर्थिक और सामाजिक क्रियाओं को समझता है और अल्पाधिक अंश में उनमें भाग लेता है। परिवार और बिरादरी के वास्तविक या काल्पनिक बंधन तथा प्रत्येक सामाजिक अवसर उसे प्रत्येक सदस्य से सम्बन्धित करते हैं और यहां पर सहयोगपूर्वक कार्य करने की क्षमता बहुत उच्चस्तर पर पाई जाती है। यह स्थिति ऐसी नहीं है जहां कि जोर-जब्र से सहयोग प्राप्त किया जाता है; इसके विपरीत, व्यक्ति खुशी से स्वयं सहयोग देते हैं और व्यक्तिगत आकांक्षाओं और सामाजिक विधान में किसी प्रकार का विरोध नहीं होता। प्रत्येक व्यक्ति इच्छापूर्वक सामाजिक कार्यों में योग देता है।

लाप्ले की खोजों के अनुसार आधुनिक और औद्योगिक समुदायों की स्थिति इससे सर्वथा भिन्न है। यहां पर विस्तृत सामाजिक विघटन व्याप्त है : सामाजिक विधान की सत्ता की उपेक्षा की जाती है, बिरादरी और रक्त के बंधन कमजोर हो गये हैं, शांति और स्थिरता की क्षमता निश्चित रूप से कम हो गई है। ऐसे समुदायों में व्यक्ति दुःखी हैं। परिवर्तन और नवीनता की इच्छा पागलपन की सीमा तक पहुंच गई है जिसने विघटन को और भी बढ़ा दिया है। विभिन्न व्यक्तियों और समूहों के बीच प्रभावशाली सम्पर्क नष्ट हो गया है और उनके बीच स्वाभाविक और प्रभावशाली सहयोग की क्षमता भी परिणामतः, नष्ट हो गई है। प्रसिद्ध फ्रेंच समाजशास्त्री दुरखाइम भी इससे मिलते-जुलते परिणामों पर पहुंचे हैं।

वर्तमान औद्योगिक समाज के अध्ययन से दो बातें तो स्पष्ट हैं—दुःखी व्यक्तियों

की संख्या निस्संदेह बढ़ गई है तथा इसमें विभिन्न समूहों में सहयोग का स्तर पर्याप्त निम्न है ।

डुरखाइम का मत. दुरखाइम ने ठीक ही लिखा है कि हमारे विकास की सबसे प्रमुख विशेषता यह है कि उसने समस्त स्थापित सामाजिक प्रसंगों को नष्ट कर दिया है और उनका स्थान लेने के लिए कोई नई चीज पैदा नहीं हुई है । दूसरे शब्दों में, द्रुत औद्योगिक, यान्त्रिक, भौतिक और रासायनिक उन्नति और प्रगति ने समस्त ऐतिहासिक और व्यक्तिगत सम्बन्धों को बिल्कुल छिन्न-भिन्न कर दिया है । ऐसा लगता है कि पहले की समस्त संस्थाओं में से केवल राज्य ही बचा है, जिसने कि पहले समाज के विभिन्न सामाजिक कृत्यों को अपने अन्दर आत्मसात् करने की चेष्टा की है । लेकिन वह उसमें सफल नहीं हो सका है ।

भारतीय इतिहास के जिन विद्यार्थियों ने मेजर बी० डी० बसु लिखित भारत में अंग्रेजी राज्य के उत्कर्ष की कहानी पढ़ी है, वह उद्योगीकरण के प्रभाव से हुई भारतीय दस्तकारों की कंगाली, भुखमरी और दयनीय अवस्था से भलीभांति परिचित हैं । यद्यपि भारत में उद्योगीकरण के सामाजिक प्रभावों का कोई वैज्ञानिक अध्ययन नहीं हुआ है, पर इसमें संदेह नहीं कि भारत में उद्योगीकरण ने भीषण सामाजिक विघटन की स्थिति को उत्पन्न किया है ।

लाप्ले और दुरखाइम के अध्ययनों से एक परिणाम प्रबल रूप में निकलता है कि औद्योगिक समाज में हम सहयोग को केवल चांस—संयोग पर नहीं छोड़ सकते । राजनैतिक और औद्योगिक इकाइयों में यह उपेक्षा केवल विशृंखलता और विनाश की ही सृष्टि करेगी । निस्संदेह, पिछली शताब्दी में भौतिक विज्ञानों, रसायन और चिकित्सा के क्षेत्र में असाधारण उन्नति हुई है, किन्तु इस उन्नति के असाधारण विस्तार ने समाज के संतुलन को समाप्त कर दिया है । यदि हमारी सामाजिक कुशलता भी हमारी यान्त्रिक कुशलता के साथ कदम से कदम मिलाकर चलती, तो यह अव्यवस्था न होती । परिवर्तनशील समाज में हमें अपनी कुशलता को परिवर्तित अवस्था के अनुसार निरंतर परिवर्तित करने रहकर उसके अनुकूल बनाना होगा ।

यदि हम भारत में जुलाहों का ही उदाहरण लें, तो हमें पता चलेगा कि मशीनों के आयात और उद्योगीकरण से पहले यहां पर जनसंख्या का बड़ा अनुपात कपड़ा कातने-बुनने के काम में लगा हुआ था । मशीनों के आगमन और उद्योगीकरण की प्रगति ने उनके रोजगार को बड़ा धक्का पहुंचाया । उनमें से अधिकांश बेकार हो गये । इस प्रकार समाज के स्तम्भ विकासवादी धारणाएं

ग्रहण करने के स्थान पर बेकारी और व्यक्तिगत निराशा के गर्त में जा गिरे। अपने और समाज के प्रति उनका रुख पूर्ण अविश्वास का हो गया और इससे भीषण सामाजिक विघटन की स्थिति उत्पन्न हो गई। यह समस्या केवल जुलाहों तक ही सीमित नहीं रही है, प्रत्युत् दस्तकारी में लगे हुए सभी लोग इससे प्रभावित हुए और हो रहे हैं।

उक्त विवेचन से यह परिणाम निकलता है, कि यदि हमें अपने टेक्नीकल कौशल में आकस्मिक और बुनियादी परिवर्तन करना है, तो हमें परिवर्तित स्थिति का मुकाबिला करने के लिए उस सामाजिक कौशल का विकास करना होगा जो कि रहन-सहन के तरीको में सामाजिक परिवर्तन ला बदली स्थिति का मुकाबिला करने के लिए इन कार्यवाहियों का संतुलन कर सके। हम किसी भी प्रकार एक पैर बीसवीं सदी और दूसरा पैर अठारहवीं सदी में रखकर नहीं चल सकते। पिछले सौ सालों में समाज ने अपनी सभी पूर्वस्थापनाओं को बदल दिया है। इसलिए यह आवश्यक है कि हम अपने सब कार्यों में संतुलन और व्यवस्थापन स्थापित करें।

सामाजिक आयोजन (Planning) की आवश्यकता. हमारी अधिकांश वर्तमान सामाजिक समस्याओं के कारणों को हमारी संस्कृति के विभिन्न विभागों की असमान प्रगति में ढूंढा जा सकता है। अतः सामाजिक विघटन को रोकने का प्रभावपूर्ण उपाय संस्कृति के विभिन्न भौतिक और अभौतिक विभागों—समस्त संस्थाओं, रीति-रिवाजों, विश्वासों, कानूनों को एक दिशा में, एक गति से, एक संगति से आगे बढ़ाना है। यह कार्य स्वयमेव अदृश्य हाथ के चमत्कार द्वारा सम्पन्न नहीं हो सकता, जैसा कि निर्हस्तक्षेप-नीति (Laissez faire) के समर्थकों का विश्वास था। इसके लिए हमें आयोजन को अपनाना होगा। सार्वजनिक हित की भावना से प्रेरित, व्यक्तिगत और वर्गीय स्वार्थों से रहित, सामाजिक यन्त्र के विभिन्न विभागों के संचालन की क्षमताप्राप्त व्यक्तियों द्वारा पूर्व-नियोजित, जनतांत्रिक रीति से निश्चित बौद्धिक सामाजिक आयोजन द्वारा ही यह संभव है। भौतिक आविष्कारों को रोककर सामाजिक विघटन का समाधान नहीं किया जा सकता, न ही संस्कृति के कुछ विशिष्ट भागों को अनियमित रीति से नियंत्रित कर सामाजिक संकट का मुकाबिला किया जा सकता है। इसके लिये आवश्यक है कि हम बहुमुखी और विस्तृत विकास की योजनाएं अपनायें।

सातवां अध्याय

अपराध

समाज और अपराध

प्रत्येक समाज में उसकी शांति, सुरक्षा, समृद्धि और कल्याण के लिए कुछ नियमों की आवश्यकता होती है। इन्हीं नियमों को हम रीति-रिवाज, रूढ़ि या कानून कह सकते हैं। इनमें से कुछ नियमों का उल्लंघन दण्डनीय तथा कुछ का, यद्यपि दण्डनीय नहीं, तथापि निन्दनीय अथवा अनैतिक माना जाता है। सामान्यत:, किसी भी समाज के कानून उस समाज के सामाजिक संगठन, धर्म, विश्वास, आर्थिक अवस्था, नैतिक धारणाओं द्वारा प्रभावित और निर्धारित होते हैं।

कानून और नैतिकता. कानून की दृष्टि से कोई भी ऐसा कार्य जिसके लिये समाज दण्ड की व्यवस्था करता है, अपराध कहलाता है। अपराध की यह परिभाषा अन्य परिभाषाओं की भांति हमें बहुत आगे नहीं ले जाती। एक अन्य दृष्टि से हम अपराध को अनैतिक कार्य की श्रेणी में रख सकते हैं। पर यहां पर प्रश्न उठता है कि क्या कोई कार्य केवल गैर-कानूनी होने से ही अनैतिक कहा जा सकता है? यदि किसी निरंकुश शासन का विरोध किया जाय, तो क्या हम उसे गैर-कानूनी होते हुए भी अनैतिक कहेंगे? उदाहरणार्थ, १९४७ से पहले भारत में लाखों लोगों ने ब्रिटिश शासन का विरोध किया, क्या हम उसे अनैतिक कहेंगे? यहां हमें यह न भूलना चाहिए कि कानूनी भाषा में गैर-कानूनी होते हुए भी सामान्य जनता द्वारा यह अनैतिक नहीं समझा गया। पर सामान्यत:, किसी भी सभ्य समाज में कानून और नैतिकता में सदैव घनिष्ठ सम्बन्ध पाया जाता है। पर इससे भी इनकार नहीं किया जा सकता कि आज के समाज में, जहां कि जनता विभिन्न वर्गों और समूहों में बंटी हुई है, नैतिकता के सम्बन्ध में पर्याप्त भिन्न धारणाएं पाई जाती है। बावजूद इसके, हम यह कह सकते हैं कि अधिकांश आधुनिक देशों में, विशेषत: जहां पर कि जनतन्त्रीय शासन-व्यवस्था है, अपराध कहे जानेवाले कार्य बहुसंख्यक जनता द्वारा अनैतिक समझे जाते हैं। यहां तक कि एक पेशेवर अपराधी भी अपने वर्ग के व्यक्ति की चोरी को बुरा समझता है। पर साथ ही यह सत्य है कि विभिन्न निषिद्ध कार्यों को विभिन्न वर्ग विभिन्न मात्रा में निन्दनीय समझते हैं।

परिवर्तनशील नैतिकता. किसी भी अनैतिक कार्य के दो पहलू हैं एक तो आन्तरिक, दूसरा बाह्य, पहले का सम्बन्ध व्यक्ति की अपनी नैतिकता की धारणा से है, दूसरे का समाज से, क्योंकि वह समाज की दृष्टि से हानिकर है। समाजशास्त्रीय गवेषणाएं इस बात की पुष्टि करती हैं कि समुदाय की दृष्टि से कोई भी 'अनैतिक' कार्य समाजविरोधी कार्य है। किसी भी व्यक्ति पर, जिस समाज में वह जन्म लेता, बढ़ता और रहता है उसका प्रबल प्रभाव पड़ता है। अतः सामान्यतः वह अपने समय में विद्यमान नैतिक धारणाओं को बिना नुन-नच के स्वीकार कर लेता है। इस प्रकार हम कह सकते हैं, एक माने में अनैतिक कार्य एक समाज-विरोधी कार्य है। किन्तु कोई भी कार्य केवल अनैतिक होने से ही अपराध और अपराध होने से अनैतिक नहीं हो जाता। वास्तव में प्राकृतिक अपराध नाम की कोई चीज नहीं है। यह सब सामाजिक अवस्था पर निर्भर है। कुछ कार्य तो ऐसे हैं जो कि सभी समाजों में सभी कालों में निषिद्ध रहे हैं, जैसे कि चोरी, क्योंकि इसके अन्दर बिना मेहनत दूसरे की सम्पत्ति हड़पने का प्रयास है, जो कि किसी भी प्रकार के समाज के बहुसंख्यक सदस्यों के स्वार्थ के विरुद्ध है। किन्तु सभी अपराधों के विषय में ऐसा नहीं कहा जा सकता। आज से सौ साल पहले के समाज द्वारा अनुमोदित और समर्थित अनेक कार्य आज अपराध हैं तथा उस समय के अनेक अपराध आज अपराध नहीं रह गये हैं।

कानून और नैतिकता में व्यवधान. इस प्रकार हमारी नैतिक धारणाओं के परिवर्तन हमारे अपराध-शास्त्र और दण्ड-विधान में भी परिलक्षित होते हैं। किन्तु इसमें प्रायः पर्याप्त समय लगता है और कभी-कभी तो परिवर्तित नैतिकता और अपेक्षतया प्रगतिशील अपराध कानून के बीच का व्यवधान बहुत ही विस्तृत हो जाता है।

अपराध और अनैतिकता. अपराध को अनैतिक कार्य की श्रेणी में रखा जा सकता है, पर वह उसका एक अंश ही कहा जा सकता है। एक तरह से हम कह सकते हैं कि उनमें से जो अधिक भीषण होते हैं उन्हें ही अपराध गिना जाता है। हम नैतिक और अपराधी नियमों की दो समकेन्द्रक वृत्तों से तुलना कर सकते हैं, जिनके आकार में समय और स्थान के अनुसार पर्याप्त अन्तर रहता है। कभी-कभी दोनों वृत्त एक दूसरे को बिल्कुल ढक लेते हैं। किन्तु इसे अच्छा लक्षण नहीं कहा जा सकता। कोई भी समाज, जो प्रत्येक छोटे से छोटे अनैतिक कार्य के लिए दण्ड की व्यवस्था करता है, स्वस्थ और सबल नहीं कहा जा सकता।

अपराध गंभीर समाज-विरोधी कृत्य. सारांश में हम कह सकते हैं कि

अपराध एक गंभीर समाज-विरोधी कार्य है जिसके कि विरुद्ध राज्य दण्ड की व्यवस्था करता है।

अपराध से समाज की हानि. अपराध एक भयंकर और गंभीर सामाजिक रोग है जो किसी भी समाज की समृद्धि और प्रगति के लिए सबसे बड़ा अभिशाप और कभी-कभी तो उसके जीवन तक के लिये भीषण खतरा है। सारे संसार में हर साल अनन्त अपराध किये जाते हैं तथा लाखों व्यक्ति जेलों में भेजे जाते हैं। करोड़ों और अरबों रुपया उनकी रोक-थाम में खर्च होता है और अपराध में संलग्न व्यक्तियों की श्रम-शक्ति का, उत्पादन-कार्यों में न लगने के कारण, व्यर्थ नाश होता है। इस प्रकार समाज की अपार आर्थिक हानि होती है। आर्थिक हानि के अतिरिक्त, अपराध से जो नैतिक हानि होती है वह उससे भी अधिक भयंकर है। अधिक अपराधों का होना समाज में प्रबल समाज-विरोधी तत्त्वों के होने को सूचित करता है और यह समाज-विरोधी प्रवृत्ति समाज के निर्दोष सदस्यों पर भी अपना दूषित प्रभाव छोड़ती है। यदि हम इसमें दण्डित अपराधियों और उनके आश्रित परिवारों के कष्ट और दुःख तथा उनके द्वारा जागृत भय का भी समावेश करें, तो हमें ज्ञात होगा कि हमारी कितनी नैतिक हानि हुई है। साथ ही हमें यह स्मरण रखना चाहिए कि एक अपराधी भी मानवता का एक अंग है।

अच्छे सामाजिक जीवन के लिए अपराध का उन्मूलन आवश्यक. किसी समाज की स्थिति, स्थिरता और उन्नति के लिए जहां अभाव, अज्ञान और बेकारी के विरुद्ध प्रबल संघर्ष करना जरूरी है, वहां उसके लिए अपने भीतर से अपराध का उन्मूलन भी परम आवश्यक है। अपराध के उन्मूलन से जहां हम एक ओर विद्यमान भीषण आर्थिक और नैतिक हानि को रोक सकेंगे, वहां दूसरी ओर हम एक सामाजिक सेवा, स्वावलम्बन और सहयोग की भावनाओं के प्रसार में भी अधिक सफल होंगे।

अपराध के कारण

किसी भी रोग का निदान करने से पहले उसके मूल कारणों को समझना अत्यावश्यक है। बिना उसके सही ज्ञान के हम सुधार की आकांक्षा और भावना रखते हुए भी, अनजाने में ऐसे कदम उठा सकते हैं, जिनसे समस्या का हल होना तो दूर, बल्कि उसके बढ़ने में मदद मिल सकती है। यह बात चाहे और किसी क्षेत्र में इतनी सत्य हो न हो, पर अपराध के क्षेत्र में तो पूरी तरह से लागू होती है। यही कारण है कि छोटे से छोटे अपराध के लिए कठोर से कठोर दण्ड की व्यवस्था कर भी हम अपराधों में कमी नहीं कर सके हैं। आखिर इसका क्या कारण

है ? अपराध करने के कारणों के सम्बन्ध में लोगों ने तरह-तरह की विचित्र और भ्रान्त कल्पनाएं की हैं, और आज भी ऐसे लोगों कमी नहीं है जो उन्हें सत्य मानते हैं। निःसन्देह, इन गलत धारणाओं के प्रसार में अनेक विद्वानों का भी हाथ रहा है।

यह वास्तव में खेद का विषय है कि उन्नीसवीं सदी के मध्य तक अपराध के कारणों की खोज का कोई वैज्ञानिक प्रयत्न नहीं किया गया। उसके बाद भी जो खोजें हुईं, उनमें से अनेक बहुत ही अपूर्ण और भ्रान्त थीं। हाल में अवश्य कुछ देशों में इस दिशा में महत्त्वपूर्ण कार्य हुआ है, जिससे परिचित होना अत्यावश्यक है।

आगे हम संक्षेप में अपराध के कारणों के सम्वन्ध में कुछ प्रख्यात और प्रचलित धारणाओं तथा उस सम्बन्ध में हुई महत्त्वपूर्ण गवेषणाओं के परिणामों का विवरण देने का प्रयत्न करेंगे।

मानवशास्त्रीय (Anthropological) व्याख्या

लोम्ब्रोजो का सिद्धांत. उन्नीसवीं सदी के अन्त में सर्वप्रथम अपराध के कारणों की जांच का गंभीर प्रयत्न आरम्भ हुआ। इन प्रारम्भिक अन्वेषकों में इटली के विद्वान् लोम्ब्रोजो का नाम बहुत प्रसिद्ध है और आज तक भी कुछ अंशों में उनके विचारों के कुछ पोषक मौजूद हैं। लोम्ब्रोजो ने लगभग ६००० अपराधियों की मानवशास्त्रीय परीक्षा की, उनके कपाल, नाक, ठोड़ी, बाल इत्यादि के माप लिये और उससे वह इस परिणाम पर पहुंचे कि अपराधियों में कुछ ऐसी शारीरिक विशेषताएं हैं जो कि बाकी जनता में नहीं पाई जातीं। उदाहरणार्थ, उनके अनुसार अपराधियों का, विशेषकर चोरों के कपाल का, आयतन सामान्य व्यक्तियों से कम होता है। उनके बड़े-बड़े, भद्दे चेहरे तथा छोटे मस्तक होते हैं; उनमें भावुकता का अभाव पाया जाता है तथा वह आदिम मनुष्यों की भांति प्रायः शरीर पर गुदवाते हैं। इस प्रकार उन्होंने यह सिद्ध करने का प्रयत्न किया कि अपराध एक आनुवंशिक या जन्मजात प्रवृत्ति है, अथवा अपराधियों की एक पृथक् जाति कही जा सकती है, जिन्हें कि पृथक् पहचाना जा सकता है। २०वीं सदी में भी कुछ अन्वेषक इसी प्रकार के परिणामों पर पहुंचे।

भारतीय सामुद्रिकशास्त्र. भारतवर्ष में भी अति प्राचीन काल से अपराधियों के सम्बन्ध में कुछ ऐसे ही विचार फैले हुए हैं। मनुस्मृति इत्यादि विधिग्रन्थों में न्याय करते समय अपराधी की आकृति पर भी ध्यान देने पर बल दिया गया है। शारीरिक लक्षणों द्वारा मनुष्य के चरित्र की परीक्षा को लेकर यहां पर एक पृथक् शास्त्र का ही विकास हुआ जिसे कि सामुद्रिकशास्त्र कहते हैं। इसी प्रकार

कुछ लोग हस्त-रेखाओं द्वारा मनुष्य के चरित्र को जानने का दावा करते हैं।

सामुद्रिकशास्त्र के अनुसार मनुष्य की ऊंचाई, आवाज, वजन, रंग, रक्त, शरीर के विभिन्न भागों के तैलीय स्रावों द्वारा अपराध का निर्णय किया जा सकता है। बृहत्संहिता के लेखक वराहमिहिर के मत में जिसका रंग पीला हो, घुटने अन्दर को हों, नाक नुकीली हो, भौंहें बीच में झुकी हों तथा माथे की रेखायें टूटी हों, उसे यौन-सम्बन्धी अपराधी समझना चाहिए। जिसकी नाभि दाहिने से बायीं ओर फिरी हो या जिसका चेहरा आयताकार (Rectengular) हो उसे धोखेबाज जानना चाहिए; धंसे हुए माथे के व्यक्ति को सदैव कारावास का भय है। वह स्त्री जिसके पैर की कन्नी उंगली जमीन को न छू सके और जिसकी आंखें नशीली हों, जिसके गालों में हंसते समय गढ्ढे पड़ जायें, व्यभिचारिणी होगी। अस्तु।

समालोचना

अपराध किसी विशिष्ट शारीरिक अवस्था का परिणाम नहीं. फ्रांसीसी मानवशास्त्री मैनूव्रियर ने लोम्ब्रोजो की आलोचना करते हुए बताया है कि अपराधियों में पाये जानेवाले अनेक शारीरिक लक्षणों में कोई असामान्य अथवा हानिप्रद बात नहीं है तथा एक भी ऐसा लक्षण नहीं है जिससे कि हम अपराधी को पहचान सकें। इनमें से कोई भी लक्षण अपराध की जन्मजात प्रवृत्ति की ओर संकेत नहीं करता। यदि हमें अपराधियों में विचित्रताएं भी कुछ मिलती हैं, तो वह केवल आकस्मिक शारीरिक घटनाएं हैं जो अच्छे से अच्छे स्वभाव के व्यक्ति में भी पाई जा सकती हैं। जर्मन अपराधशास्त्री बेयर अपने अन्वेषणों से इस परिणाम पर पहुंचे कि "अपराध अपराधी की किसी विशिष्ट शारीरिक अवस्था का परिणाम नहीं है जो कि उसे अपराधी कार्य करने को बाध्य करता है। अभ्यस्त तथा जन्मत: अपराधी दीखनेवाले व्यक्ति में बहुत-से शारीरिक और मानसिक कुरूपता के चिह्न दृष्टिगोचर होते हैं, किन्तु न तो वह सब मिलाकर न पृथक् ही ऐसी विशिष्टता रखते हैं, जिनसे कि उन्हें औरों से पृथक् किया जा सके। अन्य अन्वेषणों से भी इस बात की पुष्टि होती है। उदाहरणार्थ, कत्ल करनेवालों तथा उनसे सर्वथा उल्टे पुलिसवालों के शारीरिक अन्तर, दो अपराधी वर्गों जैसे कि सिपाही और सैनिक, से भी कम पाये गये हैं। अंग्रेजी डाक्टर चार्ल्स गोरिंग ने इस शताब्दी के प्रारम्भ में ३००० भयंकर अपराधियों की परीक्षा की जिसके परिणाम थे—"आक्सफोर्ड और कैम्ब्रिज के विद्यार्थियों के कपालों की लम्बाई के अन्तर, अपराधियों की तुलना में कोई द्रष्टव्य अन्तर

उपस्थित नहीं करते; जब कि विद्यार्थियों और अपराधियों की तुलना में ऐबरडीन और कैम्ब्रिज के विद्यार्थियों में यह अन्तर अधिक है। वास्तव में केवल सिर की मापों से इस बात के सम्बन्ध में यह अधिक निश्चितता से जाना जा सकता है कि वह अंग्रेजी अथवा स्काटिश विश्वविद्यालय का विद्यार्थी है, बनिस्बत इसके कि वह आगे चलकर विश्वविद्यालय का प्रोफेसर बनेगा अथवा एक दंडित अपराधी।"

शारीरिक लक्षणों में अपराध की खोज भ्रान्त. आधुनिक वैज्ञानिक और निष्पक्ष अन्वेषणों से यह स्पष्ट है कि अपराधी टाइप नाम की कोई चीज नहीं है। इस प्रकार शारीरिक लक्षणों तथा आकृतियों में अपराध के कारणों की खोज करना सर्वथा व्यर्थ है तथा इसका एकमात्र आधार पूर्व कल्पनाएं और अन्धविश्वास है, जिनका कोई वैज्ञानिक आधार नहीं है। अतः हमें अपराध की खोज कहीं अन्य करनी होगी।

२. आर्थिक वातावरण की व्याख्या

१९वीं सदी के अन्त में अपराध की एक नई व्याख्या सामने आई जिसमें आर्थिक कारणों को अपराध का कारण सिद्ध किया गया। यही वह समय था जब कि आधुनिक समाजवादी विचारधारा का उद्‌भव हुआ। इसके अनुसार किसी समाज में आर्थिक कारण ही बुनियादी हैं। इसी सिद्धान्त को कार्ल मार्क्स ने अपनी रचना 'अर्थशास्त्र की आलोचना' में जोरदार शब्दों में व्यक्त किया। "भौतिक जीवन के उत्पादन-साधन ही जीवन की सामाजिक, राजनैतिक तथा आध्यात्मिक प्रक्रियाओं को निर्धारित करते हैं।" इस विचार-सरणी के अनुसार किसी समाज की उत्पादन-व्यवस्था ही उसके अपराधों के लिए उत्तरदायी कही जायेगी। इसकी दृष्टि में प्रश्न यह नहीं, कि किस अंश में आर्थिक कारण (जैसे कि भुखमरी) अपराध के उद्‌भव में कार्य करते हैं, प्रत्युत् यह है कि किस अंश में कोई आर्थिक व्यवस्था समस्त अपराध को नियंत्रित करती है।

अपूर्ण पर उपयोगी. इस व्याख्या का एक बड़ा गुण है कि इसने सामाजिक जीवन के एक विशिष्ट पहलू पर हमारा ध्यान केन्द्रित किया है। लोम्ब्रोजो के फ्रांसीसी आलोचकों के लिए यह तथ्य पर्याप्त अस्पष्ट था। इसका कारण भी था। उनमें से अधिकांश चिकित्साशास्त्री थे। आर्थिक व्याख्या में, बावजूद कुछ अच्छाइयां होने के, हम केवल उसकी सहायता से अपराध की विवेचना नहीं कर सकते। उसके लिए हमें उन समस्त आर्थिक और अनार्थिक प्रयोगों का विश्लेषण करना होगा जो कि अपराध को जन्म देते हैं।

३. समाजशास्त्री अन्वेषणों के परिणाम

अपराधी समाजशास्त्र आज लगभग एक सदी पुराना है और यह कहा जा सकता है कि वह अपराध के कारणों के सम्बन्ध में प्रायः पूर्ण स्पष्टता प्राप्त कर चुका है। आगे हम संक्षेप में इसके कुछ मुख्य और महत्त्वपूर्ण निष्कर्षों का विवरण दे रहे हैं।

(क) बच्चों की उपेक्षा इत्यादि

कुल अपराध में बच्चों और तरुण व्यक्तियों के अपराधों का बड़ा अंश होता है। इनके अतिरिक्त, प्रौढ़ अपराधियों की बड़ी संख्या या तो बचपन से अपराध को अपनाती है, अथवा छोटी ही आयु में पतित हो चुकी होती है। किशोर अपराध के कारणों के ज्ञान से हम प्रौढ़ अपराध के कारणों को भी जान लेते हैं। विभिन्न देशों से एकत्रित सूचनाएं इस बात की प्रबल पुष्टि करती हैं कि बुरा उदाहरण और बचपन में उपेक्षा, अपराध का एक बहुत ही महत्त्वपूर्ण कारण हैं। बच्चों का नाजायज और अनाथ होना, उनके माता-पिता का जेल में होना, भिखारी, शराबखोर अथवा वेश्या अथवा सौतेला होना, उनके द्वारा उन्हें छोड़ देना ऐसे कारण हैं जो प्रायः बच्चे को अपराधी बनने को बाध्य करते हैं। इसीलिए अपराधियों में ऐसे लोगों की ही बहुत बड़ी संख्या होती है, जिन्हें बचपन में किसी प्रकार का प्रेम, सुविधा, शिक्षा, सम्मान और सुख नहीं मिला होता। यदि इन्हीं बच्चों को छोटी उम्र में इस विषाक्त और हानिकर वातावरण से पृथक् किया जा सकता, तो उनमें से अधिकांश अपराधी न बन पाते। बचपन में उपेक्षा और माता-पिता द्वारा त्याग इत्यादि कारण सभी प्रकार के अपराधों के लिए उत्तरदायी हैं। किन्तु अब हम कुछ ऐसे कारणों का वर्णन करेंगे जो कि कुछ विशिष्ट प्रकार के अपराधों को जन्म देते हैं।

(ख) भुखमरी

उन्नीसवीं सदी के मध्य में कुछ अंकशास्त्री-समाजशास्त्रियों ने इस चीज को लक्ष्य किया कि जनता कि आर्थिक कठिनाइयां बढ़ने के साथ-साथ चोरियों की संख्या बढ़ जाती है। १८६७ में जर्मनी में वान मेयर ने चोरी और अनाज के भाव के परस्पर घनिष्ठ सम्बन्ध को सिद्ध किया। डच अपराधशास्त्री बौन्गार ने १९१५ में अठारह देशों के आंकड़े लेकर यही बात प्रदर्शित की। इसी प्रकार अन्य अन्वेषणों द्वारा भी यह तथ्य स्पष्ट हुआ। स्वयं भारतवर्ष में डा० हैकरवाल ने इस सम्बन्ध में १९१७-१९२७ के अपराध और अनाज के भाव के आंकड़ों के अध्ययन द्वारा इन दोनों में घनिष्ठ सम्बन्ध पाया। अनाज के भाव

बढ़ने और घटने के साथ-साथ प्रायः उसी अनुपात में चोरियों की संख्या घटती और बढ़ती रही। एक कृषि-प्रधान देश होने के कारण हमारे यहां यह तथ्य और भी अधिक महत्त्वपूर्ण है। इसलिए जिस साल भी सूखा पड़ने या अन्य किसी कारण से फसल खराब हुई, छोटी चोरियों की संख्या बढ़ जाती है।

निःसन्देह, आर्थिक मन्दी और तेजी, जो कि व्यापार-चक्र के उतार-चढ़ाव की द्योतक है, विशेष प्रकार के अपराधों पर प्रत्यक्ष प्रभाव छोड़ती है। पर बावजूद इसके, संसार के उद्योग-प्रधान उन्नत राष्ट्रों में आर्थिक अपराधों की संख्या क्रमशः घटती जा रही है। इसका मुख्य कारण वहां का निरन्तर वर्धित रहन-सहन का स्तर तथा बेकारी-बीमा की सुविधाओं का होना है।

(ग) प्रलोभन

कुछ अपराधशास्त्रियों के मत में भुखमरी या निर्धनता एक समाजशास्त्रीय तथ्य है, लेकिन जो इसकी सीमा के बाहर है, उसे हम 'प्रलोभनजनित अपराध' (Covetous criminality) कह सकते हैं। अनेक विद्वान् इसे मानने से इनकार करते हैं। उनका कहना है कि इस सम्बन्ध में हमें कुछ जन्मजात मानव-प्रवृत्तिओं का सामना करना पड़ता है, जिन्हें बदलना यदि असंभव नहीं, तो बहुत कठिन अवश्य है। हमारी सम्मति में प्रलोभन स्वयं अपने आप में एक सांस्कृतिक तत्त्व है जो एक ओर समाज के आर्थिक और राजनैतिक संगठन, तथा दूसरी ओर समाज के आदर्शों, मान्यताओं और मूल्यांकन द्वारा निर्धारित होता है। वास्तव में जन्मजात प्रवृत्तियों का सिद्धान्त बड़े अंश में गलत है। विभिन्न संस्कृतियों और एक ही समुदाय में विभिन्न समयों में, जीवन के विभिन्न आदर्श और प्रेरक पाये जाते हैं। सम्पत्ति और शक्तिलोलुप वर्तमान मनुष्य के लिए अवश्य यह समझना कठिन हो गया है, कि किन्हीं समाजों में ऐसी प्रवृत्तियों का सर्वांश अभाव था और आज भी अनेक पिछड़े हुए कृषक समुदायों के अध्ययन से यह जाना जा सकता है।

किन्तु जबसे मनुष्य-जाति अमीर और गरीब में विभक्त है, जैसा कि बहुत समय से चला आ रहा है, सम्पत्ति के प्रदर्शन, आराम, आडम्बर, विलासिता ने अवश्य उससे वंचित जनसाधारण की इच्छाओं को जागृत किया है। यद्यपि ऐसी नैतिक शिक्षाओं द्वारा जैसे कि "दूसरे की सम्पत्ति छीनना पाप है", अवश्य इनके दमन में बड़ी सहायता मिली है। किन्तु नई बौद्धिक चेतना ने, समानता स्वाधीनता और भ्रातृत्व के नये आदर्शों ने, इस भावना को भी निरन्तर कमजोर बना दिया है और आश्चर्य नहीं कि कुछ समय में यह भावना सदा के लिए

समाप्त हो जाय । क्यों कुछ लोग बिना श्रम किये ही सब प्रकार के सुखों का उपभोग करें और क्यों अधिकांश लोग सदा के लिए भूखे मरें अथवा साधारण जीवन यापन करें ? क्यों न विलासिता से वंचित व्यक्ति इस विलासिता में साझीदार बनें ? यह विचार हैं, जो कि आज सामान्य जनता के मन में उठते हैं। निःसन्देह, उस पर प्रलोभनों का प्रभाव निरन्तर प्रबल होता जा रहा है । यद्यपि आज अमीरों द्वारा अपनी विलासिता का प्रदर्शन पहले की तुलना में पर्याप्त कम हो गया है, इसलिये इसे प्रलोभन के उकसाने का प्रमुख कारण मानना भूल है। वास्तव में औद्योगिक क्रान्ति-जनित समृद्धि और उसके परिणामस्वरूप सामान्य जनता के रहन-सहन के स्तर में उन्नति ने, उसकी अधिकाधिक वस्तुओं और प्रसाधनों की चाह को और भी तीव्रतर कर दिया ।

अपराध के आंकड़ों से हमें यह ज्ञात नहीं होता कि किसी अपराध के पीछे क्या मूल प्रेरणा या उद्देश्य था । फिर भी हम कह सकते हैं कि आर्थिक अपराध भुखमरी या निर्धनता और प्रलोभन के कारण या पेशेवर अपराधियों द्वारा अधिक अनुपात में किये जाते हैं । सामान्य चोरी का कारण प्रायः पहला होता है; गबन, जालसाजी अथवा धोखेबाजी का दूसरा तथा बड़ी और कुशल चोरी प्रायः पेशेवर अपराधियों द्वारा की जाती हैं । यदि हम पहले प्रकार के अपराध की दूसरे प्रकार के अपराध से तुलना करें, तो हमें ज्ञात होगा कि पहला प्रकार आर्थिक मन्दी और तेजी से प्रत्यक्ष प्रभावित है, जब कि दूसरे प्रकार के अपराधों पर उसका प्रभाव बहुत ही नगण्य है । इस युग की सामान्य प्रवृत्ति पहले का उतार तथा दूसरे का चढ़ाव है । दूसरे शब्दों में, भुखमरी और निर्धनता की कमी उन अपराधों में जिनका वह प्रत्यक्ष कारण है, कमी कर देती है, जब कि जनता में निरन्तर वर्धमान इच्छायें विशिष्ट प्रकार के अपराधों का कारण बनती हैं ।

इस समस्या के गतिशील पहलू के अतिरिक्त, उसका अगतिशील पहलू भी है । गबन, छल, कपट या चालाकी से रुपया वसूल कर लेना तथा चार सौ बीस के अन्तर्गत आनेवाले अपराध गांवों की तुलना में बड़े शहरों में अधिक होते हैं । इसका कारण है नगर में इसके अधिक प्रलोभनों और अवसरों का होना ।

(घ) व्यभिचार (Sexual Demoralisation)

व्यभिचार-सम्बन्धी अधिकांश अपराध उन व्यक्तियों द्वारा किये जाते हैं, जिनमें कि काम-वासना केवल एक शारीरिक क्रिया है । उनमें प्रेम, सहमति, भावुकता तथा कोमलता का पर्याप्त अभाव होता है जिससे वह अपनी काम-वासना को परिष्कृत और उच्चस्तर पर नहीं ले जाना जानते । वास्तव में कुछ

अल्प रोगी व्यक्तियों को छोड़कर, प्रत्येक व्यक्ति, चाहे उसमें जन्म से कामवासना का प्राबल्य ही क्यों न हो, यदि उस पर विजय नहीं पाता अथवा उसे अन्य सृजनात्मक कार्यों में नहीं मोड़ सकता, तो कम से कम उसकी एक सभ्य और सुन्दर अभिव्यक्ति अवश्य सीख सकता है।

वर्तमान समाज में अनेक व्यक्ति, विशेषकर अपनी तरुण अवस्था में, जो कि हमारे आचरण की बहुत कुछ निर्णायक है, ऐसे वातावरण में जन्मते, पलते और बड़े होते हैं जहां पर काम-भावना के परिष्कार का कोई प्रश्न ही नहीं उठता। उनके रहने की दयनीय और घृणोत्पादक अवस्था, बुरे उदाहरण तथा माता-पिताओं का भिन्न नैतिक और बौद्धिक स्तर, उन पर बुरा प्रभाव डालते हैं। ऐसी अवस्था में जब कि उनका किसी भी प्रकार के कामुक जीवन से दूर रहना आवश्यक है, उन्हें उसके बीच रहना पड़ता है। बहुत-से बच्चों को तंग और छोटे घरों में, बहुत बार ६-७ सदस्यों को एक ही कमरे में सोना पड़ता है। अनेकों के पास सोने के लिए अलग बिछौना भी नहीं होता, अनेकों को अपने माता-पिता तथा अनेक लड़के लड़कियों को साथ-साथ सोना पड़ता है। अन्त में मद्यपान का भी इसमें कुछ हाथ होता है। मद्यपान के सम्बन्ध में कुछ आलोचना आवश्यक है।

(ङ) मद्यपान

मद्यपान अपराध से तीन प्रकार से सम्बद्ध है: (१) भ्रूण (Embryo) को विकृत कर आनुवंशिकता (Heredity) पर प्रभाव डालकर, (२) मद्यपान की आदत द्वारा (३) तेज नशे द्वारा। इसमें हम पहले तथ्य की विवेचना यहां पर नहीं करेंगे।

मद्यपान की आदत. मद्यपान की आदत तथा नशे का प्रभाव कुछ विशेष अपराधों पर बहुत ही महत्त्वपूर्ण है। डी० ग्राफ हालैंड में आवारागर्दी और भिक्षा वृत्ति के लिए दण्डित व्यक्तियों का अध्ययन कर इस परिणाम पर पहुंचे कि उनमें से २६.८ प्रतिशत व्यक्ति अच्छे-खासे शराबी थे। यहां हमें यह नहीं भूलना चाहिए कि यह कार्य-कारण सम्बन्ध विपरीत भी हो सकता है, अर्थात् अपराध-वृत्ति स्वयं मद्यपान के अभ्यास का कारण हो सकती है।

इस सम्बन्ध में यह भी स्मरणीय है कि शराबी सभी प्रकार के अपराध करते हैं, जैसा कि प्राप्त आंकड़ों से प्रकट होता है।

तेज नशा. तेज नशे का आर्थिक अपराध पर बहुत ही नगण्य प्रभाव है, किन्तु यौन-अपराधों में इसका थोड़ा तथा आक्रमणात्मक अपराधों में बहुत ही महत्त्वपूर्ण प्रभाव पड़ता है। इसकी पुष्टि में प्रचुर प्रमाण भी उपलब्ध हैं।

जहां तक यौन-अपराधों का सम्बन्ध है, शराब नशे की प्रारम्भिक अवस्था में कामुकता की वृद्धि करती है तथा संयम को शिथिल करती है। हालैंड में १९०१–५ के बीच शराब के नशे में किये यौन-अपराधों की संख्या लगभग १० प्रतिशत तथा सार्वजनिक शीलाचार (Public Decency) के विरुद्ध किये अपराधों की संख्या २१ प्रतिशत थी। यह संख्या बहुत नहीं है और इसमें मद्यपान का प्रमाण गौण है। इस बात की इससे भी पुष्टि होती है कि प्रथम महायुद्ध के बाद से शराब की खपत निरन्तर कम होती रही, पर इस प्रकार के अपराध निरन्तर बढ़ते रहे।

नशा और आक्रमणात्मक अपराध. आक्रमणात्मक अपराधों तथा नशे का सम्बन्ध प्रत्यक्ष जाना जा सकता है। शारीरिक और मानसिक दृष्टि से शराब उत्तेजना की वृद्धि कर अनेक प्रकार के संघर्षों को जन्म दे, चिड़चिड़ेपन को पैदा कर आत्मसंयम को शिथिल कर देती है। अनेक देशों से प्राप्त आंकड़ों से यह स्पष्ट है। उदाहरणार्थ, १९०८ में स्वीडन में सिपाहियों पर आक्रमण के ६४ प्रतिशत, आहत करने के ७४ प्रतिशत, घरेलू शांति के भंग करने के ८५ प्रतिशत तथा हत्याओं के ८५ प्रतिशत अपराध शराब के नशे में किये गये। इससे यह स्पष्ट है कि अनेक प्रकार के अपराधों में मद्यपान का बड़ा हाथ होता है।

(च) संस्कृति का अभाव

अपराधिक हिंसा में मद्यपान का चाहे कितना भी महत्त्वपूर्ण प्रभाव हो, उसके अतिरिक्त, उसमें एक अन्य अत्यावश्यक तत्त्व भी विद्यमान रहता है, वह है परिष्कार, सुसंस्कृतता का अभाव और परिणामतः, आत्म-संयम का अभाव। पिछले पचास सालों में अधिकांश देशों में सामान्य जनता के सांस्कृतिक स्तर में पर्याप्त उन्नति हुई है, फिर भी इसमें संदेह नहीं कि जनता का एक अंश अभी भी सद्व्यवहार, सभ्यता और शिक्षा के वरदान से वंचित है। इसलिए यह कोई आश्चर्य की बात नहीं कि पिछड़े देशों, प्रांतों, जिलों, जातियों और वर्गों में अधिक संख्या में अपराध होते हैं। उदाहरणार्थ, जर्मनी में उत्तेजना में किये हुए आक्रमणों की संख्या बुद्धिजीवियों में १ लाख व्यक्तियों के पीछे केवल २५ थी, जब कि उद्योगों में काम करनेवाले मजदूरों में वह ५०० और अकुशल मजदूरों में १,६८० थी।

(छ) युद्ध

प्राचीन भारतीय साहित्य में युद्धों की बड़ी महिमा गाई गई है। युद्ध में मारे गये व्यक्ति को स्वर्ग का अधिकारी बताया गया है। इसी प्रकार अनेक

जातियों में युद्ध को एक पुनीत और सभ्यता के प्रसार का साधन समझा गया है। वर्तमान फासिस्टवाद तो इस विचारधारा का चरम उत्कर्ष कहा जा सकता है। अनेक प्राचीन और अर्वाचीन प्रसिद्ध और पूज्य महान् व्यक्तियों ने, युद्ध की प्रशंसा में चाहे कितने भी सुन्दर और उत्साहपूर्ण शब्दों का प्रयोग किया हो, युद्धों के निष्पक्ष अध्ययन से यह भलीभांति स्पष्ट हो चुका है कि इनसे हमें धन और जन की तो हानि होती ही है, किन्तु इसके अतिरिक्त, युद्धरत लोगों का भीषण नैतिक पतन हो जाता है, जिसका एक प्रत्यक्ष और घातक परिणाम समाज में अपराधों की असाधारण वृद्धि में दृष्टिगोचर होता है। युद्ध उन समस्त कारणों को उपस्थित करते हैं जो कि अपराध की ओर प्रेरित करते हैं। पुरुषों की अनुपस्थिति में परिवारिक जीवन विश्रृंखल हो जाता है। अभी तक घर के कामों में संलग्न विवाहित स्त्रियों को घर से बाहर काम पर जाना पड़ता है। बच्चों की उपेक्षा होती है। काम-सम्बन्धी पतन प्रारम्भ हो जाता है। निर्धनता और भुखमरी आ घेरती है। युद्ध के लिए उत्पादन और वस्तुओं की मांग, जनता के उपभोग के लिए प्राप्त सामग्री में भीषण कमी कर, वस्तुओं की कीमतों में असाधारण वृद्धि कर मुनाफाखोरी और चोरबाजारी की प्रवृत्ति को बढ़ावा देती है। सरकारी कर्मचारियों के हाथ में अनेक व्यापारिक अधिकार चले जाने, उनकी कृपा से असाधारण लाभ होने की संभावनाएं और सुविधा होने के कारण रिश्वतखोरी और छल-कपट खूब जोर पकड़ते हैं। सामान्य जीवन में निषिद्ध, किन्तु युद्ध में स्वीकृत और सम्मानित कत्ल, आक्रमण, विनाश सैनिकों द्वारा युद्ध के पश्चात् भी उन कृत्यों के किसी अन्य दिशा में दुहराये जाने के बीज बोते हैं।

युद्धकालीन और युद्धोत्तर कुछ योरोपीय देशों के आंकड़े हमारे कथन की प्रबल पुष्टि करते हैं। इस समय में अपराधों की बाढ़ आ गई। युद्धकाल में अधिकांश पुरुष, उस आयु में जब कि सबसे अधिक अपराध किये जाते हैं, सैनिक सेवा में थे और इसलिए सामान्य न्यायालयों के अधिकार-क्षेत्र से बाहर थे। लड़ाई के मैदान में किये गये अपराधों की संख्या तो स्वभावतः कभी भी प्रकाशित नहीं होती और साथ ही इस समय में पुलिस और न्यायालय विभाग के कमजोर पड़ जाने के कारण, अपेक्षतया कम ही अपराधी पकड़े जाते और दण्डित होते हैं। इसलिए हमें अल्पतम संख्या ही उपलब्ध होती हैं। किन्तु यह अल्पतम संख्या भी अपराधों में युद्धजनित असाधारण वृद्धि को स्पष्ट करती है। उदाहरणार्थ, किन्हीं देशों में तो युद्धकाल में चोरियों की संख्या में २१० प्रतिशत तक वृद्धि हुई।

३. भौतिक वातावरण

अतिप्राचीन काल से मनुष्य और समाज पर भौतिक वातावरण (जलवायु,

भूमि इत्यादि) के प्रभाव को लोग स्वीकार करते आ रहे हैं, विशेषकर जलवायु का मनुष्य की काम-प्रवृत्ति पर, प्रत्यक्ष प्रभाव पड़ता है। भूमि का समाज के द्वारा अप्रत्यक्ष प्रभाव पड़ता है, जिसका एक उदाहरण सिंचाई की गारंटी के लिए पूर्वीय देशों में निरंकुश शासन का जन्म है। शायद फ्रेंच लेखक मांटस्क्यू वह प्रथम व्यक्ति था जिसने कि अपराधशास्त्र के लिए जलवायु के महत्त्व को समझा था। आज इस सिद्धान्त को माननेवाले बहुत कम हैं, फिर भी यदि हम इस सिद्धान्त की अत्युक्तियां छोड़ दें, तो अभी भी यह समाजशास्त्र और मानवशास्त्र में पर्याप्त प्रमुख स्थान रखता है। अपराधशास्त्र के क्षेत्र में भी इसके कई पोषक पाए जाते हैं। जहां तक भौतिक वातावरण के अप्रत्यक्ष प्रभावों का सम्बन्ध है, जो कि समाज द्वारा प्रकट होते हैं, उनसे इनकार नहीं किया जा सकता। उदाहरणार्थ, इंग्लैंड में उद्योगवाद के जन्म में कोयले और लोहे की उपस्थिति एक बड़ा कारण थी। पर जहां तक भौतिक वातावरण का अपराध पर प्रत्यक्ष प्रभाव का प्रश्न है, वह बहुत ही कम होता जा रहा है। वैज्ञानिक प्रक्रियाओं और आविष्कारों का उदय और उन्नति इस प्रभाव को धटाने का प्रमुख कारण है।

भौतिक वातावरण का अपराध पर प्रत्यक्ष प्रभाव नहीं. हम देख चुके हैं कि अनाज की कीमतों और व्यापारिक तेजी-मन्दी के साथ अपराधों की संख्या बदलती रहती है; किन्तु अधिक और कम तापक्रम से, जब तक कि उसका अच्छी या बुरी फसल से कोई प्रत्यक्ष सम्बन्ध न हो, ऐसा कोई प्रभाव नहीं पड़ता।

इस सम्बन्ध में संकलित विभिन्न सूचनाओं से हम इस परिणाम पर पहुंचते हैं कि अपराध पर भौतिक वातावरण का प्रभाव, यदि कुछ होता भी हो, तो बहुत ही गौण है। वौन लिज्ट ने ठीक ही कहा था, "हम अब विशिष्ट जलवायु अथवा भूगर्भ की अवस्थाओं द्वारा उत्पन्न किन्हीं अपराधी वनस्पतियों अथवा जीव-जन्तुओं में विश्वास नहीं करते।"

४. प्राणिक समाजशास्त्री-व्याख्या

जन्मतः अपराधी की कल्पना के पोषक लोम्ब्रोजो के ही एक अनुयायी फैरी ने मानवशास्त्रीय और वातावरण के सिद्धान्तों के संश्लेषण और समन्वय का प्रयास किया और यह सूत्र प्रस्तुत किया, "प्रत्येक अपराध व्यक्तिगत, सामाजिक और शारीरिक तथ्यों का परिणाम है।" यहां व्यक्तिगत तथ्यों का अर्थ वही है जो कि लोम्ब्रोजो ने लगाया था।

समालोचना

केवल अपराध तक सीमित नहीं. यह सूत्र—प्रत्येक अपराध=व्यक्ति+वातावरण, किसी भी अपराध पर लागू हो सकता है। यह केवल अपराधी कार्यों पर ही नहीं, सभी प्रकार के मानवीय कार्यों पर लागू होता है। किन्तु इस सूत्र की समालोचना करने से पहले, यह समझ लेना आवश्यक है कि अपराध करते समय व्यक्तिगत तथ्य में दो उप-तथ्यों का समावेश होता है। एक तो वह परिस्थितियां जिन्होंने जन्म से लेकर अपराध करने तक व्यक्ति को प्रभावित किया है; दूसरे उसकी व्यक्तिगत प्रवृत्तियां (propensities)। यहां यह दुहराने की आवश्यकता नहीं कि अपराध में वातावरण का तथ्य अत्यधिक महत्त्वपूर्ण है, अतः फैरी के सूत्र में निम्न संशोधन की आवश्यकता है—प्रत्येक अपराध=(वातावरण+प्रवृत्तियां)+ वातावरण। वातावरण का सदैव ही मनुष्य पर दोहरा असर पड़ता है। इस सीमित अर्थ में फैरी का सूत्र सही है।

समान वातावरण की कल्पना भ्रांत. दो व्यक्ति एक ही वातावरण में रहते हैं, उनमें से एक अपराधी बनता है दूसरा नहीं, इसे कैसे समझाया जाय? वास्तव में कोई भी दो व्यक्ति कभी एक वातावरण में नहीं रहते। तनिक सा भी अन्तर उनके भावी जीवन में बहुत बड़ा अन्तर उत्पन्न कर देता है।

अपराध शारीरिक या मानसिक विकार का परिणाम नहीं. दूसरा प्रश्न उठता है कि यह व्यक्तिगत तथ्य क्या है? फैरी इसे शारीरिक विकार का परिणाम मानता है, जब कि हम देखते हैं कि अधिकांश अपराधी शारीरिक और मानसिक दृष्टि से पर्याप्त स्वस्थ होते हैं। इसका समाधान पर्याप्त सरल है।

एक उदाहरण. हम मान लेते हैं कि दो व्यक्ति हूबहू एक से वातावरण में रहते और रह चुके हैं, दोनों को ही कोई भी अपराध करने की समान सुविधा है और दोनों को ही इसमें किसी प्रकार की नैतिक आपत्ति नहीं है। निर्णयात्मक क्षण पर एक को कार्य करने का साहस है, दूसरा डर कर हट जाता है। अतः हम कह सकते हैं कि साहस अपराध का कारण और कायरता अच्छाई का कारण है। प्रायः ऐसा ही होता है, या ऐसा भी हो सकता है कि उनमें से एक अधिक बुद्धिमान् है और पकड़े जाने के खतरे से परिचित होने के कारण ऐसा नहीं करता, और मूर्ख के लिए उसे छोड़ देता है। इस प्रकार चतुराई अच्छाई और मूर्खता अपराध का कारण बनी। किन्तु प्रायः इससे विपरीत भी पाया जाता है। बहुत से अपराध बिना असाधारण कौशल, प्रतिभा और बुद्धिमत्ता के असंभव हैं। वास्तव में जिसे तनिक भी अपराधियों के सम्पर्क में आने का अवसर मिला है, वह जानता है कि वह मूर्ख नहीं होते।

समस्त मानव-गुण अपराध के प्रेरक और निवारक. दूसरे शब्दों में हम कह सकते हैं, कि समस्त प्रकार के संभव सामान्य मानवीय गुण मनुष्य को अपराध करने अथवा उससे बचने के लिए प्रेरित कर सकते हैं । यह बहुधा परिस्थितियों पर निर्भर करता है । यहां तक कि नैतिकता की भावना की कमी, जिसे कि अपराध का एक प्रबल प्रेरक माना जा सकता है, कोई कारण नहीं कि अनिवार्यत: अपराध में ही घटित हो । एक दुराचारी एक विशिष्ट सीमा में, जो कि कानून का उल्लंघन नहीं करती, जीवन में खूब सफलता प्राप्त कर सकता है । अवश्य ही कुछ अपराधी एक बहुत ही खतरनाक वर्ग के सदस्य होते हैं, किन्तु कौन इससे इनकार कर सकता है कि काननी अर्थों में न सही, पर नैतिक दृष्टि में अवश्य, हमें एक से एक धूर्त निरपराधी नहीं मिलते ? जीवन का सामान्य अनुभव ही हमें यह बताने के लिए पर्याप्त है ।

जन्मजात गुण अपराध से असंबद्ध. अत: फैरी के प्रसिद्ध प्रश्न कि 'एक ही परिस्थिति में पोषित दो व्यक्तियों में से एक क्यों अपराधी और दूसरा क्यों अपराधी नहीं बन सकता ?' का उत्तर हम निम्न शब्दों में दे सकते हैं—"क्योंकि एक व्यक्ति में दूसरे व्यक्ति की तुलना में एक मानवीय गुण अधिक मात्रा में है जिसका अपने आपमें कोई महत्त्व नहीं है, अथवा उसमें कोई भी गुण नहीं है, जिससे वह अपराध करे।" मैनूवीरियर ने इसी तथ्य को इस प्रकार व्यक्त किया है, "सब बातें समान रहते हुए भी कुछ व्यक्ति अन्य व्यक्तियों की तुलना में अपराध की ओर अधिक अग्रसर होते हैं, जैसे कि स्त्रियों की तुलना में पुरुष अपराध की ओर अधिक प्रवृत्त होते हैं । वह आदमी जो कि अधिक हृष्ट-पुष्ट और साहसी है, दुर्बल और डरपोक आदमी की तुलना में हिंसात्मक अपराध की ओर अधिक प्रवृत्त होगा । यद्यपि समग्र रूप से प्रत्येक प्रकार की शारीरिक बनावटवाला व्यक्ति अपने उपयुक्त कोई न कोई अपराध पा ही जाता है, चाहे वह आग लगाना ही क्यों न हो। स्वस्थ आक्रमण की ओर, बहुत बोलनेवाला ठगी की ओर अधिक अग्रसर होगा । पर इस कारण से हम शक्ति, वाक्पटुता, साहस, फुर्ती और चातुर्य को अपराधी गुण करार नहीं दे सकते।" दूसरे शब्दों में हम कह सकते हैं कि विभिन्न व्यक्तियों में अपराध-प्रवृत्ति का पर्याप्त अन्तर पाया जाता है । संक्षेप में हम इतना ही कह सकते हैं कि जन्मजात गुण, एकांतत: रोगी व्यक्तियों को छोड़कर, अपराध की ओर अग्रसर नहीं करते ।

५. अध्यात्मवादी व्याख्या

अपराधशास्त्रियों में एक ऐसा भी वर्ग है जो कि धार्मिकता के अभाव में अपराध के कारणों की खोज करता है । जर्मन लेखक क्रॉस के शब्दों में, "ईश्वर

से निरन्तर बढ़ती हुई विमुखता, जो कि जनता के अधिकाधिक विस्तृत क्षेत्र में फैल रही है और सामान्यतः जीवन और संसार के प्रति इससे उत्पन्न विचार वह जमीन है जिस पर कलंक और अपराध खूब फलते-फूलते हैं। सच्ची नैतिकता बिना धर्म के संभव नहीं है।"

समालोचना

उपर्युक्त मत की पुष्टि में हमें कोई प्रमाण नहीं मिलता। केवल यह एक युक्ति दी जाती है—अपराध बढ़ रहा है, अधार्मिकता भी बढ़ रही है। अतः इनका कार्य-कारण का सम्बन्ध है।

अधार्मिकता और अपराध में कार्य-कारण का संबंध नहीं. इस सम्बन्ध में इतना कहना पर्याप्त है, यदि यह भी मान लिया जाये कि अपराध और अधार्मिकता दोनों ही बढ़ रहे हैं, तो दोनों के बीच अनिवार्य अन्तःसम्बन्ध स्थापित नहीं किया जा सकता। हो सकता है कि यह दोनों ही किसी तीसरे कारण पर निर्भर हों। यदि हम ऐसा अनिवार्य सम्बन्ध दर्शाना चाहते हैं, तो हमें मनोवैज्ञानिक दृष्टि से इसकी उस भांति व्याख्या करनी होगी, जिस भांति कि शराबखोरी के ह्रास द्वारा हम आक्रमणात्मक अपराध के ह्रास को दर्शाते हैं। किन्तु अपराध और धर्म के बीच ऐसा कोई स्पष्ट सम्बन्ध नहीं है, जैसा कि उसके समर्थक समझते हैं।

अधार्मिकता अपराध का कारण नहीं. अब हम जरा कुछ ऐतिहासिक उदाहरणों पर गौर करें। उन्नीसवीं सदी के प्रारम्भ में हम इंग्लैण्ड में अपराधों की असाधारण वृद्धि देखते हैं, किन्तु उस समय वहां अधार्मिकता अथवा नास्तिकता के विस्तृत प्रसार का कोई प्रमाण नहीं मिलता। वस्तुतः इस सिद्धान्त को हम बिल्कुल विपरीत व्यक्त कर सकते हैं। जब उन्नीसवीं सदी के अन्त और बीसवीं सदी के प्रारम्भ में अधार्मिकता एक सार्वजनिक तथ्य बन गई, तब अपराध वास्तव में घट गये। इस सम्बन्ध में कुछ संकलित आंकड़े द्रष्टव्य हैं। फैरी को ७०० हत्यारों में से केवल एक नास्तिक मिला। हैवलाक ऐलिस के अनुसार स्वाधीन विचारक बिरले ही जेलों में पाये जाते हैं। अंग्रेज पादरी हार्सिले के अनुसार २८,३५१ अपराधियों में से मुश्किल से ५७ नास्तिक थे। जोली ने बताया है कि पेरिस में तीस साल की अवधि में फांसी चढ़ाये कैदियों में से केवल एक ने धार्मिक अनुष्ठान करवाने से इनकार किया। सर्वत्र ही अधार्मिक अपराधी बिरले होते हैं। भारत में यह तथ्य अपरिचित नहीं है। इसलिए यह कहना कि धार्मिकता का अभाव अपराध को जन्म देता है, ठीक नहीं है।

अधार्मिकों में कम अपराध. ऊपर हम यह बता चुके हैं कि अपराधियों में अधिक अनुपात धार्मिक लोगों का पाया जाता है। इससे यह प्रश्न उठना स्वाभाविक है कि अधार्मिक व्यक्ति धार्मिक व्यक्तियों की तुलना में क्यों कम अपराध करते हैं ?

इसके प्रमुख कारण सामाजिक प्रकार के हैं और उनका ईश्वर में विश्वास या अविश्वास से कोई सम्बन्ध नहीं है। अधार्मिक व्यक्ति प्रायः बड़े नगरों के रहनेवाले होते हैं। वह बौद्धिक और विशेष योग्यता प्राप्त वर्ग में से आते हैं। अधिक सम्पन्न, शिक्षित और सुसंस्कृत होने के कारण, वह आसानी से अपराध की ओर प्रवृत्त नहीं होते। इसके अतिरिक्त, उन्हें अपने पर अधिक नियंत्रण होता है।

जब एक व्यक्ति धार्मिक वातावरण में रहने के बावजूद भी, अधार्मिक बनता है यह उसके उच्च चरित्र का परिचायक है। किसी भी परम्परा का उल्लंघन, विशेषतः जब कि वह शक्ति के विस्तृत साधनों से संरक्षित हो, एक विशिष्ट दृढ़ता का द्योतक है। धार्मिक व्यक्तियों को प्रायः ऐसे अधार्मिक नास्तिक लोगों के सम्पर्क में आकर अवश्य आश्चर्य होता है, जिनका कि चरित्र आदर्श होता है। वास्तव में चरित्र का सम्बन्ध अधर्म से भी कुछ नहीं है। विभिन्न परिस्थितियों में यह चीज परिवर्तित होती रहती है।

धर्म-नैतिकता पर्याय नहीं. अधर्म अपराध को अग्रसर करता है, इस सिद्धान्त की मुख्य भ्रान्ति यह है कि बिना धर्म के नैतिकता संभव नहीं है। मानव-शास्त्र और मनोविज्ञान हमें दूसरी ही बात बताते हैं। वास्तव में मानव-मन में नैतिकता धर्म से कहीं गहरी बैठी हुई है, इसलिए वह उस पर निर्भर नहीं है। परिणामतः, बिना धर्म के नैतिकता संभव है और बिना नैतिकता के धर्म।

उपर्युक्त भूल का मूल कारण सारे इतिहास में धर्म और नैतिकता का घनिष्ठ सम्बन्ध है, जिससे वह दोनों अभिन्न प्रतीत होते हैं। वास्तव में नैतिक आदेश का मूल सामाजिक और ऐहिक है उसमें कोई दैवी चीज नहीं है। उदाहरणार्थ, जिन्हें हम हिन्दू या मुस्लिम धर्म की विशेषताएं मानते हैं, वह उन देशों में भी जहां उनका नाम नहीं मिलता, विद्यमान हैं।

विशुद्ध नैतिकता दंड के भय से मुक्त. तो इस सम्बन्ध में धर्म ने क्या काम किया है ? संक्षेप में इसने मानवीय दण्डों के अतिरिक्त, परलोक और इहलोक में दैवी दण्डों की और वृद्धि कर दी है। समस्त दण्डों का, जिसमें दैवी दण्डों का भी समावेश है, उद्देश्य, स्वार्थवश नैतिक आचरण करने की प्रेरणा है। इसलिए

यह दैवी या धार्मिक नैतिकता भी भय और प्रलोभन पर आधारित है। पर विशुद्ध नैतिक आचरण और कर्म पर दण्ड के भय या पुरस्कार की प्राप्ति का कोई प्रभाव नहीं पड़ता ।

कोई कह सकता है कि लाखों ऐसे व्यक्ति हैं जो कि धार्मिक हैं और नैतिक भी । कोई इस तथ्य से इनकार नहीं कर सकता, किन्तु इससे हम यह नहीं कह सकते कि इनमें कोई कार्य-कारण का सम्बन्ध है । इसके अतिरिक्त, हमारे पास कोई प्रमाण नहीं है जिससे हम कह सकें कि प्रबल धार्मिक प्रवृत्ति के व्यक्तियों में कोई प्रबल नैतिक प्रवृत्ति दिखाई देती है । अध्यात्मवादी व्याख्या के सम्बन्ध में हम अधिक से अधिक यह ही कह सकते हैं कि अपराध में धर्म एक तटस्थ तथ्य है ।

अपराध के कारणों की विभिन्न प्रमुख व्याख्याओं की विवेचना के पश्चात्, संक्षेप में अपराध और दण्ड के इतिहास पर एक दृष्टि डालना उपयोगी होगा ।

अपराध और दण्ड का इतिहास

समाज में कानून की आवश्यकता. प्रत्येक समाज में उसके तत्कालीन विश्वास, धर्म, धारणा और अवस्था के अनुसार कुछ ऐसे सर्वमान्य नियम होते हैं जिनका उल्लंघन अपराध माना जाता है। किसी भी अच्छे से अच्छे समाज में कभी न कभी ऐसे अवसर अवश्य आते हैं, जब कि कोई व्यक्ति उन नियमों का आवेश में अथवा जान-बूझकर उल्लंघन कर ही बैठता है । ऐसी स्थिति में दण्ड की आवश्यकता अनुभव होती है । प्राचीन काल में कानून का प्रमुख रूप परम्परा या परिपाटी थी । आदिकालीन समाज में सीमित विनिमय और सीमित सम्पत्ति के कारण दीवानी कानून का अभाव था । किन्तु आपस में मारपीट, खून-खराबी की संभावनाएं तो वहां भी विद्यमान थीं। अतः फौजदारी कानून की शुरू से ही जरूरत थी । उस समय केवल व्यक्ति ही अभियोगी पक्ष था । आज राज्य भी अभियोगी पक्ष है ।

आदिकालीन दण्ड व्यवस्था. आदिकालीन समाज में कुल युद्ध (Blood feud) झगड़े निपटाने का एक साधन थे । जब यह दो कबीले के बीच होते थे तो युद्ध का रूप धारण कर लेते थे। बाद में यह तरीका अनुपयुक्त पाया गया और परिणामतः, हानि पहुंचानेवाले पक्ष द्वारा हानि उठानेवाले पक्ष की क्षतिपूर्ति की पद्धति निकली । इसके लिए विभिन्न समाजों में विभिन्न अपराधों के लिए विभिन्न हरजान तथा जुरमाने देने की व्यवस्था की गई । चुकची कबीले में हत्या को छोड़, अन्य साधारण क्षति के लिए हरजाना

लेने की प्रथा है। बहुत-से स्थानों में सार्वजनिक सुरक्षा के उद्देश्य से अपराधों को निपटाने की व्यवस्था है। एक हत्यारा दिवंगत व्यक्ति के परिवार के व्यक्तियों को सहभोज और अन्य वस्तुएं दे अपने अपराध का प्रायश्चित्त कर सकता है। समोआ में भी ऐसी ही व्यवस्था है। एक हत्यारा अथवा व्यभिचारी हानिप्राप्त पक्ष से दया की भिक्षा की याचना कर उनके लिए लकड़ी, पत्ते और पत्थर लाता है, जो इस बात का संकेत है कि वह उसे मार, पका और खा सकते हैं। इससे आहत पक्ष को मनाने में देरी नहीं लगती। आदिकालीन समाजों में दिव्यी परीक्षाएं (Ordeals) और शपथ न्याय के मुख्य साधन हैं। लोई ने अपनी पुस्तक आदिसमाज में दो प्रचलित विधियों का वर्णन किया है। एक प्रकार के अभियोग में दोनों पक्षों को अपने मुंह में चाकू रख सूरज की ओर मुंह उठा, उसकी साक्षी दे तथा झूठ बोलने पर मृत्यु का आवाहन कर शपथ लेनी पड़ती है। एक अन्य अभियोग में एक भैंस के सूखे कपाल पर तीर से छेद कर एक मांस का टुकड़ा रख दिया जाता है और दो पक्षों को उसे उठाकर चखना होता है तथा झूठ बोलने के लिए मृत्यु का आवाहन करना पड़ता है। इस प्रकार जब अपराध का निर्णय नहीं होता था, तो यदि कुछ ही समय पश्चात् किसी पक्ष पर कोई विपदा पड़ती थी, तो यह समझा जाता कि वह दोषी था।

इसके अतिरिक्त, जब किसी व्यक्ति को दण्डित किया जाता था, तो उसके साथ अनेक यज्ञ-याज्ञ धार्मिक क्रिया-कर्म किये जाते थे। उनसे यह प्रदर्शित किया जाता था कि व्यक्ति को दैवी नियम भंग करने के अपराध में दण्डित किया गया है।

आरण्यक (Savage) के लिए परम्परा पवित्र है। और इसीलिए प्रायः सभी प्रारम्भिक नियमों में निषेध (Taboos) हैं। मैलनोवस्की ने अपनी पुस्तक 'आरण्यक समाज में अपराध और प्रथा' में यह प्रदर्शित किया है कि आरण्यक सदैव ही उनका अन्धपालन नहीं करते। प्रथा के अतिरिक्त, जीवन, सम्पत्ति और व्यक्तित्व की सुरक्षा के लिए कुछ ऐसे बुनियादी नियम होते हैं जिन्हें कि हम अपराधी कानून कह सकते हैं। कुछ अंशों में आदि समाज में दण्ड और जादू कानून के संरक्षक कहे जा सकते हैं। वास्तव में अपराधी कानून को नाराज और आहत कबीला कार्यान्वित करता है। दीवानी कानून के उल्लंघन के लिए कोई दण्ड नहीं होता, उसे केवल एक पक्ष के लिए अधिकार तथा दूसरे पक्ष के लिए कर्त्तव्य माना जाता है।

आदिकालीन समाज के अपराधों को हम तीन मुख्य वर्गों में बांट सकते हैं—(१) समुदाय के टैबुओं—निषेधों या प्रथाओं का उल्लंघन, (२) परिवार समूह

के प्रति अपराध, (३) एक कबीले द्वारा दूसरे कबीले पर आघात। बर्हिविवाह नियमों का उल्लंघन, विद्रोह, कायरता प्रथम प्रकार के, परस्त्री-गमन, पितृ-हत्या दूसरे प्रकार के तथा आज के अधिकांश अपराध चोरी, हत्या, निन्दा तीसरी प्रकार के अपराध के उदाहरण हैं।

आदिकालीन दण्ड का प्रधान रूप शारीरिक यन्त्रणा अथवा किसी प्रकार का बहिष्कार होता था। "आंख के लिए आंख, दांत के लिए दांत", शारीरिक दण्ड का सिद्धान्त था; यद्यपि कुछ अवस्थाओं में आहत पक्ष को हरजाना देने की भी व्यवस्था थी।

राज्य-संस्था के विकास के साथ राज्य के विरुद्ध अपराधों का भी जन्म हुआ तथा दण्ड देने की शक्ति राज्य में निहित हो गई तथा निश्चित कानून बने जिसमें कि प्रथाओं का भी समावेश किया गया। अपराध केवल आहत व्यक्ति के विरुद्ध न होकर, अंशतः राज्य के विरुद्ध समझा जाने लगा।

मध्यकालीन व्यवस्था. मध्यकाल की दण्ड-व्यवस्था भी प्रतिशोध और दमन के सिद्धान्तों पर आधारित थी। रैक और ह्वील जैसे यन्त्रों द्वारा यंत्रणा और वध, जिन्दा जलाना, तेल में उबालना, कोड़े लगाना, अंग-भंग करना, दागना, पैरों और गले में बेड़ियां डालना, तहखानों और गन्दी तनहाियों में रखना, पिलोरी, गैली, कोल्हुओं में जोतना, इत्यादि अमानुषिक साधनों का दण्ड देने में प्रयोग किया जाता था। सामान्य चोरियों और डकैतियों तक के लिये अंग-भंग और मृत्यु-दण्ड की व्यवस्था थी। पिछली शताब्दी के प्रारम्भ तक आज के सभ्य कहलानेवाले देशों में यह अमानुषिक दण्ड चलते रहे।

आधुनिक प्रवृत्तियां. समाजवादी और जनतन्त्री विचारधाराओं के उदय ने पहली बार हमारा ध्यान दण्ड के इन जंगली, हानिप्रद और निरर्थक उपायों की ओर खींचा और उनके विरुद्ध एक प्रबल आन्दोलन प्रारम्भ हुआ। १७९० में मनुष्य के अधिकारों की घोषणा इस दिशा में एक महत्त्वपूर्ण घटना थी। पिछली शताब्दी के मध्य से योरोप और अमरीका के जेल-कर्मचारियों के विभिन्न सम्मेलन हुए। १८७२ में जेल-सुधार के लिए फ्रैंकफुर्ट में प्रथम अन्तर्राष्ट्रीय कांग्रेस हुई, जिसमें पहली बार दण्ड के मानवीय पक्ष पर ध्यान दिया गया तथा अपराधी का दमन करने के बजाय उसे सुधारने पर बल दिया गया। यह अन्तर्राष्ट्रीय कांग्रेस जेल-सुधार की दिशा में एक महत्त्वपूर्ण घटना थी। विभिन्न देशों में विभिन्न सुधारकों के प्रयत्नों के परिणामस्वरूप पुरानी दण्ड-व्यवस्था में क्रमशः अल्पाधिक सुधार प्रारम्भ हुए। यह सुधार के प्रयत्न आज भी जारी हैं। अभी भी हमारी दण्ड-व्यवस्था में पर्याप्त कमियां विद्यमान हैं, फिर भी निर्विवाद रूप से पुरानी

जंगली दण्ड-व्यवस्था की तुलना में यह कहीं अधिक सभ्य और श्रेष्ठ है।

इसके अतिरिक्त, प्राचीन या मध्यकालीन तथा आधुनिक दण्ड-व्यवस्था में एक बड़ा मौलिक अन्तर है। पहली अंधविश्वास, धर्म और प्रथाओं पर आश्रित थी, जब कि दूसरी का रुख विज्ञान, अन्वेषण और सुधार की ओर है।

भारतीय दण्ड और कानून का इतिहास

प्राचीन काल में भारतवर्ष में अपराध, कानून और दण्ड का क्या रूप था, इसका ठीक-ठीक निर्णय पर्याप्त कठिन कार्य है। फिर भी प्राचीन साहित्य से उस पर जो प्रकाश पड़ता है, उससे हमें उसकी एक झांकी भर मिल जाती है।

गुप्त-काल में अपराधियों को दण्ड देना राजा का प्रमुख कर्त्तव्य था। अपराध के अनुपात में दण्ड देने की व्यवस्था थी। न्यायाधीश और पूर्व उदाहरण और प्रथाएं ही कानून का मुख्य स्रोत थीं। चोरी-डकैती पर्याप्त प्रचलित थी। अपराध स्वीकार कराने के लिए तरह-तरह की यन्त्रणाएं दी जाती थीं। बौद्ध काल से पहले, विभिन्न प्रकार की परीक्षाओं द्वारा अपराध जानने का शायद रिवाज नहीं था। स्त्रियों के सतीत्व की परीक्षा के लिए अवश्य अग्नि-परीक्षा का निर्देश मिलता है। सामान्य अपराधों के लिए विभिन्न जुर्मानों की व्यवस्था थी। स्त्रियों के लिए परपुरुष-गमन के लिए बड़ा कठोर दण्ड था। इसके लिए मृत्यु-दण्ड तथा अंग-विच्छेद तक की व्यवस्था थी। जुर्माने, कोड़े, कारावास, अंग-विच्छेद, सम्पत्ति का अपहरण तथा देशनिकाला दण्ड के प्रमुख प्रकार थे।

मनु, जिन्होंने मनुस्मृति की रचना की, हमारे यहां सर्वप्रथम कानून निर्माता कहे जा सकते हैं। मनुस्मृति में ऋणमोचन, जमा और वचन, बिक्री, साझेदारी, दान की रोक, पुनःप्राप्ति, मजदूरी का न देना, इकरार का भंग, क्रय-विक्रय का भंग, पशुओं तथा सीमा सम्बन्धी झगड़े, आक्रमण, मानहानि, चोरी, डकैती, व्यभिचार, पति-पत्नी के कर्त्तव्य, जुआ और बोली लगाना, अठारह प्रकार के अपराध गिनाए हैं। अपराध के पता लगाने में विभिन्न प्रकार की परीक्षाओं का भी प्रयोग किया जाता था, अग्नि, जल, तुला, गंगाजल, हल, धर्म, चावल, गर्म सोने की शलाका तथा विष इसके साधन थे। इसके अतिरिक्त, ब्राह्मण तथा अन्य जातियों को दण्ड देने के सम्बन्ध में अत्यन्त भेद-भाव स्वीकृत था। जहां शूद्रों को साधारण से अपराधों के लिए प्राणदण्ड, वहां एक ब्राह्मण को बड़े से बड़े अपराध के लिए केवल देश निर्वासन दिया जा सकता था।

मुस्लिम राज्यों के समय में हमारे यहां कुरान के कानून को व्यवहार में लाया गया। मराठा लोगों की न्याय-व्यवस्था पर्याप्त सरल थी। प्राण-दण्ड

प्रायः अज्ञात था। पर चोरों और डाकुओं के हाथ-पैर काट दिये जाते थे। इस प्रकार अंग्रेजों के आने से पहले मुस्लिम राज्यों में कुरान तथा हिन्दू राज्यों में हिन्दू कानून के अनुसार दण्ड-व्यवस्था थी।

१९वीं सदी में हमारे यहां अंग्रेजी कानून का आगमन हुआ तथा उसकी शैली पर, हमारे यहां १८६० में भारतीय दण्ड-विधान पास किया गया।

अपराध की हानियों, सामान्य कारणों और उसके निवारण के उपायों की संक्षिप्त विवेचना करने के पश्चात् हम भारत में अपराध और उसके निवारण के सम्बन्ध में अधिक अधिकार, योग्यता और बुद्धिमत्ता से विचार कर सकते हैं। आगे हम संक्षेप में भारत में होनेवाले अपराधों के कुछ विशिष्ट कारणों तथा कुछ ऐसे सामाजिक और आर्थिक तथा अन्य पहलुओं, अर्थात् उन सांस्कृतिक पहलुओं पर प्रकाश डालेंगे, जो कि इस देश में विभिन्न प्रकार के अपराधों को विशेष रूप से प्रभावित करते हैं।

भारत में अपराध पर विशिष्ट सांस्कृतिक प्रभाव

१. सामाजिक अवस्था का प्रभाव

प्रत्येक देश में विशेष सामाजिक अवस्था और परिस्थितियां, जिन्हें कि दूर किया जा सकता है, अधिकांश अपराधों के लिए उत्तरदायी होती हैं। सामाजिक वातावरण का मनुष्य के आचरण पर प्रबल प्रभाव पड़ता है। भारत में अति प्राचीन काल से परिवार समस्त गुणों और कार्यों का केन्द्र रहा है। भारतीय परिवार की एक सामान्य विशेषता, जो कि यद्यपि आधुनिक काल में क्रमशः नष्ट होती जा रही है, संयुक्त परिवार है। भारतीय परिवार सामाजिक भावनाओं के सृजन और नियंत्रण का एक महत्त्वपूर्ण साधन रहा है। यह केवल सामाजिक गुणों और स्नेह सम्बन्धों का ही संरक्षक नहीं रहा, अपितु यौन-सम्बन्धों और नैतिकता के सम्बन्ध में तो, इसका शब्द ही कानून रहा है। इस भांति एक मजदूर एक उद्योगी नगर में अपने परिवार से उच्छिन्न हो, अथवा एक गन्दी मजदूर बस्ती में जन्मा बालक, जिसका अधिकांश समय गलियों और सड़कों पर बीतता है, समाज-विरोधी तत्त्वों के प्रभाव में आता है। पाश्चात्य देशों में यह समस्या इतनी विकट नहीं है। पर इस सम्बन्ध में एक तथ्य द्रष्टव्य है कि जहां एक ओर पारिवारिक बन्धनों की शिथिलता अपराध और दुराचार का कारण है, वहां दूसरी ओर संयुक्त परिवार संस्था में स्वयं कुछ ऐसे तत्त्व विद्यमान है, जो कि अपराध की प्रवृत्ति को बढ़ावा देते हैं। संयुक्त परिवार पारस्परिक सहिष्णुता और बलिदान के आदर्श पर टिका हुआ है, किन्तु व्यवहार में इसे

चरितार्थ करना बहुत कठिन हो गया है, विशेषकर आधुनिक व्यक्तिवादी विचार-धारा उसे नष्ट करने में अपना योग दे रही है। इसके अतिरिक्त, पति और पत्नी की आयु में अत्यधिक अन्तर, सास-ससुर का अल्पायु बहू के साथ रहना क्रूरता और शोषण की संभावनाएं प्रदान करता है। बालविवाह की प्रथा इसकी वृद्धि में सहायक है। अल्पायु बहुओं पर अत्याचार के अभियोग प्रायः अदालतों में आते रहते हैं। पर ऐसे कुल अपराधों की संख्या में से अदालतों में आनेवाले मामलों की संख्या बहुत ही नगण्य होती है। अधिकांश स्त्रियों को असहाय हो समस्त अत्याचार सहन करने पड़ते हैं। इसी प्रकार, विधवा-विवाह का निषेध प्रायः अवैध यौन-सम्बन्धों को जन्म देता है और यदि इस प्रकार कभी कोई संतान हो जाये, तो सामाजिक अपमान के भय से उसे नष्ट करने का पूरा प्रयत्न किया जाता है। अवैधता और शिशुहत्या की घटनाओं की कमी नहीं है। यदि विधवाओं को पुनर्विवाह की अनुमति होती, तो यह अपराध न हो पाते।

लड़कियों के विवाह में दहेज देने की प्रथा और उसके परिणामस्वरूप कर्जदार और दिवालिया होने की स्थिति, भारत में अपराधों का एक अन्य कारण है। लड़कियों का जवान होने से पहले ब्याहना एक सामाजिक और धार्मिक दायित्व है। दहेज-प्रथा हर साल अनेक लड़कियों और माता-पिताओं की आत्म-हत्या का कारण बनती है। यह संतोष का विषय है कि समाज-सुधारकों के प्रयास से यह कुप्रथा अब कुछ कम होती जा रही है।

उपर्युक्त उदाहरण परिवार में विषमता, अस्थिरता और असंतुलन के उदाहरण हैं; जिनका कारण कि सामाजिक रिवाज हैं। विषमता का एक अन्य गंभीर कारण उद्योगीकरण तथा पाश्चात्य विचारों के प्रभावों से उत्पन्न व्यक्तिवादी विचारधारा है। आधुनिक उद्योगवाद विद्यमान पारिवारिक जीवन को विशृंखल कर रहा है। घर से बाहर कारखानों में स्त्रियों का काम करना, उच्छृंखलता और व्यभिचार की सृष्टि करता है। बंबई, कलकत्ता, कानपुर जैसे उद्योग-केन्द्रों में मजदूरों का कोई स्वस्थ पारिवारिक जीवन नहीं है। इसके अभाव में वह व्यभि-चार और मद्यपान का सहारा लेते हैं। दोनों ही प्रवृत्तियां उन्हें अपराध की ओर अग्रसर करती हैं। इसके अतिरिक्त मजदूर-बस्तियों में छोटे घरों में अत्यधिक घिचपिच और गन्दगी, निर्धनता के कारण बच्चों का दिन भर आवारागर्दी करना और पैतृक नियन्त्रण का अभाव, सभी अपराध की वृद्धि में अपना योग देते हैं। इस प्रकार जहां उद्योगीकरण ने घर और पारिवारिक जीवन को नष्ट कर अपराधों की वृद्धि की, वहां दूसरी ओर उसने व्यभिचार-वृद्धि को प्रोत्साहित किया है। हमारे औद्योगिक नगरों में पुरुषों की तुलना में स्त्रियों की संख्या बहुत

ही कम है। इनका अनुपात प्रायः २:१ है। यौन-सम्बन्धों की शिथिलता तथा स्त्रियों का अनैतिक व्यापार इसका अनिवार्य परिणाम है।

कारखाने के मजदूरों को अपनी मजदूरी हर शनिवार को मिलती है। उस दिन प्रायः वह शराब पीते हैं और उनका अगला दिन हुड़दंग, मारपीट और गालीगलौज में बीतता है। शराब के नशे में नैतिक बंधन भी आसानी से टूट जाते हैं और यौन-सम्बन्धी अपराध अधिक संख्या में किये जाते हैं। मद्यपान हमारे बड़े नगरों की एक गंभीर समस्या बन गई है।

इससे यह स्पष्ट है कि व्यक्ति अपने वातावरण से अपने को संतुलित न कर पाने के कारण अपराध की ओर अग्रसर होते हैं। कहीं भी आज भारत में अपराध इतना प्रबल नहीं है जितना कि बड़े नगरों में। नगरों में, जहां कि परिवार जाति और पंचायत का कोई नियंत्रण नहीं रहता, रात के जुये और व्यभिचार के अड्डे, शराब और अफीम की दूकानें तथा वेश्यालय अपराध के लिए प्रलोभन जागृत करते हैं। इसलिए कोई आश्चर्य नहीं कि गांव से आया व्यक्ति अपने ग्राम्य वातावरण की तुलना में नगर में अधिक अपराध करने की संभावना रखता है।

आर्थिक अवस्था का प्रभाव

भारतवर्ष में आर्थिक अवस्था अपराध पर असाधारण प्रभाव डालती है। अन्य देशों की तुलना में यहां पर सम्पत्ति के विरुद्ध अपराध मौसम से घनिष्ठतया सम्बन्धित हैं। बुरी फसल अपराधियों की संख्या में तत्काल वृद्धि कर देती है और अच्छी फसल पर्याप्त कमी। यह कहना ठीक होगा कि भारतवर्ष में अपराध के थर्मामीटर का पारा अपनी फसलों के साथ ऊपर या नीचे जाता है। यहां एक बात और भी स्मरणीय है कि साधारण सालों में भी, अप्रैल के अन्त से वर्षा ऋतु के प्रारम्भ होने तक, सदैव ही डकैतियों की संख्या बढ़ जाती है। जून में प्रायः यह संख्या सबसे ऊंची रहती है और जैसे ही मानसून आया कि उनकी संख्या में कमी होने लगती है। डॉ० हैकरवाल ने १९१७ से १९२७ के आंकड़ों की सहायता लेकर इस तथ्य को भलीभांति प्रदर्शित किया है कि किस प्रकार विभिन्न प्रांतों में फसल और मौसम तथा तज्जनित अनाज की कीमतों के उतार-चढ़ाव के साथ अपराधों की संख्या में उतार-चढ़ाव होता रहा। विभिन्न सालों में फसलों और अपराध की विवेचना से यह स्पष्ट है कि अपराधों की वृद्धि और ह्रास में फसलों का बड़ा महत्त्वपूर्ण हाथ है। भारतवर्ष एक कृषि-प्रधान देश, है और यहां की ७० प्रतिशत जनता प्रत्यक्ष या अप्रत्यक्ष रूप से कृषि पर ही निर्भर

है। इनमें से अधिकांश जनता बहुत ही छोटे-छोटे खेतों की पट्टियों पर काम करती है और सामान्य सालों में यह मुश्किल से अपना पेट भर पाती है। जिस बार मानसून नहीं आता. बड़ी संख्या में ग्रामवासी ग्रामों को छोड़ रोजगार की तलाश में, पास के तथा बड़े औद्योगिक शहरों में जाने को बाध्य होते हैं। अकुशल होने तथा पहले से ही रोजगार का क्षेत्र अति सीमित और मजदूरों में पर्याप्त प्रतियोगिता होने के कारण वहां काम मिलने की संभावना बहुत कम होती है। फिर दूसरे, शहरों में अपरिचित व्यक्तियों के लिए घरों इत्यादि में काम मिलना सुगम नहीं होता। ऐसी स्थिति में भूख और निराशा उन्हें अपराध की ओर प्रलुब्ध और प्रेरित करती है। पारिवारिक बन्धनों, जाति और जनमत के प्रभाव के अभाव में, उन्हें अपराध करने में अधिक झिझक अथवा भय महसूस नहीं होता।

प्रथाओं का प्रभाव

भारतवर्ष प्रथाओं का देश है। यहां पर रीति-रिवाज और विश्वास ही जनता के अधिकांश कार्यों और व्यवहारों को नियन्त्रित करते हैं। अभी तक वही नियन्त्रण के प्रमुख साधन हैं। किन्तु यह एक विचित्र बात है कि कई बार यही समाज-विरोधी व्यवहार के कारण बन जाते हैं।

प्राचीन काल में द्रविड़ जातियों में नर-बलि की प्रथा प्रचलित थी। इसका एक रूप पुरुषमेघ था, जो समस्त प्राणियों पर प्रभुता पाने के लिए किया जाता था और जिसमें ग्यारह आदमियों और ग्यारह गायों की बलि दी जाती थी। पुराणों और तन्त्रों में काली या चण्डिका देवी के लिए अनेक नर बलि देने के दृष्टान्त मिलते हैं। मराठा शासन में यह प्रथा खूब प्रचलित थी और पश्चिमी भारत में आज भी अनेक ऐसे मन्दिर हैं जहां सौ साल पहले प्रायः नर बलि दी जाती थी। ईस्ट इंडिया कम्पनी के युग में उत्तर पूर्व में भी यह प्रथा पर्याप्त प्रचलित थी। बाद में यह प्रथा धीरे-धीरे लुप्त हो गई और आज केवल उसके कुछ अवशेष रह गये हैं। आज की परिस्थितियों में नर बलि असंभव हो गई है। किन्तु आज भी अनेक प्राचीन प्रथाएं और रीतियां गांवों की निम्न जातियों में विशेष रूप से अपराध के लिए उत्तरदायी हैं। इससे हमें इस परिणाम पर नहीं पहुंचना चाहिए कि ऐसे अपराध बहुत व्यापक हैं, फिर भी प्राचीन और समाज-विरोधी अंध विश्वासों की अपराधों के एक कारण के रूप में सर्वथा उपेक्षा नहीं की जा सकती। यद्यपि नर बलि, शिशुहत्या और बाल-बहुओं के ऊपर अत्याचार अब क्रमशः समाप्त होते जा रहे है, किन्तु ऐसी इक्का-दुक्का घटनाओं का आज भी अभाव नहीं है।

वन्ध्यापन दूर हो जाने अथवा लड़का होने के विश्वास में दूसरों के बच्चों की हत्या, गड़े धन पाने अथवा भूत और प्रेतात्माओं को शांत करने के विश्वास में नर बलि की घटनाएं आज भी घटित होती हैं। इसी प्रकार शिशुहत्या की प्रथा आज भी कम हत्याओं के लिए उत्तरदायी नहीं है। भारत में एक दीर्घकाल से लड़कियों का जन्मना बहुत बुरा माना जाता रहा है। इसी कारण राजपूतों में शिशु हत्या प्रारम्भ हुई। १८५६ में हुई एक सरकारी जांच से पता चला कि अनेक गांवों में तो प्रायः सभी लड़कियों को मार दिया गया। सात गांवों में १०४ लड़के और केवल १ लड़की मिली। शिशु हत्या का अन्त करने के लिए १८७० में विशेष कानून बनाना पड़ा। इसका अच्छा परिणाम हुआ और बाद में यह कानून हटा दिया गया। किन्तु आज भी अनेक निर्धन माता-पिताओं को लड़कियां पालने और ब्याहने में सर्वथा असमर्थ होने के कारण शिशु हत्या का सहारा लेना पड़ता है। कभी-कभी शिशु कन्याएं भूत-प्रेतों को शांत करने के लिए बलि चढ़ा दी जाती हैं।

अभी तक हमने उन प्रथाओं और विश्वासों का जिक्र किया है जो कि यद्यपि समाप्त होते जा रहे हैं, पर कुछ निम्न वर्गों में वह अभी भी कुछ अंशों में अवशिष्ट हैं और अपराधों के लिए उत्तरदायी हैं। कुछ उन प्रथाओं का वर्णन जो कि धर्म से सम्बद्ध हैं, अप्रासंगिक न होगा।

शाक्त धर्म का जादू-टोने और प्रेतवाद से घनिष्ठ सम्बन्ध है। इसमें ऐसी पूजा-विधियां हैं जिनमें कि स्त्री-पुरुष सब प्रकार की अश्लीलता का प्रयोग करते और व्यभिचार में प्रवृत्त होते हैं। विष्णु के अनुयायी नामधारी भी घृणोत्पादक बलियां देते हैं। विभिन्न प्रकार के काम-सम्प्रदाय (Erotic cults) अनैतिकता और अनाचार की वृद्धि में योग देते हैं। बस्वी और देवदासी प्रथा ने धर्म के नाम पर वेश्यावृति को प्रश्रय दिया है। आज भी सैकड़ों लड़कियां मन्दिरों और धर्म की छत्र-छाया में वेश्याओं का जीवन व्यतीत कर रही हैं। यद्यपि आज मन्दिरों को कन्यादान करने के विरुद्ध भावना पर्याप्त जोर पकड़ती जा रही हैं, फिर भी यह संस्थाएं अभी तक पूर्णतया नष्ट नहीं हुई हैं।

धर्म ने हमारे देश में निठल्लेपन और निकम्मेपन को भी अच्छा संरक्षण, सम्मान और पवित्रता प्रदान की है। विभिन्न मठों और गद्दियों के मठाधीश प्रायः निष्क्रियता और व्यभिचार का जीवन यापन करते हैं। धर्म अनेक बार अपराधियों के लिए अच्छे आवरण का काम करता है। इसके अतिरिक्त, वह धार्मिक कट्टरपंथी तो पृथक् हैं, जो कि धर्म के नाम पर स्वयं अपने को सैकड़ों प्रकार से यातनायें और कष्ट देते हैं।

अन्त में इस तथ्य की ओर निर्देश करना भी आवश्यक है कि शायद संसार में बिरला ही ऐसा देश होगा जहां कि चोरों, डाकुओं और लुटेरों का धर्म और अपने इष्टदेवी-देवताओं में इतना अन्ध और पूर्ण विश्वास है, जितना कि भारतवर्ष में। हमारे यहां इनके दल के दल रात को अपने कुकृत्य करने से पहले अपनी देवी के, जिसकी यह उपासना करते हैं, सम्मुख इकट्ठे हो प्रार्थना करते हैं और उसका आशीर्वाद ले अपने कार्य पर निकलते हैं। उन्हें विश्वास होता है कि देवी उनकी रक्षा करेगी तथा उनके कार्य में सफलता देगी। कुख्यात ठगों का भी ऐसा ही विश्वास था। उनकी कार्यवाहियों पर धर्म का कठोर नियंत्रण था। वह अपने पेशे को धार्मिक कृत्य समझते थे और जो कुछ भी वह करते थे उसे धर्म का समर्थन प्राप्त था। आज ठगों का अन्त हो चुका है, पर अभी भी ऐसे चोरों और डाकुओं की कमी नहीं है जो कि अपने काम पर निकलने से पहले काली की पूजा करते हैं। बावेरिया, अहेरी, मीना तथा अनेक अन्य कबीलों के लोग, जिनमें से अधिकांश चोर और डाकू बनते हैं, चोरी करने से पहले पूजा करते हैं और लौटने पर उसका दसांश 'देवी' को चढ़ाते हैं।

किन्तु यहां यह स्मरण रखना आवश्यक है, कि जहां एक ओर प्रथाओं, रीति-रिवाजों तथा अन्धविश्वासों ने अपराध को प्रत्यक्ष रूप से प्रोत्साहित अथवा अप्रत्यक्ष रूप से संरक्षित किया है, वहां दूसरी ओर उन्होंने विभिन्न प्रकार की उपयोगी धार्मिक शिक्षाओं, शपथों, परीक्षाओं और धार्मिक अनुष्ठानों के सामाजिक नियन्त्रण द्वारा उसे रोकने में भी कम योग नहीं दिया है।

इस प्रकार हम देखते हैं कि धर्म एक दुधारी तलवार है, जिसका कि दुरुपयोग और सदुपयोग दोनों ही हो सकते हैं। निःसंदेह यह सामाजिक नियंत्रण का एक अति प्रभावशाली साधन है। इसका जनसाधारण पर ऐसा प्रबल प्रभुत्व होता है कि अनेक बार यह समाज-विरोधी व्यवहार का समर्थन करता है। इस देश में कोई कर्म ऐसा नहीं, जो कि धर्म की परिधि के बाहर हो। इस प्रकार हम देखते हैं कि कुछ अंशों में धर्म ने भी अपराध की वृद्धि में अपना सहयोग प्रदान किया है, किन्तु यह भी सत्य है कि हम शिक्षा के प्रसार द्वारा उसे नष्ट कर सकते हैं।

पंचायत का प्रभाव

अंग्रेजी शासन का एक बुरा परिणाम देश की उन स्थानीय संस्थाओं और परिपाटियों का विनाश था, जो कि दीर्घकाल से सब प्रकार के अपराध और दुराचार, यहां तक कि सब प्रकार के सामाजिक अथवा धार्मिक नियमों के उल्लंघन पर नियंत्रण रखती थीं। चिरकाल-सम्मानित यह संस्था पंचायत थी। निरक्षर

जनता का विश्वास था कि पंचायत में परमेश्वर का वास है। जनता के आचरण पर पंचायतों का प्रबल प्रभाव था। यह पंचायतें विभिन्न नामों से समस्त देश और समस्त ग्रामों में व्याप्त थीं। इनके अधिकार और शक्ति बहुत ही विस्तृत थी तथा वह छोटे से छोटे अपराधों के लिए भी दण्ड देने की अधिकारी थीं। ग्राम-पंचायतों के अलावा, प्रत्येक जाति की अपनी पंचायत थी, जो कि अपने जाति-नियमों का पालन कराने के लिए सक्रिय थीं। यह पंचायतें अच्छे और सस्ते न्यायालय थे, जिसमें सब पक्षों की सुनवाई थी, और जहां पर बिरादरी के सदस्यों के एकमत होने पर ही दण्ड मिलता था। विभिन्न प्रकार के अपराधों के लिए विभिन्न प्रकार के दण्ड और जुर्मानों का विधान था। अपनी ही जाति-बिरादरी के लोगों द्वारा दण्डित होने के कारण अपराधी पर उसका अधिक और गंभीर प्रभाव पड़ता है और वह अपने को अपमानित अनुभव करता है। समाज में मान-हानि तथा परिणामतः, उनके बच्चों के न ब्याहे जाने का भय अपराध से रोकने का कार्य करते हैं। इससे इनकार नहीं किया जा सकता कि पंचायत-प्रणाली में पीछे अनेक बुराइयां घुस गई हैं, जिनका सुधार होना जरूरी है। फिर भी पंचायतें अपराध-निवारण में महत्त्वपूर्ण योगदान कर सकती हैं। हाल ही में उत्तर-प्रदेश तथा अन्य राज्यों में पंचायतों को पुनरुज्जीवित करने, उन्हें नई शक्तियां प्रदान करने तथा सुधारने के प्रयास हुए हैं, जिससे अच्छे परिणामों की आशा की जा सकती है। जब तक अधिकांश जनता अशिक्षित है, तब तक पंचायतों का अपराध के लिए तत्काल दण्ड देने, तथा लम्बी और महंगी मुकदमेबाजी से गांववालों को बचाने में समुचित उपयोग किया जा सकता है।

न्यायालय का प्रभाव

किसी भी सभ्य समाज में विभिन्न प्रकार के अपराधों और अभियोगों का फैसला करने के लिए एक निष्पक्ष अधिकारी का होना जरूरी है। भारत में अति प्राचीन काल से यह काम गांव और जाति की पंचायतें कर रही थीं। आधुनिक काल में यह कार्य सरकार द्वारा स्थापित न्यायालयों के हाथ में आ गया। भारत का सर्वोच्च न्यायालय आज सबसे अधिक अधिकार-प्राप्त और अंतिम न्यायालय है। प्रत्येक राज्य में एक उच्च न्यायालय है, जिसके नीचे निम्न पांच प्रकार के न्यायालय हैं—(१) सेशन न्यायालय, (२) प्रेसीडेन्सी मजिस्ट्रेट (केवल कलकत्ता, मद्रास और बम्बई शहरों के लिए), (३) प्रथम श्रेणी के मजिस्ट्रेट, (४) द्वितीय श्रेणी के मजिस्ट्रेट, (५) तृतीय श्रेणी के मजिस्ट्रेट। यह मजिस्ट्रेट या तो वेतन पाते हैं या अवैतनिक होते हैं। इसमें संदेह नहीं कि

विद्यमान न्याय-व्यवस्था में इससे पूर्व स्थित न्याय-व्यवस्थाओं की तुलना में अनेक अच्छाइयां हैं। वास्तव में विद्यमान दण्ड-कानून पिछले समस्त दण्ड-कानूनों की तुलना में एक महत्त्वपूर्ण सुधार है, किन्तु फिर भी इससे इन्कार नहीं किया जा सकता कि विद्यमान न्याय-व्यवस्था में अनेक कमियां और बुराइयां हैं, जिनका अपराध और अपराधियों पर प्रत्यक्ष और अप्रत्यक्ष प्रभाव पड़ता है।

संक्षेप में विद्यमान न्याय-प्रणाली के दोषों को हम निम्न भागों में बांट सकते हैं:—

१. हमारी अपराधी प्रक्रिया अति जटिल है, जिसे कि सामान्य जनता नहीं समझ पाती। कुछ अंशों में आधुनिक विकसित समाज में यह स्वाभाविक भी है।

२. हमारे यहां मुकदमे निपटाने में प्रायः बहुत ही अधिक समय लग जाता है। २५-३० दिन लग जाना तो साधारण बात है। इससे अभियुक्त को अनावश्यक कठिनाई और व्यय सहन करना पड़ता है।

३. प्रायः गवाहों को अत्यधिक परेशानी का सामना करना पड़ता है। बुलाए गवाहों में से एक बड़ी संख्या की गवाही नहीं ली जाती।

४. गवाहों को आवश्यक अवधि से कहीं अधिक समय तक रोका जाता है।

५. अभियुक्त और दण्डित व्यक्तियों की संख्या में सदैव भीषण अन्तर पाया जाता है। प्रायः १०० में केवल ३५ व्यक्ति ही दोषी होते हैं। इससे स्पष्ट है कि हमारे यहां अधिकांश झूठे मुकदमे चलाये जाते हैं।

६. अवैतनिक मजिस्ट्रेटों के न्यायालय प्रायः विशिष्ट व्यक्तियों द्वारा प्रभावित होते हैं, तथा अनेक अवैतनिक मजिस्ट्रेटों को कानून और न्याय का अल्प ज्ञान और अल्प ध्यान होता है। इसके अतिरिक्त, जहां जूरी-पद्धति प्रचलित है, वहां जूरियों का चुनाव भी संतोषजनक नहीं होता। इन सब बातों का यह परिणाम है कि सामान्य जनता में यह धारणा जड़ पकड़ गई है कि न्याय धूर्तों और अमीरों के लिए है। निरक्षर और निर्धन जनता अपने को व्यावहारिक, यद्यपि अनपेक्षित पक्षपात के सम्मुख असहाय पाती है।

अपराध और न्याय-व्यवस्था के सम्बन्ध में बर्नर्ड शा के अनोखे वाक्य हमारे देश पर शब्दशः लागू होते हैं :

"वह कैदी जो आज जेलखाने में है अनिवार्यतः उससे बाहर लोगों से अधिक बेईमान नहीं है, किन्तु अन्तर सिर्फ इतना है कि अपने अज्ञान और मूर्खता के कारण वह उस तरीके से चोरी करता है जो कि प्रथासम्मत नहीं है। वह नानबाई की दूकान से रोटी छीनता है और जेल में पहुंचा दिया जाता है। दूसरा

व्यक्ति सैकड़ों विधवाओं और अनाथों और सरल भोले प्राणियों के, जो कि कम्पनी संस्थापकों के तरीके नहीं जानते, हाथ की रोटी छीनता है और पार्लियामेंट में पहुंचा दिया जाता है।"

भारत की अपराधी जातियां और कबीले

जाति-प्रथा और धर्म भारतीय जीवन के प्रत्येक पहलू में व्याप्त हैं, यहां तक कि अपराध और दुराचार को भी इनकी स्वीकृति प्राप्त है। बहुत बातों में अनेक सामाजिक वर्गों की अपराध-प्रवृत्तियां और कार्य भारतीय समाज के अनेक रिवाजों और अन्धविश्वासों से सम्बन्धित हैं। जातिभेद का आधार— अस्पृश्यता और पृथक्करण हमारे यहां अपराध का एक विशेष कारण हैं। भारत वर्ष दीर्घ काल से ही विभिन्न नस्लों और कबीलों का अच्छा खासा संग्रहालय रहा है। इसमें कुछ ऐसी भी जातियां हैं जिनका पैतृक पेशा ही चोरी, डकैती और अपराध करना है। संसार के किसी भी देश में इस प्रकार की कोई जाति नहीं है। भारतवर्ष में इन अपराधी जातियों की जनसंख्या लगभग ४० लाख है। तथाकथित अपराधी जातियों और कबीलों में अपराध एक पैतृक कर्तव्य और अधिकार है, जिसे कि धर्म और जाति का समर्थन प्राप्त है। इन जातियों में आपसी व्यवहार और अनुशासन का सूक्ष्म विधि-विधान है, एक जाति में एक विशेष प्रकार के अपराध करना ही विहित है; उसे अन्य जातियों के अपराध क्षेत्र के अतिक्रमण करने का अधिकार नहीं है। इस प्रकार अपराध के क्षेत्र में भी अच्छा खासा श्रम-विभाजन है। इसमें आश्चर्य ही क्या है, जब कि उनकी दृष्टि में अपराध भी एक सम्मानजनक और धर्मविहित उत्पादक कार्य है।

यों तो संसार में सभी जगह अपने दुष्कृत्यों को सफलतापूर्वक चलाने के लिए अपराधी लोग सम्मिलित हो पृथक् दल बना लेते हैं, किन्तु इस प्रकार के अपराधियों में अपराधशीलता के अतिरिक्त कोई बात समान नहीं होती। इसके विपरीत हम देखते हैं कि अपराधी जातियों के व्यक्ति पारस्परिक रूप से संगठित हो चलते हैं, उनकी अपनी निजी मान-मर्यादा होती है, अपनी जातीय पंचायत होती है, जिसके निर्णय अंतिम और प्रत्येक के लिए शिरोधार्य होते हैं। उनके अपने विचित्र आचार-विचार होते हैं। उनकी अपनी निजी अपराधशैली होती है, जिसका यह निष्ठा से पालन करते हैं और अपनी संतान को भी उसी प्रकार उसकी शिक्षा देते हैं जिस प्रकार कि दस्तकार अपनी संतान को अपना धंधा सिखाते हैं। लूट-मार से प्राप्त सामग्री के वितरण करने की उनकी अपनी ही विशिष्ट योजना होती है और एक प्रकार के अविकसित सामाजिक बीमे के द्वारा

वे अपनी जाति के वृद्ध अथवा अपराध में दण्डित या आहत व्यक्ति के आश्रितों की सहायता करते हैं। सामाजिक रूप से अपराधी जातियों के सदस्य आपस में मेल से रहते हैं, किन्तु उनकी जातियां और कबीले उस साधारण समाज से बैर एवं भीषण रूप से द्वेष रखती हैं जिन पर उनके सदस्य आक्रमण करते हैं और पकड़े जाने पर दण्ड के भागी होते हैं। यह अपराधी कबीले और जातियां भारतवर्ष में अधिकांश अपराधों के लिए उत्तरदायी हैं। इनका सुधार और शांतिप्रिय नागरिकों की भांति पुनर्वासन एक महान् सामाजिक समस्या है। इन तथाकथित अपराधी जातियों के उद्धार के सही और वैज्ञानिक समाधान के लिए उनकी सामाजिक आर्थिक स्थिति, रीति-रिवाजों और विश्वासों का स्पष्ट ज्ञान आवश्यक है।

अपराधी जातियां दो प्रकार की हैं—एक गांवों में बसी हुई, दूसरी फिरंदर या खानाबदोश। बसी हुई जातियों में मुख्य अपराधी जातियां पासी, अहेरिया, बौरिया इत्यादि हैं। कहने को तो यह बसी हुई जातियां हैं और इन लोगों के पास घरबार, खेतीबाड़ी और दिखाने के लिए कोई बनावटी पेशा भी होता है, लेकिन अपराध करने के लिये इन जातियों के दल अपने गांवों से बहुत दूर निकल जाते हैं और अन्य जिलों और प्रान्तों में जाकर यह लोग अपराध करते हैं। फिरंदर जातियां वह जातियां हैं जिनका कोई स्थिर घर-बार नहीं होता और जो खेमें या तम्वुओं में रहती हैं। सभी फिरंदर जातियां अपराधी जातियां नहीं हैं। रमैया, बिसाती, बेलवार इत्यादि जातियां फिरंदर तो हैं, पर अपराधी नहीं हैं। हबूड़ा, नट, कंजड़, भांतू, वहेलिया, डोम इत्यादि जातियां फिरंदर भी है और अपराधी भी।

प्राय. अपराधी जातियां हिन्दू धर्म को मानती हैं, किन्तु कुछ अपराधी जातियां इस्लाम की भी अनुयायी हैं—जैसे महावत, लुंगी, पठान, कलन्दर, फकीर, बलूची, इत्यादि। कुछ अपराधी जातियां आदिवासी (aboriginal) हैं। बेड़िया, भांतू, हबूड़ा, कंजड़, सांसिया, नट, अहेरिया और बहेलिया आदिवासी जातियां हैं। किन्तु बहुत-सी आदिकालीन जातियां अपराधी नहीं हैं। अनेक अपराधी जातियों की गणना अनुसूचित (scheduled) जातियों अथवा हरिजनों में की जाती है। उपर्युक्त आदिवासी अपराधी जातियों की गणना हरिजनों में की गई है। इनके अतिरिक्त, डोम, खटिक, बेलदार, बौरिया, बधिक, बरवार और कपड़िया हरिजन अपराधी जातियां हैं। किन्तु बहुत-सी हरिजन जातियां अपराधी नहीं हैं। बहुत-सी आदिकालीन जातियों की गणना सवर्ण उच्च जातियों में की जाती है और वह भी अपराधी नहीं है। कुछ अपराधी

जातियों की गणना सवर्ण हिन्दुओं में होती है, जैसे भर, भवपुरिया, गूजर, केवट, दलेरा और औंधिया । कई अपराधी जातियां यद्यपि सरकार द्वारा अनुसूचित जातियों अथवा हरिजनों में गिन ली गई हैं, किन्तु वे अपने को सवर्ण मानती हैं, और हरिजन कहलाने का विरोध करती हैं, जैसे बरवार, करवाल, अहेरिया, भांतू इत्यादि ।

अपराधी जातियों की जनसंख्या भिन्न-भिन्न है । कुछ जातियों की संख्या अधिक है । वह कई प्रांतों अथवा एक ही प्रांत के बहुत से जिलों में रहती हैं । कुछ की संख्या इतनी कम हो गई है कि वह एक-दो जिलों में ही मिलती हैं । कुछ जातियों की संख्या में प्रत्येक जनगणना में बहुत हेर-फेर हो जाता है । कभी दो जातियां मिलकर एक हो जाती हैं, कभी एक ही जाति दो या तीन उपजातियों में बट जाती जाती है । फिरंदर जातियों की जनसंख्या जानना तो और भी कठिन है । यह जातियां कभी एक कभी दूसरे जिले में रहती हैं, और कभी तो यह प्रांत तक भी परिवर्तित कर देती हैं ।

सम्पूर्ण भारतीय संघ में समस्त प्रकार की अपराधी जातियों के सदस्यों की संख्या लगभग ४० लाख है । इनमें से केवल उत्तर-प्रदेश में अपराधी जाति कानून रद्द होने से पूर्व, उसके अन्तर्गत अपराधी घोषित जातियों की जनसंख्या लगभग १६ लाख थी ।

उत्तर-प्रदेश में जनसंख्या के अनुसार प्रमुख अपराधी जातियां हैं—पासी, दुसाध, मल्लाह, भर, नट, डोम और बंजारा । क्रूरता और अपराध करने में प्रमुख अपराधी जातियां हैं—हबूड़ा, कंजर, भांतू, बावरिया, बेड़िया, सांसिया, करवाल, औंधिया इत्यादि । आजकल अधिकांश पासी खेती करने लगे हैं, किंतु इनकी लूट-मार की आदतें अभी भी नहीं गई हैं । बेड़िया कुख्यात अपराधी जाति है । इसका कार्यक्षेत्र सारे भारत में विस्तृत है । यह लोग राहजनी, नकबजनी के अतिरिक्त जाली सिक्के बनाते हैं और वैरागी के भेष में घूमते हैं । इनकी अपनी निजी गुप्त बोली और संकेत तथा नकबजनी के विशेप हथियार होते हैं । बहुत-से कंजड़ अब खेती-बारी या मजूरी करते हैं । जो शहर के निकट रहते हैं वे लोग डलियें, टट्टियें, चलनी, पंखे, रस्सी, चटाई, पत्तल, दोने, मुतली इत्यादि वस्तुएं बनाते और ईमानदारी से रहते हैं । आवारागर्द कंजड़ ५०-६० के दल में घूमते हैं । यह निपुण शिकारी होते हैं और आमतौर पर नकबजनी और राहजनी करते हैं । लगभग ३६ प्रतिशत नट नाचने, गाने, बजाने तथा वेश्यावृत्ति से अपना जीवन-निर्वाह करते हैं । यह यद्यपि पेशेवर अपराधी नहीं हैं, किन्तु मौका मिले तो चूकते नहीं । बंजारों का रहन-सहन योरोप के जिप्सियों से मिलता-जुलता है । प्रायः यह पशुओं

की चोरी करते हैं। कुछ हबूड़े खेती-बारी करते हैं और बाकी आवारागर्दी। आवारागर्द हबूड़े साधुओं और फकीरों का वेष बनाएं घूमते हैं। इन्हें बचपन से ही चोरी-डकैती की सूक्ष्म शिक्षा दी जाती है। यह लोग हिंसा का प्रयोग करते हैं, इनकी भी अपनी चोर बोली है। इसी प्रकार अन्यान्य अपराधी जातियों में अपराध की विचित्र विधियां प्रचलित हैं।

इसी प्रकार अन्य प्रांतों में भी अनेक अपराधी जातियां निवास करती हैं। पंजाब में मीना, हरनिस, गुरमंग, दुमना, चुबरा, रावल, बवेरिया, धींवर और बंगाली प्रमुख अपराधी जातियां हैं। मध्यप्रदेश में बधक, बेदर, बेरिया, बैदिया, भामता, गोपाल, जादुआ, कंजर, खंगर, कोल्हासी, कोली, कोरकू, क़ोरवा, माल, मांगगरौरी, मीना, नहल, पासी, सनौरिया, सांसिया और ऐरुकला इत्यादि अपराधी जातियां निवास करती हैं।

मद्रास प्रेसीडेंसी में कल्लन, चेंचू, कोरुआर, एरुकुलर, बौरी, बोया, बातुर्जा, भाटू, तुरक, चपरबन्द, दण्डसी, खोंगर, कथ्थरबन्धु और कौरव इत्यादि अपराधी जातियों का निवास है। बम्बई प्रेसीडेंसी में कैकाड़ी, घंटीचोर, हरणशिकारी, मगरंदिस, लमहड़ी, कंजरभाट, छप्परबूंद, बेस्तर, कतबू, बेरद, हूर, धरल, वड्डर, लाभानी, रामोशी, मान, भमता, फांसी, पर्धी, कंजर और वघरी प्रमुख अपराधी जातियां हैं। राजपूताना की बनरिया, सांसी, मीना, कंजर, बागड़ी, भील, बदक, बहेलिया, अहेरिया, बेरिया, भाटू, नट इत्यादि अपराधी जातियां वहां के ग्रामवासियों को रात भर जागे रखने के लिए पर्याप्त हैं। केवल बंगाल ही एक ऐसा प्रांत है जो कि इनसे मुक्त है। किंतु हाल में कलकत्ते में भोघया, डोम, भार, पलवन, दोषाद्, वारवर, पासी, केवट और तूतिया मुसलमान इत्यादि अपराधी जातियों के अनेक लोग निष्क्रमण कर गये हैं जो वहां पर्याप्त हानि पहुंचा रहे हैं।

अपराधी जातियों के जीवन से एक बात स्पष्ट है कि इन सबके रहन-सहन का तरीका बहुत ही पिछड़ा हुआ है। उनमें से अधिकांश शिकारी और पशुपालन की अवस्था में ही अपना जीवन यापन कर रही हैं। किंतु जैसे ही उन्हें खेती-बारी की सुविधाएं प्राप्त होती हैं, वह अपराध करना छोड़ देती हैं। अपराधी जातियों के पुनरुद्धार के संबंध में यह तथ्य बहुत महत्त्वपूर्ण है।

भारतवर्ष में एक बड़ी जनसंख्या का जन्म से ही अपराधी करार दिया जाना एक भीषण सामाजिक समस्या है। इसका होना हमारे समाज के लिए एक महान् कलंक, खतरा और चुनौती है। अपराधी जाति के सदस्यों को समाज-विरोधी और हानिकर कार्यों से हटाकर उत्पादक और उपयोगी कार्यों में लगाना हमारा एक

प्रमुख कर्तव्य है। इसके लिए यह आवश्यक है कि हम पहले उन कारणों का परिचय प्राप्त करें जो उन्हें अपराधी बनने को बाध्य करते हैं

अपराधी जातियों में अपराध के कारण

शारीरिक या नस्ली कारणों का अभाव. अपराधी जातियों के सदस्य में ऐसी क्या विशेषताएं हैं जिनसे वह स्वभावतः अपराध की ओर अग्रसर होते हैं, जैसे कि बत्तख पानी की ओर। अन्धविश्वासी और अपढ़ जनता का यह विश्वास है कि यह तो भाग्य का लेखा है, जिसे कोई नहीं मिटा सकता। किन्हीं व्यक्तियों का जाति विशेष में जन्म लेना ही उनके अपराधी होने को निश्चित कर देता है। हम अपराध के सामान्य कारणों की जांच करते हुए लोम्ब्रोजो के अपराधी टाइप का जिक्र कर चुके हैं, जिसके अनुसार अपराध एक शारीरिक घटना है। किसी समय भारत-वर्ष में भी इस सिद्धांत का जोर था। उसी के प्रभाव में यहां पर विभिन्न अपराधी जातियों की मानवशास्त्रीय और रक्त-परीक्षाएं ली गई और उनसे यह सिद्ध करने का प्रयत्न किया गया कि अपराधी जातियों में कुछ विशिष्ट नस्ली अथवा मानवशास्त्रीय विशेषताएं हैं जो कि उनकी अपराधी प्रवृत्ति के लिए उत्तरदायी हैं। सर हर्बट रिजले ने इस दिशा में सर्वप्रथम काम किया और वह उपर्युक्त परि-णाम पर पहुंचे। डा० मजूमदार ने १९४१ में जनगणना कमिश्नर के सहयोग से कुछ तथाकथित अपराधी जातियों के सिर, नाक तथा रक्त की परीक्षा की। उससे यह ज्ञात हुआ कि भिन्न-भिन्न अपराधी जातियां भिन्न-भिन्न नस्लों की हैं तथा उनके रक्त में कोई विशेष अन्तर नहीं है। 'बी' रक्त का भारत की समस्त जातियों में बाहुल्य है जो कि अधिक रक्त-मिश्रण का परिणाम है। वास्तव में भारत की समस्त जातियों में अल्पाधिक रक्त का मिश्रण हुआ है। यह एक दिलचस्प बात है कि अपराधी डोम जाति में 'ए' रक्त की कमी पर 'ओ' रक्त का बाहुल्य है। इन सब अन्वेषणों से यह स्पष्ट है कि अपराधी जातियों के सदस्यों के अपराध करने में शारीरिक बनावट और रक्त का कोई दोष अथवा हाथ नहीं है, क्योंकि उनकी शारीरिक बनावट और उनके रक्त में अन्य जातियों की अपेक्षा कोई विशेष अन्तर नहीं है। उनके अपराध के कारणों को हमें अन्य स्थान पर खोजना होगा।

आर्थिक सामाजिक और मनोवैज्ञानिक कारण. इस विषय पर अभी तक कोई व्यवस्थित जांच नहीं की गई है, फिर भी जिन कारणों से एक व्यक्ति अप-राधी होता है, समाज के प्रति घृणा और हिंसा का भाव रखता है, वह इन पर भी सामान्य रूप से लागू होते हैं। अपराधी व्यक्ति अपने आपको समाज से निभा नहीं पाता। अपराधी जातियां भी बाह्य समाज से अपना संतुलन, सामंजस्य स्थापित

नहीं कर पातीं, इसलिए वह अपराध की ओर अग्रसर होती हैं। आर्थिक और सामाजिक परिस्थितियां -तथा बचपन से सीखा मनोवैज्ञानिक दृष्टिकोण उन्हें अपराध करने पर मजबूर करता है। अधिकांश अपराधी जातियां अत्यन्त निर्धन हैं। उनके पास खेती के लिए जमीन और अन्य कोई उत्पादक कार्य सीखने और पाने की सुविधाएं नहीं हैं। उन्हें सदैव घृणा और सन्देह की दृष्टि से देखा जाता है। उनके पास कोई ऐसा उद्योग-धंधा नहीं जिससे वह अपने परिवार का पेट भर सकें। जानवर पालने, चराने, डलिया बनाने, रस्सियां बटने, शहद, लकड़ी, फल, जड़ी-बूटी इत्यादि इकट्ठे करने, चिड़ियां पकड़ने इत्यादि के जो काम वह करते हैं, वह उनके जीवन-निर्वाह के लिए अपर्याप्त हैं। अधिकांश अपराधी जातियां हरिजन हैं। हिंदू-समाज में उन्हें नीच समझा जाता है और यदि वह ऊंचा उठना चाहें भी तो उन्हें उठने नहीं दिया जाता। ऐसी स्थिति में यह स्वाभाविक ही है कि वह समाज को अपना शत्रु समझें।

जातिधर्म. उपर्युक्त स्थूल कारणों के अतिरिक्त, इन जातियों का मनोवैज्ञानिक दृष्टिकोण भी अपराध करने में एक महत्त्वपूर्ण कारण है। हमारे यहां जातिधर्म का पालन धार्मिक कर्तव्य माना गया है। अपराधी जातियों के सदस्यों में भी बचपन से ही यह धारणा बद्धमूल की जाती है कि अपराध करना ही उनका जातिधर्म है। इसलिए यदि अपराध करने में उन्हें चाहे कितना भी कष्ट उठाना पड़े या दण्ड मिले, उसे सहर्ष स्वीकार करना चाहिए। बहुत समय से अपराध करते-करते यह लोग निपुण हो गये हैं। अपराध के हुनर को बेटा बाप से सीखता है। अपराधी जातियां अशिक्षित, अज्ञानी तथा धर्मभीरु हैं। भूत-प्रेत, जादू-टोने, शकुन-अपशकुन में विश्वास रखती हैं। इनकी जाति-पंचायतें स्वयं अपराध की प्रबल संरक्षक हैं। इससे यह स्पष्ट है कि अपराधी जातियों द्वारा किये गये अपराध के कारणों में आर्थिक, सामाजिक और मनोवैज्ञानिक पक्षों का प्रमुख हाथ है। अतः इन बातों का उचित समाधान किये बिना केवल उन्हें दण्डित कर अपराध करने से नहीं रोका जा सकता।

अपराधी जातियों के कुकृत्यों के नियंत्रण के प्रयत्न

नियंत्रण के लिए विशेष कानून और व्यवस्था की आवश्यकता. अपराधी जातियां समाज और सरकार के विरुद्ध युद्ध की घोषणा किये हुए हैं। एक ओर तो सरकार की समस्त शासन-संस्थाएं हैं—पुलिस, फौज, अदालतें और जेल, दूसरी ओर अपराधी जातियां हैं। इनके स्त्री, पुरुष, बच्चे संगठित और अपराध करने में निपुण हैं। यह शक्ति का उत्तर चालाकी और बल का उत्तर धोखे से

देते हैं। दण्ड का उनके ऊपर कोई प्रभाव नहीं होता। उससे उनका सुधार होना तो दूर, उन्हें उसका भय छू नहीं गया है। वह दर्जनों बार जेल जाते हैं, किन्तु नहीं समझते कि उन्होंने कोई बुरा काम किया है जिसके कारण उन्हें यातना भोगनी पड़ी। इन सब बातों को देखते हुए यह अनुभव किया गया कि इनके साथ साधारण अपराधियों जैसा व्यवहार करना व्यर्थ है और उनके नियंत्रण के लिये विशेष कानून और व्यवस्था की जरूरत है।

अपराधी जाति कानून. सन् १८७१ में प्रथम अपराधी जाति कानून बना। इस कानून का मुख्य उद्देश्य अपराधी जातियों और दलों का मुकाबिला करना था। दो बार इस कानून में संशोधन किये गये—पहला १८८६ में, दूसरा १८८७ में। इन संशोधनों द्वारा अपराधी जातियों के आने-जाने पर प्रतिबन्ध लगाने के अधिकार सरकार को मिल गये। १९०२ के पुलिस कमीशन ने इस कानून की आलोचना की। वास्तव में इस कानून को बने तीस साल हो गये, किंतु अपराधी जातियों के अपराध वृत्ति में किसी प्रकार की कमी नहीं हुई।

इस कानून के दोषों को दूर करने के लिए १९११ में पुनः एक नया बिल पेश किया गया जिसे कि सिलेक्ट कमेटी के पास भेज दिया गया। गोपाल कृष्ण गोखले, सर अली इमाम और चितनवीस भी इस कमेटी के सदस्य थे। उन्हें इन जातियों के समस्त सदस्यों पर अकारण कठोरता बरतना उचित न जंचा। फिर भी अभाग्यवश जो संशोधन इस कानून में हुए उससे यह और भी सख्त हो गया। इससे अवश्य अपराधी जातियों के अपराधों में कुछ कमी हुई, पर समस्या का हल न हुआ। इस कानून के द्वारा बसी हुई अथवा आवारागर्द अपराधी जातियों पर प्रतिबन्ध लगाने की व्यवस्था थी तथा सुधरे हुए व्यक्तियों को इससे मुक्त करने का सरकार को अधिकार था। १९१९ की जेल-कमेटी ने पुनः अपराधी जाति-कानून में संशोधन की सिफारिश की और विद्यमान सेटिलमेंटों के प्रबन्ध की आलोचना की। फलस्वरूप १९२३ में एक नया कानून पेश किया गया। इसके अनुसार अपराधी जातियों की देख-रेख का प्रबन्ध प्रांतीय सरकारों को हस्तान्तरित कर दिया गया। १९२४ में अपराधी जातियों से संबंधित कानूनों के एकीकरण का प्रस्ताव स्वीकृत हुआ। १९३३ तक इसमें छोटे-मोटे संशोधन हुए।

अपराधी-कानून की मुख्य धाराएं. १९५२ तक यह कानून देशी राज्यों को छोड़ समस्त भारतीय प्रांतों (राज्यों) में लागू रहा। इस कानून के अनुसार प्रांतीय सरकारों को विश्वस्त कारण मौजूद होने पर, किसी जाति, दल अथवा किसी श्रेणी के व्यक्तियों के किसी भाग को, जो कि संगठित रूप से स्वभावतः गैरजमानती अपराध करते हों, अपराधी जाति घोषित कर देने, घोषित जाति के

व्यक्तियों के नाम उस जिले के मजिस्ट्रेट द्वारा एक रजिस्टर में दर्ज करा लेने उनके अंगूठे और उंगलियों की छाप लेने, नियमित समय के बाद अपनी उपस्थिति की तथा वासस्थान परिवर्तन तथा अनुपस्थिति की सूचना देने, उनके परिभ्रमण को एक सीमित क्षेत्र में प्रतिबन्धित कर देने, अथवा किसी स्थान विशेष में बसाने तथा नियमित स्थान पर हाजिरी लेने, औद्योगिक विकास अथवा सुधार के लिए सेटिल-मेंट स्थापित करने तथा उसमें रहने के लिए आदेश देने, यदि चाहे तो उनके बालकों को उनके माता-पिता से पृथक् कर उनके लिए स्थापित स्कूलों में रखे जाने का आदेश देने, अपराधी जाति कानून के अन्तर्गत नियम बनाने, तथा रजिस्ट्री कराने की सूचनाप्राप्त व्यक्ति के रजिस्ट्री करनेवाले अफसर के समक्ष ठीक समय या स्थान पर न पहुंचने अथवा गलत सूचना देने या अंगूठे या उंगलियों की छाप न देने, अथवा बिना सूचना दिये प्रस्थान करने की अवस्था में निर्दिष्ट दंड देने का अधि-कार प्राप्त है।

सेटिलमेंटों की स्थापना का प्रस्ताव और कार्य. उक्त एक्ट के अन्तर्गत सर-कार को अपराधी जातियों के लिए विशेष सेटिलमेंट या बस्तियां बनाने का अधिकार है। इन सेटिलमेंटों और स्कूलों के प्रबन्ध का भार रिक्लेमेशन अफसर पर होता है। वे स्वयं अथवा अन्य पुलिस अफसरों द्वारा उनका निरीक्षण करवा सकते हैं। सेटिलमेंटों का प्रबन्ध मैनेजरों द्वारा किया जाता है। जिला मैजिस्ट्रेट; पुलिस सुपरिटेंडेंट सेटिलमेंट के सरकारी निरीक्षक होते हैं। सेटिलमेंट का मैने-जर इस बात का निश्चय करता है कि अपराधी जातियों के सदस्य कौन से जानवर पालें। वह उनकी सुरक्षा और सफाई का भी प्रबन्ध करता है। सेटिलमेंट में शराब पीने, और झगड़ा करने की मनाही होती है। ६ वर्ष से १२ वर्ष तक के बच्चों का पढ़ना अनिवार्य है। प्रत्येक सदस्य का हाजिरी के समय उपस्थित होना भी अनिवार्य है। इसके अलावा, सेटिलमेंट मैनेजर अन्य नियम बना सकते हैं जिनका पालन प्रत्येक सदस्य को करना होता है।

सेटिलमेंट मैनेजर का यह दायित्व है कि वह प्रत्येक सदस्य के जीवन-निर्वाह के साधनों का प्रबन्ध करे और प्रत्येक सदस्य का यह कर्तव्य है कि वह मैनेजर द्वारा दिये काम को पूरा करे। काम की मजदूरी, ठेके की दर द्वारा निश्चित होगी। सेटिलमेंट में किसी भी १५ साल से ऊपर के व्यक्ति से ५४ घंटे से अधिक तथा १२ से १५ साल की उम्र के व्यक्ति से ३६ घंटे प्रति सप्ताह से अधिक काम नहीं लिया जा सकता। यदि किसी व्यक्ति की आय उसके खर्च से अधिक हो, तो उसकी बचत डाकखाने में जमा कर दी जायेगी जिसे वह मैनेजर की आज्ञा से ही निकाल सकता है। यदि सेटिलमेंट का कोई बालिग, स्त्री, पुरुष, लड़का या

लड़की सेटिलमेंट का कोई नियम भंग करे, तो सेटिलमेंट का मैनेजर उन्हें चेतावनी, जुर्माना, कोठरी में बन्द करने, कार्यवाही की सिफारिश, दूसरे सेटिलमेंट को तबादले की सिफारिश तथा दफा २२ के अन्दर चालान आदि का दंड दे सकता है। पुलिस के थानेदार या उससे बड़े अफसर को रजिस्टर्ड अपराधी जाति के सदस्य के मकान की तलाशी लेने का अधिकार है।

सुधार के प्रयत्न

सेटिलमेंट और कालनियों की स्थापना. जिन लोगों ने अपराधी जातियों का सूक्ष्म अध्ययन किया है वह यह अनुभव करते आये हैं कि पुनरुद्धार और पुनर्वासन के लिए कुछ ठोस कदम उठाना आवश्यक है। इसके लिए सबसे महत्त्वपूर्ण कार्य अपराधी व्यक्तियों का विशेष सेटिलमेंटों तथा उनके सुधर जाने के बाद उनके लिए कालनियों की स्थापना है, जहां पर कि वह काम पा सकें, अच्छी आदतें सीख सकें तथा उनके बच्चे उचित सामाजिक शिक्षा ग्रहण कर सकें। इस उद्देश्य की पूर्ति के लिए भारतवर्ष के विभिन्न प्रांतों में सेटिलमेंट और कालनियां बसाई गईं। इनका संचालन सरकारी अथवा गैरसरकारी संस्थाओं के हाथ में रहा।

पंजाब में सर लूई दाने ने बिना सरकारी सहायता के अपराधी जातियों के बसाने का काम शुरू किया। वहां पर इनके लिए १ रिफार्मेंटरी, ६ औद्योगिक सेटिलमेंट, एक टेक्नीकल स्कूल और १५ कृषि सेटिलमेंट खोले गये। इसमें अमृतसर का सुधारक अपराधी सेटिलमेंट एक आदर्श संस्था है। मद्रास में १९१२ से साल्वेशन आर्मी अपराधी जातियों के उद्धार में दिलचस्पी लेती आई है। वहां पर उनके १० सेटिलमेंट हैं, जहां कि ४००० व्यक्तियों के रहने की व्यवस्था है। बंगाल में १९११ में करवाल नटों के लिए सैदपुर में एक सेटिलमेंट की स्थापना से अपराधी जातियों के उद्धार का कार्य शुरू हुआ। तब से बराबर वहां यह कार्य प्रगति कर रहा है। बिहार-उड़ीसा में भी एक औद्योगिक और एक कृषि सेटिलमेंट की स्थापना कर इस कार्य का श्रीगणेश किया गया। इसके अतिरिक्त, राजपूताना और आसाम में भी साल्वेशन आर्मी अपराधी जातियों के लिए सेटिलमेंट खोल उपयोगी कार्य कर रही है। बम्बई में इस दिशा में सर्वोत्तम कार्य हुआ है। वहां पर १५ अच्छे बड़े सेटिलमेंट हैं। इनमें से अधिकांश सेटिलमेंटों का प्रबन्ध साल्वेशन आर्मी तथा कुछ का अन्य गैरसरकारी संस्थाएं करती हैं। उक्त राज्यों के अतिरिक्त, पहले के देशी राज्यों में भी अपराधी जातियों के लिए कुछ कार्य हुआ है। हैदराबाद का नाम इसमें प्रमुख है। नीचे हम कुछ विस्तार से अपराधी जाति के सदस्यों के लिए उत्तर प्रदेश में हुए कार्यों का विवरण दे रहे हैं।

उत्तर प्रदेश में सर्वप्रथम १८६३ में बौरिया लोगों के लिए एक कॉलनी बसाई गई थी। उन्हें सुधारने के अनेक प्रयत्न किये गये, पर सब असफल रहे। १९४४ के अन्त में बौरिया कॉलनीकी कुल जनसंख्या २,३२२ थी, जिसमें ८२५ व्यक्ति रजिस्ट्रीशुदा तथा १,४९७ गैररजिस्ट्रीशुदा थे। कुल फरार व्यक्तियों की संख्या ३०७ थी। यहां पर उन्हें खेती के लिए जमीन दी गई, उद्योग-धंधे स्थापित किये गये तथा अन्य प्रांतीय सरकारों की सहायता से उनका भागना रोका गया। इस सबका परिणाम अच्छा रहा। बौरिया कॉलनी की पंचायतें शक्तिशाली हैं और वह बौरियों का अपराध करने से रोकती हैं। यहां पर सात पंचायतें हैं, और पांच स्कूल हैं।

१९१३ में उत्तर प्रदेश में सेटिलमेंटों की स्थापना की गई। १९३१ में कुल ६ सेटिलमेंट थे जिनकी कुल जनसंख्या ९४७ थी। यह सेटिलमेंट फजलपुर और कांठ (जिला मुरादाबाद), साहबगंज (जिला खीरी), आर्यनगर (जिला लखनऊ) तथा कल्याणपुर (जिला कानपुर) और गोरखपुर में हैं। इनमें से प्रथम तीन का प्रबन्ध साल्वेशन आर्मी, चौथे का आर्य प्रतिनिधि सभा, पांचवें का हरिजन सेवक संघ तथा अंतिम का सरकार करती है।

१९४४ में इन सेटिलमेंटों की कुल आबादी ३,२८८ थी जब कि उत्तर प्रदेश में रजिस्ट्रीशुदा अपराधी जातियों के सदस्यों की संख्या ३५,६१५ थी और कुल संख्या लगभग १६ लाख थी। इससे ज्ञात होता है कि कितने कम व्यक्तियों का सेटिलमेंट द्वारा सुधार हो सका है तथा प्रांत में सेटिलमेंटों की कितनी कमी है। सेटिलमेंटों में सदा स्थान की कमी रहती है। परिणामस्वरूप, बहुत से उद्दंड व्यक्ति, जिला और पुलिस अफसरों की सिफारिश के बावजूद भी, सेटिलमेंटों में भर्ती नहीं किये जा पाते। इसके कारण अपराधी जातियों के दिल से सेटिलमेंटों का डर निकलता जा रहा है। दूसरी ओर सुधरे हुए व्यक्तियों के लिए कॉलनियों का समुचित प्रबन्ध नहीं है। अधिकाधिक कॉलनियों का स्थापित करना अत्यावश्यक है, क्योंकि यदि एक सुधरा व्यक्ति सेटिलमेंट से कॉलनी में जाता है तो वह सेटिलमेंट में एक बिगड़े व्यक्ति के लिए रहने का स्थान खाली करता है।

अपराधी जाति-कानून में संशोधन और उसका रद्द होना

१९३७ में प्रथम बार भारत के अधिकांश प्रांतों में उत्तरदायी कांग्रेस सरकारों की स्थापना हुई। कांग्रेसी सरकारों ने अपराधी जातियों के पुनरुद्धार पर विशेष रूप से ध्यान दिया। उसके शासन-काल में विभिन्न प्रांतों में आपराधी जाति की अवस्था की जांच करने के लिए कई कमेटियां नियुक्त की गईं।

तिवारी समिति की सिफारिशें. १९३८ में उत्तर प्रदेश में भी ऐसी एक कमेटी नियुक्त हुई जो तिवारी कमेटी के नाम से प्रसिद्ध है। वेंकटेशनारायण तिवारी इसके अध्यक्ष थे। इस समिति की राय में समाज की बुरी प्रथाएं और अनुचित व्यवहार, अपराधी जातियों के विद्यमान होने के कारण हैं। वे उतनी अपराधी नहीं हैं जितना कि उनके साथ अपराध किया गया है। समिति की मुख्य सिफारिशें थीं :—भिन्न-भिन्न अपराधी जातियों के संबंध में सरकारी विज्ञप्तियां हर मामले पर अलग-अलग विचार कर किसी क्षेत्र को पृथक् कर, खास नाम के परिवारों को बरी कर अथवा सिर्फ अपराधी परिवारों के नाम की घोषणा कर संशोधित की जायें। विभिन्न अपराधी जातियों में सुधार की पंचायतों की स्थापना की जाय। पंचों, सरपंचों को कुछ रियायतें दे उनके उत्साह को बढ़ाया जाये। वर्तमान एक समान सेटिलमेंटों के स्थान पर रिफार्मेटरी, खेती-बारी की कॉलनियां, तथा मजदूरी देनेवाले सेटिलमेंट, उद्योग-धंधों और खेती-बारी के सेटिलमेंट और अन्त में स्वतंत्र खेती-बारी की कॉलनी होनी चाहिए। सेटिलमेंटों का प्रबन्ध सरकारी और गैरसरकारी दोनों प्रकार का होना चाहिए। अपराधी जातियों की शुद्धि या धर्म-परिवर्तन का कोई प्रयत्न नहीं होना चाहिए। अपराधी जातियों के अफसर इंचार्ज को खुफिया विभाग के बदले, सरकार के केन्द्रीय स्थान पर रहना चाहिए। प्रस्तावित सुधारों पर लगभग एक लाख रुपया वार्षिक व्यय होगा।

सरकारी कार्यवाही. सरकार ने उपर्युक्त सिफारिशों को स्वीकार तथा कार्यान्वित किया, किंतु सेटिलमेंटों के नये वर्गीकरण को कार्यान्वित नहीं किया गया। १९३९ में अपराधी जातियों के सुधार का काम खुफिया विभाग से लेकर नवस्थापित पुनरुद्धार विभाग के सुपुर्द कर दिया गया ; किंतु फिर भी इसे हरिजन जातियों के ही एक विभाग के अन्तर्गत रक्खा गया। यह समझ में नहीं आता, ऐसा क्यों किया गया। अधिकांश हरिजन जातियां अपराधी नहीं हैं। इसके अतिरिक्त, अपराधी जातियों और हरिजनों की समस्याएं पर्याप्त भिन्न हैं।

१९४०–४१ में पंचायतों तथा थाना पंचायतों के संगठन का कार्य शुरू किया गया जिसमें पिछले १२ वर्षों में पर्याप्त उन्नति हुई। पंचायत समाचार नामक एक पत्रिका निकाली गई जो बाद में बन्द हो गई तथा नई कॉलनियां बसाने के सम्बन्ध में बहुत कम काम हुआ।

१९४७ की उत्तर प्रदेश अपराधी जाति समिति की सिफारिशें. द्वितीय महायुद्ध के बाद १९४५ में पुनः प्रांतों में उत्तरदायी सरकारें स्थापित हुई और अपराधी जातियों के पुनरुद्धार की ओर उनका ध्यान गया। १९४७ म

पुनः उत्तर प्रदेश में वेंकटेशनारायण तिवारी की अध्यक्षता में अपराधी जातियों की स्थिति तथा उनसे संबद्ध कानून की जांच करने के लिए एक समिति नियुक्त की गई। इसकी मुख्य सिफारिशें निम्नलिखित थीं:—

अपराधी जाति कानून को रद्द कर किया जाय और उसके स्थान पर अभ्यस्त अपराधी और आवारागर्दी कानून (Habitual Offenders & Vagarants' Act) पास किया जाये, जो बना किसी जाति, धर्म और सम्प्रदाय के भेद-भाव के समस्त व्यक्तियों पर लागू हो। अपराधी जाति कानून के अन्तर्गत रजिस्टर्ड व्यक्तियों के रिकार्ड की सामान्य जांच हो जिससे कि यह निर्णय किया जा सके कि आया उन्हें पूर्ण मुक्ति दे दी जाये, अथवा एक हिस्टरी शीटर की हैसियत से पुलिस की देख-रेख में रक्खा जाय अथवा अभ्यस्त अपराधी और आवारागर्दी कानून के अन्तर्गत उनपर कुछ प्रतिबन्ध लगाये जायें।

प्रस्तावित अभ्यस्त अपराधी और आवारागर्दी कानून में तीन प्रकार के अपराधियों के संबंध में व्यवस्था हो, जो कि अच्छे वातावरण में रहते हुए भी अभ्यस्त अपराधी बन जाते हैं, (ख) जो कि वातावरण और पारिवारिक परम्परा के कारण अपराधी जीवन व्यतीत करने को बाध्य होते हैं और (ग) जो बिना किसी स्थिर उद्योग-धंधे के आवारागर्दी करते हैं। जिस व्यक्ति को तीन बार सजा मिल चुकी हो उसे न्यायालय अभ्यस्त अपराधी घोषित कर सकते हैं। इसमें १९३५ से पहले की सजाओं को नहीं गिनना चाहिए। अभ्यस्त अपराधियों के लिए अल्पतम और अधिकतम अनिश्चित दंड की व्यवस्था होनी चाहिए। अभ्यस्त अपराधियों के लिए बनाये गये विशेष जेलों में अपराधियों को जल्दी अथवा पेरोल पर छोड़ने के लिए विचार करने के लिए एक विशेष दर्शक समिति होनी चाहिए। उपर्युक्त तीन प्रकार के अभ्यस्त अपराधियों को अलग-अलग रखे जाना चाहिए और इनमें प्रत्येक कैदी की व्यक्तिगत प्रवृत्तियों के अध्ययन के लिए एग मनोविश्लेषक, असामान्य रोगशास्त्र में दक्ष चिकित्सक तथा एक अपराधशास्त्री होने चाहिएं। अभ्यस्त अपराधी और आवारागर्द घोषित व्यक्तियों की रिक्लेमेशन अफसर द्वारा रजिस्ट्री होनी चाहिए तथा उनकी उंगलियों की छाप तथा अन्य आवश्यक सूचनाएं लेने के अधिकार होने चाहिए। अच्छे आचरण के फलस्वरूप प्रतिबन्धों को शिथिल कर देना चाहिए। अभ्यस्त अपराधी और आवारागर्दी कानून के अन्तर्गत विद्यमान अपराधी जाति कानून के अन्तर्गत रजिस्टर्ड तथा जांच के पश्चात्, मुक्ति के अयोग्य व्यक्तियों को सेटिलमेंटों में सीमित करने का अधिकार होना चाहिए। १९३८ की तिवारी कमेटी की पंचायत संबंधी सिफारिशों को पूर्णतः कार्यान्वित किया जाना चाहिए तथा उन्हें कल्याणकारी

कार्यों के लिए दो लाख रुपये वार्षिक दिया जाना चाहिए। थानों में थाना-पंचायत होनी चाहिए। पत्रिका और पुस्तिकाओं द्वारा अपराध के निवारण के लिए प्रचार होना चाहिए।

सेटिलमेंटों का संगठन वर्गीकृत रीति पर होना चाहिए, जिसमें सबसे ऊपर रिफार्मेंटरी और सबसे नीचे स्वाधीन कालनी हो। समस्त सेटिलमेंट दो वर्ष के लिए सरकार द्वारा लिये जाने चाहिएं और बाद में पुनर्संगठित कर गैर-सरकारी संस्थाओं को सौंप दिये जाने चाहिएं। अनाथ और दुर्व्यवहार-पीड़ित बच्चों के पृथक्करण और शिक्षा की समुचित व्यवस्था होनी चाहिए।

प्रत्येक जिले में जिला मजिस्ट्रेट और पंचायत-इंस्पेक्टरों द्वारा उस जिले में अपराधी जाति के सदस्यों के बसाये जाने और रोजगार की संभावनाओं और साधनों की पड़ताल की जानी चाहिए।

अपराधियों के पुनरुद्धार में नियुक्त कर्मचारियों को उसकी उचित शिक्षा प्राप्त होनी चाहिए तथा उनमें सेवा की भावना होनी चाहिए।

अपराधी जाति कानून की हानियां. वास्तव में १९४७ की अपराधी जाति जांच-समिति की सिफारिशें अपराधी जातियों के सुधार की दिशा में एक महत्त्व-पूर्ण कदम थीं। तथाकथित अपराधी जातियों को अन्य नागरिक की भांति समान अधिकार देने का आग्रह और उनकी अयोग्यताओं को नष्ट करने का निश्चय इसकी मुख्य विशेषता थी। निस्संदेह, अपराधी जाति कानून किसी भी सभ्य और स्वाधीन राष्ट्र के लिए एक बड़ा कलंक था। इस कानून से जहां कुछ आंशिक और तात्कालिक लाभ हुए वहां उससे कहीं अधिक नैतिक, बुनियादी और स्थायी हानि हुई। किसी भी बालक के मन पर जन्म से अपराधी जाति का सदस्य होने का ज्ञान बहुत ही बुरी मनोवैज्ञानिक प्रतिक्रिया उत्पन्न करता, है और इस प्रकार हम उस वर्ग में सदा के लिए हीनता तथा उससे पृथक् वर्गों में उनके प्रति घृणा का बीज बो देते हैं।

अपराधी जाति कानून की रद्दगी. यह संतोष की बात है कि इस समिति तथा अन्य प्रांतों की ऐसी ही समितियों की सिफारिश के परिणामस्वरूप १९५२ में भारत के समस्त राज्यों में अपराधी जाति कानून रद्द कर दिया गया और उसके स्थान पर अभ्यस्त अपराधी और आवारागर्दी कानून पास किये गये।

किशोर अपराध (Juvenile Delinquency)

किशोर अपराधी. बच्चों अथवा कानून द्वारा निर्धारित एक निश्चित आयु से छोटे व्यक्तियों द्वारा किये गये दुष्कृत्यों और कानून के उल्लंघन का किशोर

अपराध में समावेश है। कानून द्वारा आवारागर्द, दुष्ट और अभ्यस्त उद्दंड बालक और किसी ऐसे बालक या तरुण को जो कि अपराधियों में रहता है, चोरों, डाकुओं, बदचलन, आवारागर्द और दुष्ट लोगों से मिलता-जुलता है, जुए के अड्डों और शराबखानों में आता-जाता है, जो बिना माता-पिता की आज्ञा के घर से अनुपस्थित रहता है और रात को इधर-उधर घूमता है, किशोर अपराधी माना जा सकता है। यही नहीं, यदि कोई बच्चा गृहविहीन अथवा भरण-पोषण के साधनों से वंचित पाया जाय तो उसे भी किशोर न्यायालय के सम्मुख संरक्षण और अपराध-निवारण के उद्देश्य से पेश किया जा सकता है। उसे किसी सर्टीफाइड स्कूल में भेजा जा सकता है अथवा किसी जिम्मेदार व्यक्ति अथवा संस्था के संरक्षण में दिया जा सकता है और यदि आवश्यकता हो तो उसे प्रोबेशन अफसर के नियंत्रण में रक्खा जा सकता है। संरक्षण में देते समय न्यायालय ऐसे व्यक्ति अथवा संस्था से उस बच्चे के सद्व्यवहार के आश्वासन के लिए उससे एक इकरारनामा भरवा सकता है।

किशोर अपराध के कारण

वातावरण से संबंधित और व्यक्तिगत. किशोर अपराध के दो कारण कहे जा सकते हैं–(१) वातावरण से संबंधित, (२) व्यक्तिगत, अर्थात् शारीरिक और मनोवैज्ञानिक। प्रौढ़ अपराध और किशोर अपराध के कारणों में कोई मौलिक मतभेद नहीं है। प्रायः देखा गया है कि किशोर अपराधी ही आगे चलकर प्रौढ़ अपराधी बनते हैं। फिर भी बालकों की अपराध वृत्ति में कुछ अन्तर है। आंखों की बीमारियों, नाक और गले के रुंध जाने, कान-दर्द अथवा दांत के रोगों, आवाज के दोषों, मूत्र रोगों, शारीरिक जलन, खुजली, सिर-दर्द अत्यधिक शक्ति, मासिक धर्म की गड़बड़ी तथा अन्य शारीरिक रोग, अथवा उचित भोजन की कमी, कुछ अंशों में बच्चों की अपराध-वृत्ति को जागृत करने में योग देते हैं। इसके अतिरिक्त, मानसिक कमजोरी, व्यक्तिक्रम, मदांधता, मिरगी तथा असाधारण मानसिक अवस्थाएं और रोग भी उन्हें अपराध की ओर प्रवृत्त करते हैं। अनेक बार, भय, भीषण भावात्मक आघात-व्याघात भी किशोर अपराध का कारण बन जाते हैं। कुछ व्यक्तियों में तो चीजें चुराना अथवा आग लगाना एक रोगी अभ्यास हो जाता है। किंतु हमें यह स्मरण रखना चाहिए कि शारीरिक और मानसिक विकारों का किशोर अपराध में बहुत गौण हाथ होता है।

बुरा वातावरण प्रमुख कारण. किशोर अपराध का प्रमुख और प्रबल कारण बुरा वातावरण है। घर की असंतोषजनक अवस्था, विशेषतः माता-पिता

के झगड़े, एक दूसरे को छोड़ देना, शराबखोरी, माता-पिता की अनैतिकता, गरीबी और रोजगार का अभाव, भीड़भाड़ में रहना, सफाई तथा अन्य सुविधाओं का अभाव, सौतेले मां-बाप की क्रूरता, अनिच्छित त्याग अथवा उपेक्षा, बुरी संगत, शिक्षा का अभाव, किशोर अपराध के मुख्य कारण हैं। माता-पिता का तलाक अथवा उनमें से स्वयं किसी का जेल में होना किशोर अपराध का एक अन्य कारण हैं। मानसिक परेशानी, असंतुलन और भावात्मक असंतुलन (Emotional maladjustment) किशोर अपराध का प्रमुख कारण है। डा० नैन्थनील हर्ष अमरीकन किशोर अपराधियों की जांच कर इस परिणाम पर पहुंचे कि उनमें से ६५ प्रतिशत किशोर अपराधी भावात्मक असंतुलन के शिकार थे। माता-पिताओं द्वारा बच्चों का शोषण भी बहुत बार किशोर अपराध का कारण बन जाता है। बहुत-से माता-पिता स्वयं बच्चों को अपराध करने की शिक्षा देते हैं अथवा उनसे भीख मांगने इत्यादि के अनुचित काम कराते हैं।

शुरू में ही किशोर अपराधियों के सुधार की आवश्यकता

किसी भी समाज के लिए किशोर अपराधियों के सुधार की समस्या अत्यधिक महत्त्वपूर्ण है। किशोर अपराधियों में से आगे के अभ्यस्त, पेशेवर और पक्के अपराधी बनकर निकलते हैं। डा० गोरिंग ने इंग्लैंड में २,२०४ अभ्यासी अपराधियों की जांच कर मालूम किया कि उनमें से ५३.३ प्रतिशत अपराधी २० साल की उम्र से पहले सजा भुगत चुके थे। इसलिये यदि हमें अपराध का समूल नाश करना है तो किशोर अपराधियों के कारणों के अन्त, उनकी चिकित्सा और निवारण की ओर तत्काल ध्यान देना होगा। बचपन का समय ऐसा है जब कि मन पर जैसी छाप डाली जाये वह प्रायः स्थायी रहती है; उसमें बालक की अभिरुचि और प्रवृत्तियों को जैसे चाहे सरलतया रचनात्मक दिशा में ढाला जा सकता है। इसलिए इस संबंध में विशेष ध्यान देने की जरूरत है।

संरक्षण, पृथक्करण और समुचित शिक्षा

किशोर अपराध मुख्यतः उचित प्रकार के संरक्षण के अभाव का परिणाम होते हैं। असंरक्षित बालकों के लिए समाज-विरोधी प्रभावों में आने और फलस्वरूप अपराधी बनने का खतरा सदैव विद्यमान रहता है। यदि इन बच्चों की उचित देख-रेख की जाये और उन्हें बुरे वातावरण से दूर रक्खा जाये तो उन्हें अच्छा नागरिक बनाया जा सकता है। उन्हें दंड देकर इस समस्या का समाधान नहीं किया जा सकता। उससे मूल कारण समाप्त नहीं होता। उसके लिए बहुत ही बुद्धिमत्ता और सावधानी अपेक्षित है। यह आवश्यक है कि किशोर अप-

धियों अथवा ऐसे बालकों को, जिनके कि अपराधी बनने का खतरा है, अच्छे सामाजिक संस्थाओं में संरक्षण प्रदान किया जाय; उनके उचित खान-पान, मनोरंजन और भावी जीविका उपार्जन के लिए कार्य सीखने और करने की सुविधाएं जुटाई जायें। उन्हें सामाजिक शिक्षा प्रदान की जाये और माता-पिता तथा अन्य दूसरे हानिकर प्रभावों से दूर रखा जाये। उन्हें उचित स्नेह और सहानुभूति प्रदान की जाये। उन पर विश्वास किया जाये और उन्हें जिम्मेदारी सौंपी जाये। यह एक महान् और विकट कार्य है और समाज पर ही इसके हल करने का दायित्व है।

किशोर कानून, न्यायालय और प्रोबेशन

किशोर अपराधियों के सुधार के लिए पृथक् व्यवस्था की आवश्यकता. वैज्ञानिक अनुसंधानों ने यह सिद्ध किया कि किशोर अपराधियों की समस्याएं प्रौढ़ अपराधियों से पर्याप्त भिन्न हैं। उन्हें सुलझाने के लिए प्रौढ़ अपराधियों पर प्रयुक्त तरीकों से पृथक् तरीके काम में लाने होंगे। पर यह अनुभव बहुत हाल की ही चीज है। आज से पचास साल पहले प्रायः सभी सभ्य कहे जानेवाले देशों में किशोर अपराधियों पर सामान्य न्यायालयों में मुकदमे चलाये जाते थे और उनके साथ प्रौढ़ अपराधियों जैसा ही व्यवहार किया जाता था। प्रायः उन्हें पुराने और प्रौढ़ अपराधियों के साथ ही जेलों में डाल दिया जाता था जिसका परिणाम बहुत बुरा होता था और वह जेल से पक्के अपराधी बनकर निकलते थे। प्रायः भूख से प्रेरित खाने-पीने के चीजों की छोटी चोरी उनकी सजा का कारण होती थी। न्यायालय उन परिस्थितियों का ख्याल नहीं करते थे जिनके कारण कि उन्हें अपराध करने पर मजबूर होना पड़ा। कानून अपराधी की परवाह न कर अपराध की परवाह करता था, यहां तक कि किशोर अपराधी फांसी तक की सजा से मुक्त न थे।

सुधार के प्रयत्न. पिछली शताब्दी में इन कानूनी भीषणताओं का प्रथम बार तीव्र अनुभव किया गया तथा इंग्लैंड इत्यादि देशों में तत्संबंधी कानून पास हुए। १८५४ में इंग्लैंड में रिफार्मेटरी स्कूल कानून पास हुआ। १८७९ में एक समरी जूरिस्डिक्शन एक्ट पास हुआ जिसके अनुसार चोरी इत्यादि अपराधों के लिए उसकी परिस्थितियों को ध्यान में रख न्यायालय किशोर अपराधी के दंड को कम, स्थगित, अथवा बिलकुल ही क्षमा कर सकता था। १८८७ में प्रोबेशन आफ फर्स्ट अफेन्डर्स एक्ट पास हुआ, जिसमें निर्धारित परिस्थितियों में सशर्त रिहाई की व्यवस्था थी। १९०७ के प्रोबेशन आफ अफेन्डर्स एक्ट ने अपराधी से

व्यक्तिगत व्यवहार के संबंध में न्यायालयों को विस्तृत अधिकार प्रदान किये। १९२५ में १०९७ के प्रोबेशन आफ अफेन्डर्स एक्ट, १९०८ के प्रिवेंशन आफ क्राइम एक्ट और १९१४ के क्रिमिनल जस्टिस एडमिनिस्ट्रेशन एक्ट और १९०८ में चिलरन एक्ट का एकीकरण किया गया और उसके पश्चात् १९२५ में क्रिमिनल जस्टिस एक्ट, १९२६ में क्रिमिनल जस्टिस एमेंडमेंट एक्ट, तथा १९३३ में चिलरन और यंग परसन एक्ट पास हुए। १९३३ के एक्ट में संरक्षक और निवारक कार्यो की व्यवस्था थी।

भारत में १६ साल से कम उम्र के बच्चों को जेल से बचाने के लिए सर्वप्रथम प्रयास १८५० में हुआ और उसी साल अप्रेंटिस एक्ट पास हुआ, जिसके अनुसार १० से १८ साल की उम्र के बच्चों को छोटे-मोटे अपराध करने अथवा भुखमरी की परिस्थितियों में अप्रेंटिस बनाने का अधिकार दिया गया। १८७६ के पहले एक्ट के स्थान पर १८९७ में रिफार्मेटरी स्कूल के आठवें एक्ट के अनुसार बम्बई प्रेसीडेंसी में १६ तथा अन्य प्रेसीडेंसियों में १५ साल से कम उम्र के अपराधी बच्चों के लिए रिफार्मेटरी स्कूल स्थापित करने की व्यवस्था की गई। न्यायालय उन्हें जेल में भेजने के बजाय २ से ७ साल के लिए इन स्कूलों में भेज सकता था। १४ साल से अधिक उम्र के लड़कों को उचित रोजगार मिलने पर लाइसेंस देकर छोड़ा जा सकता था। किंतु इस कानून में लड़कियों के निरोध की कोई व्यवस्था नहीं थी। १९१७ में इस भूल का संशोधन हुआ और उसी साल पश्चिमी भारत में बाल-संरक्षण समिति की स्थापना हुई। १९२४ में बम्बई में, १९२८ में मध्यप्रदेश में, १९२२ में बंगाल और १९५२ में उत्तर प्रदेश में बालक कानून पास हुआ। इनमें प्रायः १९३३ के एकीकृत कानून का अनुसरण किया गया था। अंग्रेजी कानून की भांति इसमें भी बच्चों के संरक्षण और अपराध-निवारण तथा प्रोबेशन, अर्थात् सदाचरण तथा उसके भंग करने पर दण्डित होने के वचन पर छोड़े जाने की व्यवस्था है। १९४८ का बम्बई बालक कानून इस दिशा में एक और प्रगतिशील कदम है। इसके अन्तर्गत १६ साल से कम उम्र के अपराधी व्यक्तियों के मुकदमे किशोर न्यायालय द्वारा सुने जाते हैं। कोई अधिकृत व्यक्ति या पुलिस अफसर किशोर न्यायालय के सम्मुख गृहविहीन, किंवा जीविका-साधन-विहीन अथवा कंगाल माता-पिता के जेल में होने, अथवा संरक्षण में दिये गये अभिभावक के अयोग्य होने, अथवा चोरों अथवा वेश्याओं के सम्पर्क में होने, अथवा अन्य किसी नैतिक खतरे में होने के कारण, किसी बालक को न्यायालय के सम्मुख उपस्थित कर सकता है। न्यायालय अपराधी बालक को सर्टीफाइड स्कूलों, गृहों तथा किसी उचित संबंधी के हाथ में दे सकता है। किशोर अपराधियों को प्रोबेशन अफसरों

के निरीक्षण में रखने की व्यवस्था है। इसके अतिरिक्त, बालकों पर किसी प्रकार की क्रूरता करने अथवा उनसे भीख मंगवाने के लिए भी दण्ड की व्यवस्था है। पुलिस को अधिकार है कि वह किसी बच्चे के हाथ से तम्बाकू या तम्बाकू की कोई पेय वस्तु छीन ले।

अन्य प्रांतों या राज्यों के बालक-कानून भी इससे मिलते-जुलते हैं। उत्तर प्रदेश ने १९५२ में एक विस्तृत संशोधित बालक-एक्ट पास किया।

किशोर-न्यायालय

किशोर-न्यायालय साधारण न्यायालयों से भिन्न होते हैं। यहां पर सब लोगों के सामने अभियोग नहीं सुने जाते। इस न्यायालय का उद्देश्य दण्ड देना नहीं, प्रत्युत् बालक का संरक्षण होता है। इसका अध्यक्ष एक भत्ताप्राप्त मजिस्ट्रेट होता है जो कि एक अथवा दो अवैतनिक स्त्री मजिस्ट्रेटों के साथ बैठता है। किशोर न्यायालय के मजिस्ट्रेट अथवा न्यायाधीश बच्चों के कल्याण की समस्या में गहरी दिलचस्पी रखते हैं। इस संबंध में बम्बई का किशोर-न्यायालय एक आदर्श संस्था है। यह न्यायालय के बजाय, एक सम्मेलन का कमरा-सा लगता है। यहां पर सिपाही साधारण कपड़ों में जाते हैं। अभियुक्तों की बात को बहुत सहानुभूति से सुना जाता है और सारी परिस्थितियों का बड़े ध्यान से अध्ययन किया जाता। इस कार्य के लिए चिकित्सक, मनोविश्लेषक और मनोवैज्ञानिक की सहायता ली जाती है तथा बच्चे के संरक्षण का प्रत्येक प्रयत्न किया जाता है। इस बात की बड़ी आवश्यकता है कि समस्त प्रांतों और शहरों में ऐसे ही किशोर-न्यायालय स्थापित हों।

प्रोबेशन और निरीक्षण-कार्य

अपराध-निवारण और सामाजिक सुरक्षा की दिशा में प्रोबेशन एक महत्त्वपूर्ण संस्था और देन है। प्रोबेशन अफसरों के प्रादुर्भाव से पहले अपराधियों के सद्व्यवहार का दायित्व लेने का कार्य स्वयं कुछ नागरिकों ने प्रारंभ किया। इन प्रारंभिक स्वयंसेवकों में बोस्टन के एक मोची का उदाहरण बहुत प्रसिद्ध है। १८४९ में यह नशे के अपराध में स्वयं अपना जामिन बनकर छूटा। बाद में वह एक अच्छा नागरिक बन गया और उसने स्वयं २५३ अपराधी पुरुषों और १४९ स्त्रियों का जामिन बनना स्वीकार किया। इसका परिणाम बहुत ही उत्साह-वर्द्धक रहा। अधिकांश अपराधियों ने पुनः अपराध नहीं किये। परिणामतः, अनेक राज्यों में प्रोबेशन और पेरोल के कानून पास किये गये।

बालक-कानूनों के परिणामस्वरूप भारत में प्रोबेशन अफसर नियुक्त कर दिये गये हैं। अपराधियों के प्रोबेशन कानूनों ने न्यायालयों को प्रथम बार अभियुक्त व्यक्तियों को चेतावनी दे अथवा प्रोबेशन पर छोडने का अधिकार प्रदान किया है। कोई भी व्यक्ति जो २१ अथवा २१ साल से ज्यादा उम्र का है और अधिक से अधिक सात साल की सजा पाये हुए है, तथा कोई भी स्त्री, जो कि आजन्म अथवा फांसी की सजा पाये नहीं है, प्रोबेशन पर छोड़ा या छोड़ी जा सकती है। इन रिहा व्यक्तियों को स्यूरिटी अथवा विना स्यूरिटी के एक बांड भरना पड़ता है और सदाचरण तथा तीन साल के भीतर किसी भी समय अभियोग और सजा भुगतने के लिए वचन देना होता है।

प्रोबेशन और पेरोल प्रणाली अधिकांश अपराधियों के सुधार और संशोधन के लिए एक श्रेष्ठ और श्रेयस्कर चीज है। इसका अधिकाधिक प्रयोग में लाना अपराध के निवारण के लिए सर्वथा उचित है।

बाल-समितियां, गृह, सर्टीफाइड स्कूल, उपरान्त संरक्षण-कार्य

किशोर अपराधियों के सुधार और संरक्षण तथा उन्हें अपराध से दूर रखने के लिए बाल-समितियों और औद्योगिक स्कूलों का होना आवश्यक है। बोर्सटल स्कूल इस दिशा में बहुत उपयोगी सिद्ध हुए हैं। भारतवर्ष में अंग्रेजी बोर्सटल स्कूल कानून को आवश्यक संशोधनों के बाद सभी राज्यों में स्वीकार किया जा चुका है तथा उसके लिए आवश्यक कानून बने हैं।

बम्बई और मद्रास में इस दिशा में अच्छा काम हुआ है। बम्बई का डेविड सैसून औद्योगिक स्कूल, चेम्बूर का बालगृह, पश्चिमी भारत बाल संरक्षण समिति द्वारा संचालित बैरामजी भाई बाल-गृह, पूना का यरवदा औद्योगिक स्कूल, सतारा का श्री साहू छत्रपति बोर्डिंग हाउस, नदियाड का हिंदू अनाथ-आश्रम, अहमदाबाद का महीपतराम अनाथाश्रम, स्यो (बम्बई) स्थित साल्वेशन आर्मी का कन्यागृह, नासिक का सेवासदन गृह, शोलापुर का सर्टीफाइड स्कूल, धारवाड़ का बोर्सटल स्कूल, अलीपुर का औद्योगिक स्कूल, इलाहाबाद, दिल्ली, कलकत्ता और मद्रास की बाल-सहायता-समितियां तथा अन्यान्य संस्थाएं किशोर अपराधियों के लिए अच्छा कार्य कर रही हैं। किशोर अपराधियों की संख्या और आवश्यकताओं को देखते हुए अभी इनकी संख्या, सामर्थ्य और साधन बहुत ही कम हैं। प्रत्येक नगर में इस प्रकार की संस्थाओं का होना आवश्यक है।

किशोर अपराधियों के सुधार की समस्या केवल स्कूलों से ही हल नहीं हो जाती, उसके लिए यह भी आवश्यक है कि उनसे निकलने के बाद भी उनके नियं-

त्रण और सहायता की आवश्यकता रह जाती है। यह कार्य उपरान्त संरक्षण समितियों (After Care Associations) द्वारा किया जा सकता है। इन समितियों का कर्तव्य है कि वह रिहा बच्चों को रहने और काम ढूंढ़ने की सुविधा दें। बम्बई में इस कार्य के लिए एक प्रांतीय प्रोबेशन और उपरांत संरक्षण-समिति है जिसकी विभिन्न शाखाएं हैं जो कि किशोर अपराधियों की सहायता करती हैं। इस प्रकार की संस्थाओं की सब प्रांतों में खुलने की आवश्यकता है।

संयुक्त राष्ट्र-संघ की रिपोर्ट. संयुक्त राष्ट्र-संघ के सामाजिक कार्य-विभाग ने १९५३ में 'भारत में किशोर अपराधियों के प्रति व्यवहार' नामक एक उपयोगी रिपोर्ट प्रस्तुत की है। इससे ज्ञात होता है कि हमारे यहां किशोर अपराधियों के सुधार, संरक्षण और सहायता की समस्याओं का बहुत अभाव है। हमारे यहां केवल ३१ सर्टीफाइड स्कूल और ४ रिफार्मेटरी हैं। अधिकांश किशोर अपराधियों को प्रौढ़ अपराधियों के सुधार के लिए स्थापित संस्थाओं में ही रहना पड़ता है। किशोरों की विशेष संस्थाओं में भी मनोविश्लेषक और मनोवैज्ञानिक नहीं रखे जाते तथा वहां के कार्यकर्ताओं को पुनर्शिक्षण की सुविधाएं नहीं मिलतीं। उपरांत संरक्षण-सेवाओं का भी प्रायः अभाव है और वह मुख्यतः पेरोल काल में देख-रेख तक ही सीमित हैं।

भारत में दंड-व्यवस्था (Penal-system)

भारत में अपराध के विभिन्न पहलुओं और समस्याओं के ऊपर विचार कर लेने के पश्चात्, संक्षेप में यहां विद्यमान दण्ड-व्यवस्था और उसके दोषों पर भी विचार करना आवश्यक हो जाता है। इससे पहले कि हम उसकी कुछ समालोचना करें, यहां के दण्ड-संगठन को समझना जरूरी है।

हर प्रांत में तीन प्रकार के जेल हैं, (१) केंद्रीय जेल, जिनमें १००० से अधिक व्यक्ति रहते हैं, (२) जिला जेल, (३) किशोर अपराधियों के लिए विशेष जेल, जैसा कि उत्तर प्रदेश में बरेली में है। जिला जेल अपराधियों की संख्या और सजा के अनुसार पांच श्रेणियों में विभक्त हैं। जेल का प्रमुख अधिकारी सुपरिंटेंडेंट होता है, जो कि प्रायः सिविल सर्जन होता है। उसकी सहायता के लिए एक जेलर, जिसकी कि अपेक्षित योग्यता मैट्रिक होती है, तथा एक सब-असिस्टेंट सर्जन के पद का डाक्टर होता है। उसके नीचे सरकारी काम के लिए वार्डर होते हैं। बहुत-से जेलों में कैदी अफसर भी होते हैं। अपराधी अफसरों की तीन श्रेणियां होती हैं—रात के चौकीदार, अपराधी अफसर और अपराधी वार्डर। कार्य के अनुसार पहली से दूसरी और दूसरी से तीसरी श्रेणी में तरक्की होती है।

जैसे ही अपराधी जेल में आता है एक ३½ इंच लम्बी और दो इंच चौड़ी

लकड़ी की पट्टी उसके गले में बांध दी जाती है जिस पर उसकी श्रेणी, पहली सजाओं की संख्या, रजिस्टर नम्बर, सजा, दफा और रिहाई की तारीख लिखी होती है। यदि वह सामान्य अपराधी है तो उसे जेल से दी गई लाल टोपी और लाल धारीवाली कुरती और निकर, यदि अभ्यस्त अपराधी है, तो उसे नीली धारीवाले कपड़े पहनने पड़ते हैं। उससे इतवार को छोड़ ९ घंटे रोज काम लिया जाता है और उसे प्राय: १४ छटांक अनाज का राशन तथा दो छँटाक भुने चने मिलते हैं। हवालाती, न काम करनेवाले तथा स्त्रियों के राशन में कुछ कमी और अन्तर होता है। गरमी में हर कैदी को सोने के लिए एक कम्बल और एक मूंज की चटाई मिलती है। जाड़े में एक और कम्बल तथा एक कम्बल की कुरती मिलती है।

किशोर अपराधियों के जेलों में सामान्य जेलों से विशेष अन्तर नहीं होता। नि:संदेह यहां पर रोज का कार्यक्रम अन्य जेलों से पर्याप्त भिन्न होता है। यहां अधिक प्रकार के काम सीखने के अतिरिक्त, पढ़ने तथा धार्मिक शिक्षा की भी सुविधा होती है।

संक्षेप में यह हमारे जेल-जीवन की झांकी है।

भारतीय जेल-व्यवस्था के दोष

पिछले पचास सालों में हमारी जेल-व्यवस्था में पर्याप्त सुधार हुए हैं। समय-समय पर नियुक्त जेल-जांच-समितियों ने इस दिशा में अच्छे सुझाव दिये हैं। बावजूद इसके, इसमें अभी अनेक भीषण दोष विद्यमान हैं जिनका शीघ्र निवारण अत्यावश्यक है।

कर्मचारी. सर्वप्रथम हमारे यहां जो लोग जेल-व्यवस्था का शासन कर रहे हैं, उनमें से सुपरिंटेंडेंट एक अल्पकालीन कार्यकर्त्ता है। जेलर अपराधशास्त्र, मनोविज्ञान तथा अपराधियों के संशोधन के विज्ञान और कला से अनभिज्ञ हैं, अशिक्षित वार्डर और अपराधी अफसर तो इसके लिए और भी अनुपयुक्त हैं। आधुनिक दण्डशास्त्र अपराधी की व्यक्तिगत चिकित्सा की आवश्यकता पर बल देता है। इसके लिए यह आवश्यक है कि जेलों में विशेषज्ञ और पूरा समय देने वाले सुपरिंटेंडेंटों की नियुक्ति हो। उसके चुनाव में उतनी ही सावधानी की आवश्यकता है, जितनी कि किसी चिकित्सालय अथवा कलिजों के अध्यक्ष के चुनाव में बरती जाती है। सुपरिंटेंडेंटों के लिए बहुमुखी योग्यता के व्यक्तियों की आवश्यकता है जिनमें अनुशासन, नियंत्रण, संगठन, प्रशासन और साथ ही साथ मार्ग-दर्शन और सुधारने की क्षमता हो। इसी प्रकार जेल की सेवा में जानेवाले अन्य कर्मचारियों को भी कैदियों के नियंत्रण, उनके सुधार के लिए विशेष ट्रेनिंग और वैज्ञानिक दृष्टिकोण को अपनाने की आवश्यकता है।

वर्गीकरण और सुविधाएं. केन्द्रीय जेलों के वर्गीकरण में भी कुछ संशोधन की आवश्यकता है। जैसा कि जेल-जांच-कमेटी की रिपोर्ट है, प्रथम या सामान्य तथा अभ्यस्त अपराधियों के लिए पृथक् जेल होने चाहिएं। इन दोनों का पृथक् रखना जरूरी है तथा एक ही बैरक में साथ-साथ सोने की व्यवस्था में भी परिवर्तन जरूरी है। इसके अतिरिक्त कैदियों के भोजन-वस्त्रों में भी कुछ सुधार की गुंजाइश है। अच्छे पुस्तकालयों तथा स्वस्थ मनोरंजन की सुविधाओं का जुटाना उचित शिक्षा का अनिवार्य अंग है।

काम लेने के तरीके. विद्यमान काम लेने के तरीके में भी परिवर्तन होना चाहिए। हमारे यहां कैदियों से चक्की पिसाने, कालीन, चादर बनाने अथवा मूंज बटाने के एक-से ही काम लिये जाते हैं, जिनकी विशेष आर्थिक उपयोगिता नहीं है। यह उचित होगा कि हम उन्हें कृषि तथा अन्य आर्थिक उद्योगों में लगायें, जिससे वह छूटकर उनमें लग सकें।

उपर्युक्त विवेचन से स्पष्ट है कि हमारे जेलों में आमूलचूल संशोधन की आवश्यकता है। विद्यमान जेल अपराधी के सुधार में असफल रहे हैं। सुधार तो दूर वह वहां से और भी पक्के अपराधी बनकर निकलते हैं। आवश्यकता इस बात की है कि उनसे ऐसा व्यवहार हो जिससे उनके दृष्टिकोण में परिवर्तन हो और वह शांतिप्रिय नागरिक बन सकें।

संयुक्त राष्ट्र-संघ की रिपोर्ट. अक्तूबर १९५३ में संयुक्त राष्ट्र-संघ के विशेषज्ञ प्रसिद्ध अपराधशास्त्री डॉ० वाल्टर रैक्लस ने भारतीय जेल-प्रशासन पर अपनी रिपोर्ट में इस बात का निर्देश किया है कि भारतीय जेलों में अच्छी मानव-सामग्री है जिसको कि सरलता से अच्छे नागरिकों में परिवर्तित किया जा सकता है। बावजूद निर्धनता के, यहां पर पागल और पतित व्यक्तियों का विशेष अभाव है। इसका अर्थ है कि पुलिस और न्यायालय उन लोगों को दण्डित कर रहे हैं जो कि जेल से बाहर व्यक्तियों से भिन्न नहीं हैं।

पुनर्वासन की उपेक्षा. दूसरी विशेष बात, जिस ओर उन्होंने हमारा ध्यान आकृष्ट किया, यह है कि हमारे यहां पुनर्वासन पहलू पर बिल्कुल भी ध्यान नहीं दिया गया है। भारत में जेलों में कुछ प्रगतिशील बोर्स्टल और सर्टीफाइड स्कूलों के कुछ विशिष्ट संकेतों के बावजूद अभी भी यहां पर कैदियों को सस्ते में कैद रखने पर विशेष जोर है। जेलों में वैचित्र्य का सर्वथा अभाव है, प्रायः सभी एक ढर्रे पर हैं। उदाहरणार्थ, अधिकांश कृषक कैदियों के होते हुए भी, कैदियों के कोई कृषि फार्म नहीं हैं।

निषधात्मक पहलुओं पर जोर. इसके अतिरिक्त, जेल-शासन के सुधार के

प्रोग्राम भारत में बिखरे हुए और आंशिक हैं। उनके एकीकरण की आवश्यकता है। जेलों के इंस्पेक्टर जनरल के कार्यालय का ध्यान केवल निरीक्षण तथा विद्यमान व्यवस्था के संरक्षण के निषेधात्मक पहलुओं पर ही केन्द्रित है; रचनात्मक पहलुओं, जैसे कि प्रगतिशील परीक्षणों को शीघ्र अपनाने, सुपरिंटेंडेंटों में पूरा विश्वास करने, स्थानीय परीक्षणों की स्वीकृति तथा नये विचारों और योजनाओं को अपनाने तथा निम्न कर्मचारियों को कैदियों के लिए कुछ सहायक कार्य करने, पर नहीं है।

जेल-विभाग एक उपेक्षित विभाग प्रतीत होता है तथा सरकार और जनता दोनों इसे रिश्वतखोर और क्रूर विभाग समझते हैं।

कैदियों की समस्याओं, सुधार और सेवा-कार्य में दक्ष जेल-कर्मचारियों और अधिकारियों के अभाव की भी रिपोर्ट में कड़ी आलोचना की गई है।

जेलों में शिक्षा-सुविधाओं का सर्वथा अभाव है। श्रम से अधिक कैदी की शिक्षा को महत्त्व मिलना चाहिए।

जेलों के विकल्पों की आवश्यकता. रिपोर्ट में जेल के विकल्प की जबर्दस्त पैरवी की गई है। सरकार, मजिस्ट्रेटों, पुलिस और जेल-अधिकारियों से जेल के स्थान पर अन्य विकल्पों, जैसे कि अवधि से पूर्व रिहाई तथा अधिकांश अपराधियों के लिए प्रोबेशन-पद्धति को अपनाने की सिफारिश की गई है।

डॉ० रैक्लस की राय में यहां पर सजाओं की अवधि अनावश्यक रूप से अधिक है। रिपोर्ट में अधिक उपरांत संरक्षण (After-care) कार्य को बढ़ाने का भी सुझाव दिया गया है।

सामाजिक सुधार. अपराध, उसके कारणों, भारत में उसके विभिन्न पहलुओं के अध्ययन और आलोचना के बाद हम यह कह सकते हैं कि बिना अपने आर्थिक और सामाजिक ढांचे में आमूलचूल परिवर्तन और सुधार किये अपराध का अन्त नहीं किया जा सकता। अपराध, जैसा कि सामान्य लोगों की धारणा है, कोई व्यक्तिगत त्रुटि नहीं है जिसकी कि दंड द्वारा चिकित्सा की जा सकती हो। यह एक सामाजिक रोग है। किसी ने ठीक कहा है कि "प्रत्येक समाज में उतने अपराधी होते हैं जितने का वह पात्र है।" जब तक प्रलोभन विद्यमान है, जब तक आर्थिक संगठन सबको समान सुविधाएं प्रदान नहीं करता, प्रत्युत् अनुचित निर्धनता और निष्क्रिय विलासिता, मजबूरन बेकारी और विलास-वस्तुओं के उत्पादन को कायम रखता है, तब तक व्यक्ति अपराध करेंगे। बेकारी और विलासिता का अंत आवश्यक है ताकि प्रत्येक व्यक्ति अपने और अपने परिवार के लिए पर्याप्त अर्जन कर सके।

सुप्रजनन और शिक्षा. निःसंदेह इससे अधिकांश अपराधों की समाप्ति में सहायता मिलेगी, परन्तु अपराध के पूर्ण उच्छेद के लिए हमें इसके अतिरिक्त सुप्रजनन (Eugenics) के सिद्धांतों, अवांछित व्यक्तियों की संतति-उत्पत्ति को रोकना तथा सामाजिक शिक्षा को अपनाना होगा, जिसमें विद्यमान शिक्षा की भांति प्रचुर संपत्ति और शक्ति के संचय पर बल न देकर, सच्चे श्रम पर बल होगा।

निवारण और सुधार मुख्य उद्देश्य. निकट भविष्य में अपराध से पूर्ण मुक्ति की आशा नहीं की जा सकती। अतः जब तक अपराधी रहेंगे हमें उनसे निपटना होगा। पर उनके संबंध में हमारी क्या नीति होगी या होनी चाहिए, यह एक महत्वपूर्ण प्रश्न है। संक्षेप में न उसका उद्देश्य बदला लेना होगा और न केवल अपराध करने से रोकना, बल्कि अपराधी को पूर्णतया सुधारना होगा, ताकि वह भी सामज के अन्य सदस्यों की भांति स्वस्थ, सच्चा और सम्मानित जीवन व्यतीत कर सके। एक वाक्य में, भावी अपराध का निवारण तथा वर्तमान अपराधी का सुधार हमारा मुख्य उद्देश्य होगा।

आठवां अध्याय

श्रम और श्रमिक कानून

श्रम और समाज

किसी भी समाज के सदस्यों के स्वास्थ्य, सम्पत्ति और समृद्धि की बुनियाद उसका श्रम है। यही मानव-जीवन की आर्थिक क्रियाओं का मूल, प्रारम्भिक तत्त्व और पूंजी का जन्मदाता है। इसीलिए अनेक बार पूंजी को पूंजीभूत या संचित श्रम कहा गया है। निस्संदेह उत्पादन में भूमि के अतिरिक्त, श्रम का केन्द्रीय स्थान है। उत्पादन के अन्य साधनों—भूमि और पूंजी की तुलना में, श्रम और उनमें कुछ मौलिक अन्तर हैं। श्रम उत्पादन का एक सजीव साधन है। उसका सम्बन्ध मानव से है, अतः उसमें मानवीय सुख-दुःख और नैतिक तत्त्वों का समावेश स्वाभाविक है।

मानव जाति आज जितनी भी प्रगति कर सकी है उसका रहस्य उसके पीछे अन्तर्हित अध्यवसाय और श्रम में ही छिपा हुआ है। किसी भी समाज की सम्पत्ति और प्रगति बहुत अंशों में उसके श्रमिकों की उन्नत स्थिति और कार्यक्षमता पर ही निर्भर है। अतः सामाजिक कल्याण और सुरक्षा की योजना में श्रमिकों के कल्याण और सुरक्षा का महत्त्वपूर्ण स्थान है।

जब तक श्रमिक या मजदूर उत्पादन-यंत्रों के स्वयं ही मालिक थे, तब तक और किसी दूसरे वर्ग द्वारा उनके शोषण की संभावना समाज के संरक्षण की जरूरत न थी। औद्योगिक क्रान्ति (Industrial Revolution) ने उत्पादन के साधन उनसे छीन लिये और उन्हें दूसरे मालिकों के नीचे, अपने घरों से दूर, बड़े और गंदे कारखानों में काम करने तथा अस्वच्छ और अस्वास्थ्यकर वातावरण में रहने पर मजबूर किया, और इस प्रकार वर्तमान श्रम-कल्याण और सुरक्षा की समस्याओं का जन्म हुआ और समाज द्वारा इस दिशा में आवश्यक कदम उठाने और कानून बनाने की आवश्यकता अनुभव हुई।

भारत में श्रमिकों की स्थिति

पिछली शताब्दी में हमारे यहां उद्योगीकरण का प्रारम्भ हुआ और तब से निरंतर यहां पर बड़े पैमाने पर चलनेवाले उद्योगों में काम करनेवाले मजदूरों की संख्या बढ़ती जा रही है। आजकल हमारे यहां लगभग २८·५ लाख मजदूर

कारखानों, ५ लाख खानों, ११.५ लाख बगानों, १४ लाख रेलवे में (ठेकेदारों के नीचे काम करनेवाले ५ लाख मजदूरों की संख्या भी इसमें सम्मिलित है), २ लाख डाक-तार विभाग, ४ लाख सार्वजनिक निर्माण-विभाग, ३ लाख बन्दरगाहों तथा ३ लाख जहाजों (इनमें से नाविकों की संख्या कुल ६० हजार है) पर काम कर रहे हैं। इसके अतिरिक्त, लगभग ३५ लाख भूमिहीन खेतिहर मज़दूर हैं, जो खेतों पर मजदूरी करते हैं।

मजदूरों की एक बड़ी संख्या अनियंत्रित उद्योगों में भी लगी हुई है। लगभग ५ लाख मजदूर बीड़ी बनाने, १·४ लाख अभ्रक-उद्योग, ३० हजार चमड़ा-उद्योग, ७ हजार कालीन बुनने, ७० हजार चटाई और रस्सियां बनाने तथा १० हजार चूड़ी बनाने में लगे हुए हैं। इस प्रकार के कारखानों में काम करनेवाले मजदूरों की संख्या लगभग १० लाख कूती गई है।

१. **निष्क्रमणात्मक (Migratory) रूप और कृषक पृष्ठभूमि.** भारतीय उद्योगों में काम करनेवाले अधिकांश मजदूर जिन स्थानों पर कार्य करते हैं, उन्हें वह अपने निवास का स्थायी स्थान नहीं समझते। कुछ कुशल मजदूरों को छोड़, उनमें से अधिकांश गांवों से आते और प्रायः वहां पर लौटकर जाते रहते हैं। यद्यपि भारतीय संगठित उद्योगों में काम करनेवाले अधिकांश मजदूर गांवों से आते हैं पर वह वस्तुतः स्वयं किसान नहीं होते। केवल वही मजदूर, जो कि मौसमी कारखानों में काम करते हैं, ऐसे होते हैं जो कि साथ-साथ खेती भी करते हैं। सामान्यतः संगठित उद्योगों में काम करनेवाले मजदूरों का गांवों में जाने का उद्देश्य खेती न होकर, आराम करना, अपने परिवार के सदस्यों से जो कि प्रायः वहीं रहते हैं, मिलना, शादी-ब्याह, बीमारी, उत्सवों इत्यादि में उपस्थित होना होता है। यह सत्य है कि ये मजदूर किसान नहीं होते, पर इनकी मनोवृत्ति गांववालों जैसी होती है। इस प्रकार हम देखते हैं कि पाश्चात्य देशों की भांति हमारे औद्योगिक नगरों में मजदूरी करनेवाले मजदूरों की स्थायी जनसंख्या नहीं है। श्रमिकों की उन्नत कार्यक्षमता और उद्योगों के सुचारु संचालन के लिए यह आवश्यक है कि औद्योगिक केन्द्रों में एक स्थायी मजदूर-आबादी का विकास हो। भारतीय श्रमिकों की निष्क्रमणशीलता को लेकर पर्याप्त आलोचना हुई है। कुछ विद्वानों की सम्मति में औद्योगिक विकास के मार्ग में यह बड़ी बाधा है। इसके विपरीत, कुछ अन्वेषकों का मत है कि भारत की विशेष परिस्थितियों को देखते हुए शहरों में काम करनेवाले मजदूरों का गांवों से सम्पर्क होना उनके स्वास्थ्य की दृष्टि से अच्छी चीज है। अतः इसे बिल्कुल समाप्त करना उचित न होगा। बेहतर होगा कि उसे प्रोत्साहित और नियंत्रित किया जाय।

२. **भर्ती** (Recruitment) **के दोषपूर्ण तरीके और उनका सुधार.** मजदूरों की भर्ती उन्हें रोजगार दिलाने की दिशा में पहला कदम है। उनकी भर्ती किस प्रकार की जाती है, इसका उनकी कुशलता और उद्योगों की सफलता पर प्रत्यक्ष प्रभाव पड़ता है। प्रारम्भ में बड़े कारखानों और बगानों के लिए मजदूरों की भर्ती करने के मार्ग में पर्याप्त कठिनाइयां उपस्थित हुई। तत्कालीन काम करने की अत्यन्त असंतोषजनक अवस्थाएं तथा गांवों के साथ मजदूरों का अत्यधिक मोह भी इसके लिए मुख्यतः उत्तरदायी था। इन परिस्थितियों ने मध्यस्थों (Intermediaries) द्वारा भर्ती की पद्धति को अपनाने की आवश्यकता उपस्थित की। श्रमिकों के निष्क्रमणशील स्वभाव ने भर्ती की वैज्ञानिक और व्यवस्थित पद्धति को अपनाने में कठिनाई पैदा की। आज संगठित और असंगठित, दोनों ही उद्योगों में भर्ती, मुख्यतः मध्यस्थों द्वारा की जाती है। यह मध्यस्थ भारत के विभिन्न भागों में सरदार, मिस्त्री, मुकद्दम, चौधरी, टंडेल इत्यादि नामों से जाने जाते हैं। इन्हें मजदूरों के रखाने पर विशेष कमीशन या फीस मिलती है। मजदूरी प्राप्त करने के लिए मध्यस्थों पर निर्भरता ने अनेक बुराइयों को जन्म दिया है। प्रायः यह बीच के दलाल काम दिलाने के लिए असहाय और जरूरत-मंद मजदूरों से अनुचित रकमें ऐंठते है तथा अपने रिश्तेदारों और जान-पहचान वालों से अनुचित पक्षपात करते हैं। इस प्रकार भर्ती के क्षेत्र में भ्रष्टाचार और पक्षपात का जोर है। मध्यस्थों द्वारा भर्ती ने मजदूरों की निष्क्रमणशीलता तथा हेर-फेर (turn over) को भी बहुत बढ़ा दिया है। बार-बार रिश्वत मिलने के लोभ में मध्यस्थ सरदार मजदूरों को अनेक बार अनुचित रीति से बर्खास्त कराने में नहीं हिचकते। स्त्रियों की भर्ती में तो यह शोषण और भी अधिक है। प्रायः स्त्रियों को काम दिलानेवाली नायिकाएं अच्छे चरित्र की नहीं होतीं और अनेक बार वह स्त्री मजदूरों को अनैतिक कार्य करने के लिए बाध्य करती हैं। इसके अतिरिक्त ठेकेदारों के नीचे काम करनेवाले मजदूरों की स्थिति तो और भी शोचनीय है।

आज सभी इस बात को स्वीकार करते हैं कि मध्यस्थों द्वारा मजदूरों को भर्ती करने का तरीका सर्वथा असंतोपजनक और अनुचित है। पिछले सालों में इन मध्यस्थों के प्रभुत्व को नष्ट करने के अनेक प्रयत्न हुए हैं। पर अभी तक इस दिशा में विशेष सफलता नहीं मिल सकी है। बंबई, शोलापुर और कानपुर इत्यादि औद्योगिक केन्द्रों में बदली पद्धति को अपनाकर इसके दोषों को कम करने की कोशिश की गई है। इसके अंतर्गत पहले काम किये हुए मजदूरों को भर्ती के समय तरजीह दी जाती है। बावजूद इसके, भर्ती में भ्रष्टाचार और शोषण अभी भी

पर्याप्त प्रचलित है। उक्त भ्रष्टाचार और शोषण का अंत करने के लिए मालिकों द्वारा मजदूरों की सीधी भर्ती होनी चाहिए। श्रम-विनिमय (Labour Exchange) दफ्तर इस दिशा में महत्त्वपूर्ण कार्य कर सकते हैं। बड़े कारखानों में यह काम लेबर अफसरों के जिम्मे होना चाहिए। युद्ध के बाद अनेक स्थानों में रोजगार-दफ्तरों की स्थापना हुई है और उन्होंने कुछ उपयोगी कार्य भी किये हैं, लेकिन अभी इस दिशा में बहुत कुछ करना बाकी है। हमारे रोजगार-दफ्तरों की कार्य-पद्धति भी दोषरहित नहीं है और उसमें पर्याप्त सुधार की आवश्यकता है। इसके अतिरिक्त, उनकी संख्या भी बहुत कम है अतः उसका पर्याप्त विस्तार होना चाहिए।

३. अत्यधिक अनुपस्थिति (Absenteeism) **और हेर-फेर** (turnover). किसी संगठित उद्योग की सफलता बहुत कुछ उसमें लगे श्रमिकों के अनुभव और कार्यक्षमता पर निर्भर है। इसके लिये यह आवश्यक है वह कम से कम अनुपस्थित हों और उनमें कम से कम हेर-फेर हो। हमारे उद्योगों की अवस्था इस दिशा में बहुत ही असंतोषजनक है। हमारे यहां मजदूरों की अनुपस्थिति और हेर-फेर का अनुपात अत्यधिक है। १९५० में कपड़ा-उद्योग में बम्बई में १२·३, मद्रास में १२·० तथा कानपुर में १५·६ प्रतिशत अनुपस्थिति का अनुपात था। कोयले की खानों में यह अनुपात झरिया में १०·८, रानीगंज में १२·६ तथा मध्य प्रदेश में १५·८ प्रतिशत था। १९४७-४८ में आसाम के बगानों में अनुपस्थिति का अनुपात २२·८ प्रतिशत था। प्रायः मजदूर के अनुपस्थित होते ही उसके स्थान पर नया मजदूर रख लिया जाता है। इस प्रकार मजदूर की अनुपस्थिति को आंकड़ों में नहीं जोड़ा जाता। अतएव अनुपस्थिति का अनुपात आंकड़ों में दिखाये अनुपात से कहीं अधिक है। इसके अतिरिक्त, हमारे यहां मजदूरों का हेर-फेर भी अत्यधिक है। कपड़ा-उद्योग में इसका अनुपात प्रायः ६, सिमेंट-उद्योग में २, तथा जूट-उद्योग में तो ९·९ प्रतिशत है।

बीमारी, काम करने और रहने की असंतोषजनक अवस्थाएं, मद्यपान मजदूरों की अनुपस्थिति के मुख्य कारण हैं। इसके अतिरिक्त, काम करने की अवस्थाओं से असंतोष, अपर्याप्त मजदूरी, बुढ़ापा और पारिवारिक स्थिति मुख्यतः मजदूरों के अत्यधिक हेर-फेर के कारण हैं जिसके लिए कि उन्हें इस्तीफा देना पड़ता है। अत्यधिक बर्खास्तगी भी उसे बढ़ाती है।

श्रमिकों की अत्यधिक अनुपस्थिति और हेर-फेर को घटाने के लिए सबसे आवश्यक कदम उनके काम करने और रहने की अवस्थाओं में समुचित सुधार, पर्याप्त मजदूरी और अनुचित बर्खास्तगी पर नियंत्रण है।

४. **श्रम-संगठनों का असमुचित विकास.** मालिकों के अनुचित शोषण से बचने, मजदूरी के निर्धारण में अपना हाथ बटाने, अपने कल्याण की वृद्धि और अपने हितों की रक्षा के लिए मजदूरों का श्रम-संघों (Labour Unions) में संगठन अनिवार्य हो जाता है। इस भांति मजदूरों के आर्थिक, सामाजिक, यहां तक कि राजनैतिक हितों को, बढ़ाने में श्रम-संघों का महत्त्वपूर्ण स्थान है।

बड़े पैमाने के उद्योगों की स्थापना के बाद भारत में भी श्रमिकों के संगठित होने की आवश्यकता अनुभव हुई। इन संगठनों की स्थापना में मजदूरों की अशिक्षा, अज्ञान तथा मालिकों का विरोध और सरकार की उदासीनता मुख्य कठिनाइयां थीं। फिर भी १८९० में यहां पर प्रथम श्रम संघ की स्थापना हो सकी। प्रथम महायुद्ध ने श्रम संघों के प्रोत्साहन में पर्याप्त योग दिया और तब से अब तक निरंतर श्रम-संघों की संख्या और सदस्यता में पर्याप्त वृद्धि हुई है। श्रमिकों की कुल संख्या को देखते हुए इनकी संख्या अभी भी बहुत ही कम है। १९४९ में सारे देश में केवल ३,१५० श्रम संघ थे तथा उनके १९,६०,१०७ सदस्य थे। इनमें स्त्री सदस्यों का अनुपात ६·१ प्रतिशत था। भारतीय श्रमिकों का निष्क्रमणात्मक (migratory) स्वभाव, उनकी अत्यधिक गरीबी, उनमें भाषा, जाति और धर्म भेद, उनका रहन-सहन का निम्नस्तर और निरक्षरता श्रम संघों के विकास में प्रमुख बाधाएं हैं। इसके अतिरिक्त, हमारे श्रम आन्दोलन में अभी मजदूरों के अपने नेताओं का अभाव है। उनमें बाहरी सफेद पोशों की अधिकता है। और फिर काम दिलाने वाले मध्यस्थों और मालिकों का विरोध और उत्पीड़न (victimisation) श्रम संघों के विकास में दूसरी रुकावट है।

अभी तक हमारे यहां सामान्यतः एक ही उद्योग के विभिन्न संघ वृहत् राष्ट्रीय फिडरेशनों में संगठित नहीं है। श्रम आन्दोलन की सही प्रगति के लिये यह आवश्यक है। अन्त में हमारे श्रम आन्दोलन पर राजनीतिज्ञों का प्रभुत्व है। सभी प्रमुख राजनैतिक दलों के अपने पृथक् श्रम-संगठन हैं। इनकी आपसी प्रतियोगिता भी श्रम-संगठन के समुचित विकास के लिये हितकर नहीं है।

मजदूरों की स्थिति को उन्नत करने के लिये श्रम-संगठन की उन्नति और उसकी बुराइयों को दूर करना जरूरी है। श्रम-संगठनों को कानूनी स्वीकृति और विस्तृत अधिकार प्रदान करने में सरकार ने महत्त्वपूर्ण कार्य किया है। इसका हमने श्रम-कानून के अन्तर्गत जिक्र किया है।

५. **औद्योगिक झगड़े और उनका निवारण.** एक माने में तो मुनाफावृत्ति द्वारा परिचालित पूंजीवादी व्यवस्था में ही, जिसमें कि मजदूर अपने उत्पादन यंत्रों के मालिक नहीं है, औद्योगिक अशांति के बीज मौजूद हैं। मालिक और

मजदूर के स्वार्थों का विरोध समय-समय पर झगड़े की संभावनाएं पैदा करता है। मजदूरों की ओर से हड़तालें (Strikes) और मालिकों की ओर से तालाबन्दियां (Lock-outs) इस संघर्ष का साधन हैं। प्रायः कुछ मजदूरों की बर्खास्तगी, छटनी, या मजदूरी, बोनस, काम करने के घंटों की अवस्थाओं और शर्तों इत्यादि के महत्त्वपूर्ण प्रश्नों को लेकर यह झगड़े शुरू होते हैं। मजदूर संगठनों की स्थापना से पहले मजदूरों की लड़ने की ताकत बहुत सीमित थी, किन्तु उनके संगठनों तथा औद्योगिक झगड़े की अवस्था में उन्हें प्राप्त कानूनी संरक्षणों ने उनके लड़ने की ताकत को काफी बढ़ाया। हमारे यहां मुख्यतः प्रथम महायुद्ध के बाद से औद्योगिक झगड़ों की शुरूआत हुई। इसका अंदाज इन आंकड़ों से लगाया जा सकता है। १९२१ में हड़तालों और तालाबन्दियों की संख्या ३९६, उससे प्रभावित मजदूरों की संख्या ६,००,३५१ और उसमें नष्ट हुए काम करने के दिनों की संख्या ६९,८४,४२६ थी। १९५१ में यह संख्या क्रमशः १,०७१; ६,९१,३२१ और ३८,१८,९२८ थी। इस बीच हड़तालों और तालाबन्दियों की संख्या में आर्थिक और सामाजिक स्थिति के अनुसार पर्याप्त हेर-फेर होता रहा।

इन हड़तालों और तालाबन्दियों से, चाहे उनका आखिरी नतीजा कुछ भी क्यों हो, मजदूरों और मालिकों को भीषण आर्थिक नुकसान उठाना पड़ता है। विशेषतः मजदूरों को तो संघर्षकाल में भीषण कठिनाइयों का सामना करना पड़ता है। यह हानि केवल मालिकों और मजदूरों तक ही सीमित नहीं रहती। उत्पादन के बन्द हो जाने के कारण उससे समस्त समाज और उपभोक्ता वर्ग को हानि पहुंचती है। अतः किसी भी समाज के कल्याण और सुरक्षा के लिए यह आवश्यक है कि वहां पर औद्योगिक झगड़े कम से कम हों; बेहतर है बिल्कुल भी न हों।

औद्योगिक शांति और सहयोग किसी भी समाज के संगठन स्वास्थ्य और समृद्धि के लिए आवश्यक है। अत्यधिक औद्योगिक झगड़े सामाजिक विघटन की अवस्था के सूचक हैं। इनका निवारण किसी भी सभ्य समाज का प्रमुख दायित्व है। इनका समूल विनाश तो वर्तमान स्वामित्व और सम्पत्ति सम्बन्धों में परिवर्तन द्वारा ही संभव है। फिर भी यदि मालिक और मजदूर दोनों ही समझदारी से काम लें तो बहुत अंशों में वह अपने विरोधों को आपसी सलाह मशविरे से दूर कर सकते हैं। सरकार भी एक मध्यस्थ का कार्य कर अथवा औद्योगिक झगड़ों के निवारण और निपटाने के लिए आवश्यक कानून बना, औद्योगिक शांति की दिशा में पर्याप्त योगदान कर सकती है। औद्योगिक झगड़ों के निवारण में मालिक मजदूरों की सम्मिलित कार्य-समितियां (Works' Committees) मुनाफा-

साझेदारी (Profit Sharing) योजनाएं, सबल श्रमिक संघ और सरकारी स्थाई आदेश (Standing Orders) भी महत्त्वपूर्ण पार्ट अदा कर सकते हैं। भारत में केन्द्रीय और राज्य सरकारों ने औद्योगिक झगड़ों के सुलझाने और चलाने के सम्बन्ध में कुछ उपयोगी कानून बनाये हैं, जिनका कि हमने श्रम कानून के अंतर्गत जिक्र किया है।

६. **निवासस्थानों (Housing) की असंतोषजनक अवस्था.** मजदूर किस प्रकार के घरों में रहते हैं, इसका उनकी कार्यक्षमता, स्वास्थ्य और सदाचार से सीधा सम्बन्ध है। जिन स्थानों में घरों की कमी है अथवा जहां गंदा वातावरण है, वहां ऊंची मृत्यु-दर और व्यभिचार का बाहुल्य है। निवास-स्थान की दृष्टि से भारतीय मजदूरों की दशा बहुत दयनीय है। पिछले तीस सालों, विशेषकर पिछले दस सालों में, नगरों की जनसंख्या में असाधारण वृद्धि हुई, जब कि उसकी तुलना में घरों की संख्या की वृद्धि नगण्य है। १९४१-५१ में ही शहरों की आबादी में ५४ प्रतिशत वृद्धि हुई। हमारे यहां नगर आयोजन (Town Planning) का सर्वथा अभाव है तथा उद्योगों को शुरू करने से पहले मजदूरों के रहने की समुचित व्यवस्था के प्रबन्ध की आवश्यकता को अनुभव नहीं किया जाता। निवास स्थानों के निर्माण और उपयोग में मुनाफा-वृत्ति ने इस समस्या को और भी जटिल बना दिया है। परिणामतः, हमारे अधिकांश मजदूर ऐसे घरों में रहते हैं जो कि मानव प्राणियों के रहने के लिए सर्वथा अनुपयुक्त और हानिकर हैं। प्रायः एक कमरे में पांच-पांच, छः-छः व्यक्तियों को एक साथ रहना पड़ता है। उनमें हवा और रोशनी की कोई संतोषजनक व्यवस्था नहीं होती। टीन और टाट के टुकड़े पर्दों का काम देते हैं। उनके सामने गंदा पानी आकर जमा होता और सड़ता रहता है। अन्दर सीलन और अंधेरा होता है। पास में साफ पानी का कोई प्रबन्ध नहीं होता। शौच के लिए पाखानों और पेशावघरों की उचित व्यवस्था नहीं होती। इस प्रकार मजदूरों के निवास-स्थानों की अवस्था बहुत ही शोचनीय है।

मजदूरों की गंदी बस्तियां (slums) औद्योगिक नगरों का अनिवार्य अंग बन गई हैं। हुगली की बस्तियां, दक्षिण की चेरियां, कोयले की खानों के धोवरे, पत्थर की खानों के पत्तों के झोंपड़े, बगानों की बस्तियां और बैरकें मजदूरों के रहने योग्य नहीं कही जा सकतीं। अतः श्रमिकों के कल्याण की किसी भी योजना में गंदी मजदूर बस्तियों और उनके स्थान पर, स्वच्छ, स्वास्थ्यकर निवास-स्थानों के निर्माण को प्रमुख स्थान मिलना चाहिए। इन नये घरों में रहने के लिए पर्याप्त स्थान, और आवश्यक सुविधाएं होनी चाहिएं। इसके अतिरिक्त, इनका किराया

भी मुनासिब होना चाहिए। इम्प्रूवमेंट ट्रस्ट और म्यूनिस्पैल्टियां इस काम को अपने हाथ में लेकर उपयोगी कार्य कर सकती हैं। कलकत्ते, बम्बई, मद्रास, कानपुर और लखनऊ के इम्प्रूवमेंट ट्रस्टों ने इसमें दिलचस्पी ली है, किन्तु वह भी अभी तक मजदूरों के निवास-स्थानों की समस्या का समाधान नहीं कर सके हैं। इधर सरकार ने इस ओर दिलचस्पी ली है। १९४८ में सरकार ने अगले दस सालों में दस लाख घर बनाने की घोषणा की। १९४९ म यह निश्चय किया गया कि मजदूरों के लिए घर बनाने में केन्द्रीय सरकार दो-तिहाई तथा प्रांतीय सरकारें एक-तिहाई तक रकम ऋण के रूप में दें। इन योजनाओं की कुल लागत लगभग ३०० करोड़ रुपए कूती गई। उक्त दस लाख घरों में से ७½ लाख घर कारखानों में काम करने वाले, २ लाख से कुछ कम बगानों में काम करने वाले तथा बाकी ½ लाख बन्दरगाहों इत्यादि स्थानों में काम करनेवाले मजदूरों के लिए होंगे। इस योजना को पूरा करने का दायित्व राज्य सरकारों का था। अतः इसे राज्य सरकारों को भेजा गया। केवल बंबई, पूर्वी पंजाब तथा बिहार की सरकारों ने इसे स्वीकार किया और इसके अन्तर्गत ऋण की मांग की। १९४८-४९ में बम्बई सरकार ने ४ करोड़ की मांग की, पर उसे कुल २ करोड़ दिया जा सका।

अगस्त १९५२ में पुनः भारत सरकार ने निवास-स्थानों के निर्माण तथा औद्योगिक मजदूरों के निवास-स्थानों की दशाओं को सुधारने के लिए गृह-विकास कार्यक्रम को आगे बढ़ाने के लिए राजकीय सहायता की नई योजना को स्वीकार किया। १९५२-५३ के बजट में निवास-स्थानों के विकास के लिए ९ करोड़ रुपए स्वीकार किये गये। इनमें से ७.१६ करोड़ औद्योगिक मजदूरों के घर बनाने पर व्यय होने थे। भारत सरकार की यह योजना उत्साहवर्धक है और यदि इसे आवश्यक सहयोग प्राप्त हुआ तो इससे अवश्य निवास-स्थानों की दशा को सुधारने की दिशा में पर्याप्त और संतोषजनक प्रगति होगी। उत्तर प्रदेश, हैदराबाद, पंजाब और मध्य प्रांत की सरकारें अपनी योजनाएं स्वीकार करा चुकी हैं। मालिकों ने अभी इस योजना में विशेष उत्साह नहीं दिखाया है। कुछ श्रम-संगठनों का कहना है कि जब सरकार मालिकों को मकानों के निर्माण में २५ प्रतिशत का दान दे रही है तो उसके लिये उचित नहीं है कि वह उनका प्रबन्ध मालिकों के हाथों में रहने दे। उनकी राय में इस सम्पत्ति का प्रबन्ध सरकारी या अर्ध-सरकारी अधिकारियों के हाथ में होना चाहिए। प्रथम पंचवर्षीय योजना में भी गृहनिर्माण को स्थान दिया है तथा उसके लिये ४८.७ करोड़ रुपए की व्यवस्था की गई है। इसमें औद्योगिक मजदूरों की गृह-विकास योजनाओं को प्राथमिकता दी गई है।

भारत सरकार की कोयले की खानों में काम करनेवाले मजदूरों के लिए ५०,००० क्वाटर बनाने की एक पंचवर्षीय योजना भी है। इसके निर्माण का खर्चा कोयला खान मजदूर श्रम कल्याण एक्ट १९४७ के अंतर्गत गृह-निर्माण लेखा कोष से प्राप्त होगा। बगानों में निवास-स्थानों की समस्या पर स्थाई-बगान समिति ने १९४९ में विचार किया तथा बगान मजदूरों के लिए उपयुक्त क्षेत्रों में निवास स्थानों का विकास करने के लिए गृह-निर्माण बोर्डों की स्थापना की गई। भारतीय चाय एसोसियेशन ने स्वयं घरों के न्यूनतम मान बनाये जिसे कि प० बंगाल सरकार ने स्वीकार किया। एसोसियेशन ने अब तक ८,९०० घर बनाये हैं तथा एक साल में और १५,५०० घरों को बदला है। १९५१ में भारत सरकार ने बगान श्रम एक्ट पास किया। इसके अन्दर मालिकों पर अपने मजदूरों और उनके परिवारों के लिए आवश्यक घर देने का दायित्व भी है।

विभिन्न राज्य सरकारें भी गृह-निर्माण के कार्य में दिलचस्पी ले रही हैं। उत्तर प्रदेश में सरकार ने कानपुर तथा अन्य उद्योगिक नगरों के लिए विभिन्न गृह निर्माण योजनाओं को स्वीकार किया है। उसने चीनी उद्योग में काम करने वाले मजदूरों के लिए पांच सालों में १,५०० घर बनाने की योजना स्वीकार की है। यह संख्या बहुत अपर्याप्त है।

यह सत्य है कि सरकारों ने मजदूरों के लिए गृह-निर्माण की आवश्यकता को स्वीकार किया है और इस दिशा में प्रयत्न भी प्रारंभ किये हैं। पर इसमें संदेह नहीं कि अभी इस दिशा में हमें बहुत आगे बढ़ना बाकी है।

७. मजदूरी (wages) का निम्न स्तर, उसे ऊंचा उठाने की आवश्यकता. श्रमिकों को अपनी मेहनत के लिए क्या मजदूरी मिलती है, इस पर ही मुख्यतः उनका रहन-सहन का स्तर निर्भर है। मजदूरी के निर्धारण में श्रम की उत्पादकता, अर्थात् श्रमिक द्वारा प्रदान किये गये श्रम की कीमत, और उसकी सौदा करने की सामर्थ्य प्रमुख हैं। किन्तु जहां एक ओर श्रम की उत्पादकता मजदूरी की दर को प्रभावित करती है, वहां स्वयं मजदूरी की दर श्रम की उत्पादकता और श्रमिक की कार्यक्षमता को प्रभावित करती है। द्वितीय महायुद्ध से पहले भारतीय श्रमिकों की मजदूरी के स्तर को मापने के कुछ बिखरे हुए प्रयत्न हुए। इनसे यह स्पष्ट हुआ कि उन्हें जो मजदूरी मिलती थी वह उनके जीवन की अत्यन्त अनिवार्य न्यूनतम आवश्यकताओं को पूरा करने में भी पर्याप्त नहीं है। हमारे जेलों में सरकार एक कैदी पर जितना व्यय करती है, एक सामान्य मजदूर की आय उससे भी कम है।

लड़ाई छिड़ने के बाद १९३९ से निरन्तर चीजों के दामों में वृद्धि होती गई

और इस प्रकार भरण-पोषण का खर्चा और उसका सूचक अंक (Index number) भी बराबर बढ़ता गया। युद्ध की यह असाधारण महंगाई युद्ध समाप्त होने के नौ साल बाद तक भी वैसे ही कायम है। इस काल में श्रमिकों की मजदूरी में अवश्य पर्याप्त वृद्धि हुई, पर फिर भी वस्तुओं की महंगाई की तुलना में उसका अनुपात कम ही रहा। इस प्रकार मजदूरी की वृद्धि महंगाई की वृद्धि की तुलना में पीछे ही रही।

आजकल अधिकांश संगठित उद्योगों में जो बुनियादी (Basic) मजदूरी की दरें जारी हैं, वह विभिन्न औद्योगिक ट्रिब्यूनलों और निर्णायकों के फैसलों का परिणाम हैं। उदाहरणार्थ, कपड़ा-उद्योग में बम्बई, कानपुर और दिल्ली में आज कल न्यूनतम मजदूरी ३० रु०, अहमदाबाद में २८ रु०, शोलापुर, मध्य प्रदेश, मद्रास और इंदौर में २६ रु० तथा पश्चिमी बंगाल में २० रु० २ आ० ५ पा० निश्चित की गई है। उत्तर प्रदेश में कानपुर तथा अन्य स्थानों में, उद्योग द्वारा न वहन किये जाने के कारण ३० रु० की दर को स्थगित करना पड़ा। इसके अतिरिक्त, केवल पश्चिमी बंगाल को छोड़कर श्रमिकों को, मजदूरी के अतिरिक्त, महंगाई भत्ता भी दिया जाता है। यह महंगाई भत्ता रहन-सहन में व्यय के सूचक अंक से जुड़ा हुआ है, हर राज्य में उसकी पृथक् दर है। उदाहरणार्थ, बम्बई की कपड़ा-मिलों में १०५ (आधार जून १९३४) सूचक अंक से प्रत्येक १ अंक की वृद्धि पर १.९ पाई प्रतिदिन तथा अहमदाबाद में ७३ (आधार जुलाई १९२७) से १ अंक की वृद्धि पर २.८४ पाई प्रतिदिन के हिसाब से महंगाई जोड़ी जाती है। इसके अतिरिक्त, बहुत से स्थानों पर साल के अंत में लाभ पर मजदूरों को बोनस देने की प्रथा है। इसे बेसिक मजदूरी के आधार पर जोड़ा जाता है तथा इसकी अदायगी की कुछ शर्तें होती हैं। संक्षेप में कपड़ा-उद्योग में समस्त प्रांतों में मजदूरों की औसत वार्षिक आय १९३९ में ३२० रु०, १९४५ में ७२३ रु० और १९४८ में १०९४ रु० थी। जूट-उद्योग में औद्योगिक ट्रिब्यूनल ने १९४८ में पश्चिमी बंगाल के लिये बेसिक मजदूरी २६ रु०, १९४९-५० में कानपुर में १२ रु०, बिहार में २४ रु० ६ आना तथा दक्षिण भारत में १९ रु० ८ आ० निश्चित की। जूट-उद्योग में समस्त प्रांतों में मजदूरों की वार्षिक आय १९३९ में २३१ रु०, १९४५ में ३५१ रु० और १९४९ में ७९५ रु० थी। इसी प्रकार अन्य उद्योगों, खानों, बगानों, बन्दरगाहों, यातायात-सेवाओं तथा अन्य अनेक सेवाओं में भी बेसिक मजदूरी और महंगाई की दर निश्चित कर दी गई हैं। पर इनके अध्ययन से एक बात स्पष्ट है कि भारत में मजदूरी का स्तर बहुत ही नीचा और असंतोषजनक है।

बहुत अंशों में तो भारतीय मजदूर की अल्प उत्पादकता और कुछ अंशों में उसकी अल्प सौदा करने की सामर्थ्य, उसकी मजदूरी के निम्न-स्तर के लिए उत्तरदायी है। इसे देखते हुए यह आवश्यक हो जाता है कि सरकार मजदूरों के शोषण के विरुद्ध और उन्हें न्यूनतम रहन-सहन की सुविधाएं प्रदान करने के उद्देश्य से न्यूनतम मजदूरी (Minimum wages) और मुनासिब मजदूरी (Fair wage) के लिए कुछ कानून बनाये। भारत सरकार ने हाल ही में इस सम्बन्ध में कुछ कानून बनाये हैं, जिनका जिक्र हम श्रम-कानून के अंतर्गत करेंगे।

८. मजदूरों की ऋणग्रस्तता (Indebtedness) उसका समाधान. भारतीय मजदूर के आर्थिक जीवन का एक अन्य खेदजनक पहलू उसकी ऋणग्रस्तता है। अधिकांश उद्योगों में लगे हुए मजदूर, प्रायः कर्जदार का जीवन-यापन करते हैं। यह अनुमान लगाया गया है कि अधिकांश औद्योगिक केन्द्रों में लगभग दो-तिहाई मजदूर कर्जे के बोझ के नीचे दबे हुए हैं, और उनके कर्जे की औसत रकम प्रायः उनके तीन महीने के वेतन के बराबर है। भारत सरकार द्वारा आयोजित पारिवारिक बजटों की जांच के अनुसार (१९४३-४५) बंबई में ६४·१ प्रतिशत परिवार कर्जदार हैं तथा उन्हें औसतन १२३ रु० १४ आ० ७ पा० उधार देना है। इसी प्रकार मद्रास के चाय बगानों में ७२·३ प्रतिशत परिवार कर्ज के नीचे हैं तथा उन्हें औसतन ७९ रु० उधार देना है। मजदूरों की यह ऋणग्रस्तता उनके निम्न रहन-सहन के स्तर का एक प्रमुख कारण है। प्रायः उन्हें ऋण पर बहुत ऊंची दर पर ब्याज देना पड़ता है। इस प्रकार साहूकार और महाजन उनका अच्छी तरह शोषण और दोहन करते हैं। मजदूरों द्वारा ऋण लेने का मुख्य कारण सामाजिक कार्य, मुख्यतः विवाह होते हैं। लगभग ३० से ४० प्रतिशत ऋण की राशि इसी कारण ली जाती है। इसके अतिरिक्त बेकारी, बीमारी और शराबखोरी कर्जदारी के अन्य कारण हैं।

ऋणग्रस्तता मजदूरों के लिए अपार कष्ट का कारण है। सहकारी ऋण की व्यवस्था द्वारा ही इस समस्या का समाधान किया जा सकता है। इसके अतिरिक्त मजदूरों में फिजूलखर्ची के विरुद्ध जागृति पैदा करने और कर्जदार मजदूरों के लिए उचित संरक्षण की भी आवश्यकता है। केन्द्रीय और राज्य सरकारों ने कर्जदार मजदूरों की कुड़की और कैद के विरुद्ध उसकी समाप्ति तथा उनकी रक्षा के लिए विभिन्न उपयोगी कानून भी बनाए हैं, उनका कड़ाई से पालन जरूरी है। अंत में, मजदूरी की समानता तथा न्यूनतम वेतन की गारंटी और सहकारी ऋण-व्यवस्था द्वारा मजदूरों की ऋणग्रस्तता का मुकाबला किया जा सकता है।

९. रहन-सहन का निम्नस्तर और उसमें उन्नति की आवश्यकता. जैसा

कि हम देख चुके हैं कि भारतीय मजदूरी का स्तर बहुत नीचा है। रहन-सहन का निम्न स्तर उसका स्वाभाविक परिणाम है। अधिकांश मजदूरों की आय का ६० से ७० प्रतिशत भाग केवल भोजन, ५ से १० प्रतिशत तक रोशनी और ईंधन, ४ से ६ प्रतिशत तक मकान किराये, ७ से १५ प्रतिशत तक कपड़ों, १ से २ प्रतिशत तक बिछौने तथा ८ से १५ प्रतिशत तक विविध मदों में खर्च होता है। इसमें से प्राय: १० प्रतिशत व्यय केवल शराब पर ही होता है। उक्त आंकड़ों से स्पष्ट है कि मजदूरों की आय का बड़ा भाग केवल खाने में ही चला जाता है और फिर उन्हें जो भोजन प्राप्त होता है, वह सामान्यत: उनकी शारीरिक आवश्यकताओं के लिए सर्वथा अपर्याप्त होता है। प्राय: उनके पास पहनने के लिए पर्याप्त कपड़े नहीं होते। शिक्षा और स्वस्थ मनोरंजन पर व्यय करने तथा आड़े समय के लिए बचाने के लिए तो उनके पास कुछ भी नहीं बच रहता। रहन-सहन का निम्न स्तर ही मुख्यत: भारतीय मजदूरों की निम्न कार्यक्षमता के लिए उत्तरदायी है, अत: उसमें तत्काल उन्नति की आवश्यकता है।

१०. गिरा स्वास्थ्य और निकृष्ट कार्यक्षमता. अल्प मजदूरी, निम्न रहन-सहन का दर्जा, अस्वच्छ वातावरण, दोषपूर्ण पोषण, चिकित्सा तथा रोग-निवारण की सुविधाओं के अभाव के कारण भारतीय मजदूरों का स्वास्थ्य बहुत गिरा हुआ रहता है।

गिरे स्वास्थ्य, निम्न रहन-सहन के स्तर, निष्क्रमणात्मक स्वभाव और टेक्नीकल शिक्षा पाने की सुविधाओं के अभाव के कारण भारतीय मजदूरों की कार्यक्षमता अन्य देशों के मजदूरों की तुलना में बहुत ही हीन है। उनके रहन-सहन के स्तर को ऊंचा उठाने के लिए उनकी कार्यक्षमता और स्वास्थ्य में उन्नति अनिवार्य है।

११. काम करने की असंतोषजनक अवस्था, उनके सुधार की आवश्यकता. मजदूर जिन स्थानों में कार्य करते हैं, उनकी अवस्था—सफाई, रोशनी, तापक्रम, साफ पानी, पाखाने, पेशाब की समुचित व्यवस्था, शिशुगृह, आराम, स्नान इत्यादि की सुविधाएं बहुत अंशों में मजदूरों के स्वास्थ्य और कार्यक्षमता को प्रभावित करती हैं। पिछले पचास सालों में इस दृष्टि से कारखानों, खानों, बगानों, बन्दरगाहों, जहाजों इत्यादि में काम करने की अवस्थाओं में पर्याप्त सुधार हुआ है। इसके लिए विभिन्न कानून बनाये गये हैं। पर अभी भी उन्नत औद्योगिक राष्ट्रों की तुलना में हमारे यहां काम करने की अवस्थाएं बहुत ही पिछड़ी हुई हैं। एक तो कानून केवल संगठित उद्योगों पर लागू होते हैं, दूसरे उनका प्राय: पूरी तरह पालन भी नहीं होता। मजदूरों के कल्याण और सुरक्षा के लिए काम करने की अवस्थाओं में पर्याप्त उन्नति की आवश्यकता है।

१२. सीमित कल्याण (Welfare) **और सुरक्षा** (Security)**–विस्तार की आवश्यकता.** श्रमिकों के कल्याण-कार्यों में वृद्धि और विस्तार का उनकी कार्य-क्षमता और अवस्था में पर्याप्त उन्नति की जा सकती है। कैन्टीनों और शिशुगृहों की स्थापना, मनोरंजन और चिकित्सा की सुविधाओं की समुचित व्यवस्था, नहाने-धोने की सुविधाओं के विस्तार, शिक्षा-सुविधाओं के प्रसार तथा प्राविडेंट फंड की योजनाओं इत्यादि कार्यों द्वारा श्रमिकों के कल्याण में पर्याप्त वृद्धि की जा सकती है। अन्य दिशाओं की भांति भारत इस दिशा में भी बहुत पीछे है। कुछ उदार मालिकों ने स्वयं तथा कुछ कानूनों के अंतर्गत स्थापित कल्याण-कोषों (Welfare funds), जैसे कि कोयला और अभ्रक की खानों के लिए हैं, कल्याण-कार्यों को हाथ में लिया है। पर अभी तक इनका क्षेत्र बहुत ही सीमित है।

कल्याण-कार्यों के अतिरिक्त, विभिन्न प्रकार के जोखिमों के विरुद्ध सुरक्षा भी मजदूरों की अवस्था को सुधारने के लिए आवश्यक है। भारत में सामाजिक सुरक्षा का क्षेत्र और विस्तार भी अभी तक अत्यन्त सीमित है। श्रमिकों की सामाजिक सुरक्षा की समस्या पर हमने अगले अध्याय में विस्तार से विचार किया है।

निष्कर्ष. भारतीय श्रमिकों की वर्तमान स्थिति के उक्त संक्षिप्त विवेचन से एक बात स्पष्ट जाहिर होती है कि उनकी असंतोषजनक स्थिति का कोई एक कारण नहीं है, प्रत्युत् विभिन्न पृथक् दीखनेवाले कारण और लक्षण एक दूसरे से घनिष्ठतया सम्बन्धित हैं। इससे उनकी परस्पर निर्भरता प्रकट होती है। इस लिये मजदूरों की अवस्था को सुधारने के लिए यह आवश्यक प्रतीत होता है कि हम विभिन्न मोरचों पर एक साथ बढ़ें। यह कार्य विस्तृत आयोजन (Planning) द्वारा ही संभव है।

श्रम-कानून (Labour Legislation)

१८६० के लगभग आधुनिक बड़े पैमाने के उद्योगों की स्थापना ने हमारे यहां श्रमिक काननों की आवश्यकता को जन्म दिया। पर आधुनिक उद्योगों के शुरू होने के काफी समय बाद तक मजदूरों के कल्याण और सुरक्षा के लिए कोई कानून नहीं बनाये गये और मालिकों को मजदूरों के शोषण की पूरी छूट रही। मजे की बात तो यह थी कि उस समय मजदूरों की सुरक्षा के स्थान पर उनके विरुद्ध कानून बनाये गये। काम करने के इकरार का भंग करने पर उन्हें दण्ड देने की व्यवस्था की गई। उस समय भारतीय कारखानों में काम करने की दशाएं अत्यन्त असहनीय, अमानुषिक और असुरक्षित थीं।१८८० के आसपास भारत सरकार का ध्यान इस

ओर गया। श्रमिक कानूनों में सरकार की यह रुचि, मजदूर-आन्दोलन, मालिकों की उदार दृष्टि अथवा सरकार की श्रमिकों के प्रति सहानुभूति का परिणाम न होकर, लंकाशायर के अंग्रेजी मिल-मालिकों की चीख-पुकार का परिणाम थी। उन्होंने आन्दोलन किया कि यदि भारत में भी वैसे ही फैक्टरी-कानून नहीं बनाए गये जैसे कि इंगलैण्ड में हैं, तो अंग्रेज व्यापारी सस्ते भारतीय माल की प्रतियोगिता में न ठहर सकेंगे। सरकार को उनकी इच्छाओं के सामने झुकना पड़ा और इस प्रकार १८८१ में पहला फैक्टरी-एक्ट पास हुआ। उसके बाद प्रथम महायुद्ध तक इस दिशा में विशेष प्रगति नहीं हुई। युद्धकाल में सरकार ने पहली बार संतुष्ट मजदूर-वर्ग की उपयोगिता का अनुभव किया। १९१८ में अंतर्राष्ट्रीय श्रम-संगठन (ILO) की स्थापना हुई। भारत भी उसका सदस्य बना। इधर भारत में मजदूर-आन्दोलन का सूत्रपात हुआ और जनमत श्रमिकों के संरक्षण के लिये जागृत हुआ। इन्हीं सब कारणों ने मिलकर १९२० के बाद भारत में श्रम-कानून की प्रगति को काफी तेज कर दिया।

१९१९ और १९३५ के संविधान के अनुसार केन्द्र और प्रांत दोनों ही, श्रमिकों से सम्बन्धित कानून बना सकते हैं। १९३७ तक अधिकांश और प्रमुख कानून केन्द्र द्वारा ही बनाये गये। १९३७ में प्रांतीय स्वायत्त शासन की स्थापना के पश्चात् प्रान्तों ने भी इस दिशा में उत्साह दिखाया। १९४२ में भारत सरकार ने प्रथम त्रिदली श्रम-सम्मेलन बुलाया और उसकी समय-समय पर होनेवाली बैठकों ने १९४८ तक श्रमिक कानूनों के विकास को पर्याप्त प्रोत्साहन दिया। १९४७ में देश को स्वाधीनता मिलने के बाद पुनः पुराने श्रमिक कानूनों में संशोधन तथा नये आवश्यक कानूनों के बनाने की ओर दिलचस्पी बढ़ी और सात सालों में महत्त्वपूर्ण कानून पास किये गये। इनका संक्षिप्त विवरण दिया जा रहा है।

काम करने की अवस्थाओं से सम्बन्धित कानून

फैक्टरी-एक्ट-कानून

फैक्टरी-एक्ट १८८१,-९१, १९११,-२२,-३४. १८८१ में पहला फैक्टरी एक्ट पास किया गया। यह साल में ४ महीने से अधिक काम करनेवाले तथा १०० से अधिक मजदूर लगानेवाले कारखानों पर लागू था। इसमें ७ साल से कम उम्र के बच्चों को काम पर रखने का निषेध किया गया और ७ से ९ साल की उम्र वाले बच्चों के लिये काम करने के अधिक से अधिक ९ घंटे प्रतिदिन निश्चित किये गये। उनके लिए १ घंटा रोज आराम तथा महीने में चार छुट्टियों की भी व्यवस्था थी। इसके अतिरिक्त, इसमें मशीनों पर बाड़ लगाने तथा कारखाना इंस्पेक्टरों

की नियुक्ति का भी निर्देश था। इस एक्ट में प्रौढ़ स्त्री या पुरुष मजदूरों को किसी प्रकार का संरक्षण प्रदान नहीं किया गया था।

उक्त एक्ट से किसी को भी संतोष न हुआ और शीघ्र ही उसके संशोधन की पुकार हुई। परिणामतः, १८९१ में नया फैक्टरी-एक्ट पास किया गया। यह एक्ट ५० से अधिक मजदूर लगानेवाले और शक्ति प्रयोग में लानेवाले कारखानों पर लागू था। प्रांतीय सरकारें उसे २० और उससे अधिक मजदूर लगानेवाले औद्योगिक प्रतिष्ठानों पर भी विस्तृत कर सकती थीं। इनमें ९ साल से कम उम्र के बच्चों के काम करने और ९ से १४ साल की उम्र के बच्चों के लिए ७ घंटे से अधिक काम करने की मनाही की गई। बच्चे और स्त्री रात को काम पर नहीं लगाये जा सकते थे और स्त्रियों से अधिक से अधिक ११ घंटे रोज काम लिया जा सकता था। सप्ताह में एक दिन की छुट्टी और दोपहर को आधा घंटे का आराम प्रत्येक मजदूर के लिए आवश्यक बना दिया गया। इस एक्ट में कारखाने के निरीक्षण, रोशनी और सफाई के बारे में भी विस्तृत नियम बनाये गये।

१९०८ में श्रम कमीशन की स्थापना हुई। उसकी सिफारिशों के फलस्वरूप १९११ में तीसरा फैक्टरी-एक्ट पास किया गया। इसमें प्रथम वार प्रौढ़ पुरुष मजदूरों के लिये काम करने की अधिकतम अवधि १२ घंटे निश्चित की गई। स्वीकृत शिफ्ट-पद्धति के अलावा ७ बजे शाम से ५ बजे सुबह के बीच काम करने का निषेध किया गया। मौसमी कारखानों को भी एक्ट के अन्तर्गत ले आया गया और बच्चों के लिए उम्र के सर्टीफिकेट का होना जरूरी कर दिया गया। इसमें स्वास्थ्य और रक्षा के नियमों को भी अधिक दृढ़ कर दिया गया।

१९१८ में अन्तर्राष्ट्रीय श्रम-संगठन की स्थापना ने फैक्टरी-कानून में कुछ परिवर्तनों को अनिवार्य बना दिया और १९२२ में नया फैक्टरी-एक्ट पास किया गया। २० से अधिक मजदूर लगानेवाले और शक्ति प्रयोग में लानेवाले कारखाने इसके अंतर्गत आ गये। प्रांतीय सरकारें उसे १० मजदूर तक लगानेवाले कारखानों पर भी विस्तृत कर सकती थीं। प्रौढ़ मजदूरों के लिए काम करने की अवधि ११ घंटे प्रतिदिन और ६० घंटे प्रति सप्ताह रखी गई। बच्चों के काम करने की अवधि घटा कर ६ घंटे रोज कर दी गई तथा उनके काम करने की उम्र को ९ साल से बढ़ाकर १२ साल कर दिया गया। सब मजदूरों के लिये ६ घंटा काम करने के बाद १ घंटा का आराम अनिवार्य कर दिया गया। स्वास्थ्य और रक्षा के नियमों को और अधिक विस्तृत कर दिया गया।

१९२८ में शाही श्रम-कमीशन नियुक्त हुआ और उसकी सिफारिशों के फल-स्वरूप १९३४ का फैक्टरी-एक्ट पास किया गया। इसके अनुसार साल में १८०

दिन से अधिक और कम काम करनेवाले कारखानोंको बारहमासी (Perennial) और मौसमी (Seasonal) दो वर्गों में बांटा गया। बारहमासी कारखानों में काम करने के अधिकतम घंटे १० घंटे प्रतिदिन और ५४ घंटे प्रति सप्ताह निश्चित किये गये, जब कि मौसमी कारखानों के लिए यह अवधि क्रमशः ११ और ६० घंटे रक्खी गई। पहली बार फैलाव (Spread over) के सिद्धान्त को स्वीकार किया गया और निरंतर कार्य की अवधि प्रौढ़ों के लिये १३ और बच्चों के लिए ६½ घंटा रखी गई। ओवर टाइम के लिये सामान्य-दर से ड्योढ़ा देने की व्यवस्था की गई। एक्ट में १५ से १७ सालवाली उम्र के एक नये तरुण (Adolescent) वर्ग का निर्माण किया। जब तक डाक्टरी सर्टीफिकेट प्राप्त न हो, इन्हें बच्चा समझा गया। श्रमिकों के कल्याण, रक्षा इत्यादि के बारे में अधिक विस्तृत व्यवस्थाएं की गईं तथा इस एक्ट के कार्यान्वित करने का दायित्व प्रान्तीय सरकारों का हो गया।

फैक्टरी-एक्ट १९४८. १९३४ के एक्ट में १९४७ तक सात बार संशोधन किये गये और अन्ततोगत्वा १९४८ में एक नया एक्ट ही पास करना पड़ा। १९४८ का फैक्टरी-एक्ट फैक्टरी-कानून की दिशा में एक महत्त्वपूर्ण कदम है, अतः इसका कुछ विस्तार से वर्णन आवश्यक है।

जम्मू कश्मीर को छोड़कर यह एक्ट सारे भारत पर लागू होता है। १९३४ के एक्ट की तुलना में इसका क्षेत्र पर्याप्त विस्तृत है। शक्ति से चलनेवाले १० से अधिक मजदूर लगानेवाले तथा बिना शक्ति से चलनेवाले २० से अधिक मजदूर लगानेवाले कारखाने इसके अंतर्गत आते हैं। नये एक्ट में राज्य-सरकारों के ऊपर इसे विस्तृत करने के बारे में कोई प्रतिबन्ध नहीं है। उन स्थानों को छोड़, जहां कि परिवार के सदस्य स्वयं कार्य करते हैं, यह उन सभी स्थानों और प्रतिष्ठानों पर लागू किया जा सकता है जहां निर्माण-कार्य होता है। इसके अतिरिक्त, इस एक्ट में बारहमासी और मौसमी कारखानों के भेद का अन्त कर दिया गया है।

१९३४ के एक्ट में स्वास्थ्य, रक्षा और कल्याण से संबंधित नियम सामान्य प्रकार के थे। परिणामतः, उनके मानों—स्टैन्डर्ड के संबंध में विभिन्न राज्यों में पर्याप्त अन्तर था। १९४८ के एक्ट में इनके विशिष्ट मान निर्धारित कर दिये गये हैं। १९३४ के एक्ट में सफाई, रोशनी इत्यादि के संबंध में वर्णित व्यवस्थाओं के अतिरिक्त, इसमें बेकार पदार्थों और द्रवों के हटाने, धूल और धुएं को दूर करने, थूकदानों के लगाने तथा तापक्रम के नियंत्रण और पीने के पानी का प्रबन्ध इस एक्ट में विशिष्ट व्यवस्थाएं हैं। एक्ट के पास होने के बाद बने कारखानों

में प्रत्येक मजदूर के लिए कम से कम ५०० घन फीट स्थान तथा अन्य कारखानों के लिए ३५० घन फीट स्थान निश्चित किया गया है। मजदूरों की सुरक्षा के लिए आवश्यक सावधानियों का भी एक्ट में विस्तार से वर्णन है। इसमें कल्याण-कार्यों के संबंध में भी विशिष्ट नियम निर्धारित किये हैं। ५०० या उससे अधिक मजदूर लगानेवाले कारखानों के लिए श्रम कल्याण अफसर नियुक्त करने होंगे।

इस एक्ट में कारखानों में बालकों की प्रवेश-आयु को १२ से बढ़ाकर १४ साल तथा तरुणों की आयु १५ से १७ साल, निश्चित किया गया है। १९३४ के एक्ट की भांति इस एक्ट में भी बच्चों और तरुणों को डाक्टरों से सर्टीफिकेट प्राप्त करने की जरूरत है।

प्रौढ़ मजदूरों के लिए काम करने के घंटे १९३४ के एक्ट के समान ही प्रति सप्ताह ४८ तथा प्रति दिन ९ तथा फैलाव (Spread over) के साथ १०½ घंटे रखे गये हैं। बच्चों और तरुणों के काम करने के घंटे ५ से घटाकर ४½ घंटे प्रतिदिन कर दिये गये हैं। कुछ सीमाओं में एक्ट ने राज्य-सरकारों को इस संबंध में कुछ व्यक्तियों को छूट देने का अधिकार दिया गया है। किंतु किसी भी अवस्था में काम करने के घंटे १० घंटे प्रतिदिन फैलाव की दशा में १२ घंटे से अधिक और ५० घंटे प्रति सप्ताह मे अधिक नहीं रखे जा सकते।

साप्ताहिक छुट्टी के अलावा प्रत्येक मजदूर के लिए १२ महीने की निरंतर सेवा के पश्चात् प्रत्येक २० दिन पर १ दिन के हिसाब से कम से कम १० दिन की छुट्टी ; बच्चों के लिए १५ दिन पर १ दिन के हिसाब से कम से कम १५ दिन की छुट्टी की व्यवस्था की गई है। यदि कोई मजदूर अर्जित छुट्टी लेने से पहले हटा दिया जाता है अथवा नौकरी छोड़ देता है, तो मालिक पर उसे अर्जित छुट्टी की अवधि की मजदूरी देने का दायित्व है।

इसके अतिरिक्त, कारखानों के मैनेजरों की यह जिम्मेदारी है कि वह उनके कर्मचारियों को हुई निर्दिष्ट दुर्घटनाओं और पेशेगत पेशेजन्य (occupation al) रोगों की सूचना सरकार को प्रदान करें। राज्य-सरकारों को दुर्घटनाओं और पेशेजन्य रोगों के कारणों की जांच करने के लिए योग्य व्यक्तियों को नियुक्त करने का अधिकार है।

१९४८ के एक्ट में उसके शासन के संबंध में कोई परिवर्तन नहीं हुआ है। फिर भी इस एक्ट के विस्तृत क्षेत्रऔर कार्यों के बढ़ जाने के कारण, राज्य-सरकारों के लिए फैक्टरी-निरीक्षण के संगठन को सुदृढ़ करना आवश्यक हो गया है। अप्रैल १९४९ में इस एक्ट के लागू हो जाने के बाद से फैक्टरी इंस्पेक्टरों का

कार्य और दायित्व पर्याप्त बढ़ गया है। इस एक्ट में फैक्टरी की विस्तृत परिभाषा को स्वीकार करने के कारण १९५० में इसके अन्तर्गत आनेवाले कारखानों की संख्या में १९४८ की तुलना में लगभग दुगुनी वृद्धि हो गई है।

औद्योगिक दृष्टि से उन्नत अनेक राज्यों में १९३४ के एक्ट की रीति पर १९४८ से पहले फैक्टरी एक्ट पास किये गये थे। १९४८ के फैक्टरी एक्ट के पास होने के बाद उनमें भी आवश्यक परिवर्तन किये गये।

जहां तक फैक्टरी एक्ट के व्यवहार में आने का प्रश्न है, उसके बारे में यह आम शिकायत है कि विशेषतः छोटे प्रतिष्ठानों में तो उसका बहुत ही ढिलाई से पालन होता है। कानून की उपेक्षा का प्रधान कारण फैक्टरी इंस्पेक्टरों की अपर्याप्त संख्या तथा हल्के दंड हैं। इसके अतिरिक्त, १९४८ का एक्ट भी अभी बहुसंख्यक प्रतिष्ठानों पर, जिनमें २० से कम मजदूर कांम करते हैं, लागू नहीं होता, यद्यपि राज्य सरकारों को इसे उन पर विस्तृत करने का अधिकार प्रदान किया गया है। कुछ लोगों की राय में केन्द्रीय सरकार को इस संबंध में स्वयं एक कानून बनाना चाहिए।

खान (Mining) श्रम कानून

भारतीय खान एक्ट १९२३. खानों में मजदूरों के रखने पर नियंत्रण करने के लिए प्रयास १८९४ में किया गया। यह मुख्यतः १८९० में हुए अन्तर्राष्ट्रीय सम्मेलन का परिणाम था। १९०१ में भारतीय खान एक्ट पास हुआ। इसमें इंस्पेक्टरों की नियुक्ति की व्यवस्था थी। इस एक्ट में अनेक त्रुटियां थीं। इसमें अनेक संशोधनों के बाद आखिर में १९२३ में एक नया एक्ट पास करना पड़ा। इस नये एक्ट में खान के ऊपर काम करनेवाले मजदूरों के लिए प्रति सप्ताह ६० और खान के नीचे काम करनेवाले मजदूरों के लिए ५४ घंटे निश्चित किये गये। सप्ताह में एक दिन छुट्टी की व्यवस्था की गयी तथा १३ साल से कम उम्र के लोगों को काम पर लगाने का निषेध किया गया। खानों की परिभाषा विस्तृत की गयी ताकि उसमें छोटी खानें भी आ सकें। भारतीय खानों के नीचे काम करनेवाले मजदूरों में यद्यपि, ४५ प्रतिशत मजदूर स्त्रियां हैं, किंतु इनके नीचे काम करने पर कोई प्रतिबन्ध नहीं लगाया गया। किंतु एक्ट द्वारा प्रदान किये गये अधिकारों के अन्तर्गत १९२९ में सरकार ने स्त्रियों के खान के नीचे काम करने के संबंध में कुछ नियम बनाये और बंगाल, बिहार, उड़ीसा, मध्यप्रांत और पंजाब की कुछ खानों को छोड़, बाकी खानों में स्त्रियों के खान के नीचे काम करने पर रोक लगायी। छूट प्राप्त खानों में भी क्रमशः स्त्रियों

को हटाने की व्यवस्था की गयी, ताकि १ जुलाई १९३९ तक स्त्रियों को खान के नीचे काम करने से सर्वथा पृथक् किया जा सके।

१९२३ के एक्ट में काम करने के घंटों पर कोई कानूनी रोक नहीं थी। अतः १९२८ में, एक संशोधन द्वारा एक मजदूर के लिए एक दिन में काम करने की अधिकतम अवधि १२ घंटे निश्चित की गयी। १९३१ में अन्तर्राष्ट्रीय श्रम सम्मेलन के खानों के संबंध में कन्वेन्शन पास करने के फलस्वरूप १९३५, १९३६ १९३७, १९४० और १९४६ में १९२३ के एक्ट में पर्याप्त संशोधन किये गये।

भारतीय खान एक्ट १९५२- खानों से संबंधित कानून को एकीकृत करने के लिए तथा उसे १९४८ के फैक्टरी एक्ट के साथ लाने के लिए सरकार ने १९५२ में एक नया भारतीय खान एक्ट पास किया।

यह एक्ट सभी खानों पर लागू होता है। इसमें खान के ऊपर काम करने के अधिकतम १० घंटे तथा नीचे ९ घंटे और ६ घंटे काम करने के बाद १ घंटे आराम की व्यवस्था है। किसी मजदूर को सप्ताह में ६ दिन से अधिक काम करने की इजाजत नहीं है। १५ साल से कम उम्र के बच्चों के लिये खानों में काम करने की मनाही है। १७ साल से कम उम्र वाले व्यक्ति बिना डाक्टरी सर्टी-फिकेट के समर्थ घोषित हुए, खान के नीचे काम नहीं कर सकते। श्रमिकों की कमी के कारण युद्ध काल में खानों के नीचे स्त्रियों के काम करने पर से प्रतिबन्ध उठा लिया गया था। १९४६ में पुनः उसे लगा दिया गया।

इसके अतिरिक्त, एक्ट में पीने के पानी की पर्याप्त पूर्ति, डाक्टरी चिकित्सा और उपकरणों के रखने, सफाई, स्त्री-पुरुषों के लिए पृथक् फव्वारेवाले स्नानागारों, शिशुगृहों तथा खान में काम करनेवाले मजदूरों की रक्षा की समुचित व्यवस्था है। मुख्य खान केन्द्रों में मालिकों और मजदूरों के खान बोर्ड होंगे जिनका कार्य सरकार को एक्ट के अन्तर्गत नियम बनाने में सहायता प्रदान करना होगा। इस एक्ट के कार्यान्वित करने का दायित्व भारत सरकार का है और इस कार्य के लिए खान का एक मुख्य इंस्पेक्टर है। खान एक्ट के अतिरिक्त, खानों के स्वा-स्थ्य बोर्ड भी, श्रमिकों के स्वास्थ्य की देखभाल करेंगे।

बगान (Plantation) श्रम-कानून

भारत में सबसे पहले श्रम कानून बगानों के संबंध में ही बनाये गये। बगानों में मजदूरों का पाना कठिन था, अतः मालिकों के लिए भर्ती की सुविधाएं जुटाने के लिए १८६३ से १९०१ के बीच अनेक कानून पास किये गये। इन कानूनों ने समस्या का समाधान करने के स्थान पर, नई पेचीदगियां खड़ी कर

दीं। परिणामतः, १९०१ में आसाम श्रम निष्क्रमण (Emigration) एक्ट पास किया गया ; १९०८ और १९१५ में इसमें संशोधन किये गये और भर्ती की इकरार या गिरमिट (Indenture) पद्धति को समाप्त किया गया तथा मालिकों के हाथ से गिरफ्तारी के अधिकार छीन लिये गये। १९२९ के शाही श्रम-कमीशन ने बगान मजदूरों की समस्या पर भी विचार किया। उनकी सिफारिशों के फलस्वरूप, १९३२ का चाय जिलों का निष्क्रमणार्थी (Emigrant) श्रम-एक्ट पास हुआ।

चाय जिलों का निष्क्रमणार्थी (Emigrant) **श्रम एक्ट १९३२.** यह एक्ट मुख्यतः आसाम के चायबगानों में मजदूरों की भर्ती के नियंत्रण से संबंधित है। इसमें राज्य सरकार को अपने राज्य के किसी क्षेत्र को नियंत्रित निष्क्रमण क्षेत्र घोषित करने का अधिकार दिया गया है। इन नियंत्रित निष्क्रमण क्षेत्रों से ही स्थानीय लाइसेंस प्राप्त एजेंटों के द्वारा मजदूर आसाम भेजे जा सकते हैं। एक्ट में १६ साल से कम उम्र के किसी बच्चे को, जब तक कि उसके मां-बाप उसके साथ न हों, तथा विवाहित स्त्री को उसके पति की अनुमति के विरुद्ध, आसाम जाने में सहायता देने की मनाही है। निष्क्रमित मजदूरों और उनके परिवार के सदस्यों को ३ साल गुजरने के बाद तथा विशेष परिस्थितियों में उससे पहले, पुनः मालिकों के खर्चे पर घर तक भेजने की व्यवस्था की गयी है।

यह एक्ट केवल आसाम जानेवाले मजदूरों की भर्ती और भेजने का हीं नियंत्रण करता था। चायबगानों में काम करने वाले मजदूरों की काम करने की अवस्थाओं को नियंत्रित करने के संबंध में इसने कुछ नहीं किया। केवल कोचीन राज्य में इसकी व्यवस्था थी।

बगान-श्रम एक्ट १९५१. १९३२ एक्ट के दोषों तथा बगान में काम करने वाले मजदूरों के कल्याण ने हाल में पर्याप्त ध्यान आकर्षित किया। १९४७ में इस उद्देश्य से विभिन्न राज्यों, मालिकों और मजदूरों के प्रतिनिधियों का सम्मेलन बुलाया गया। औद्योगिक कमेटी ने रहन-सहन की लागत की जांच के आधार पर बगानों में मजदूरी निश्चित करने की सिफारिश की। १९४८ में सरकार ने स्वास्थ्य सेवाओं के उपडाइरेक्टर जनरल को बगानों में मजदूरों के स्वास्थ्य पर रिपोर्ट देने के लिए नियुक्त किया। इसने १२ साल से कम उम्र के बच्चों के काम पर लगाने को बन्द करने की सिफारिश की। इन्हीं सब बातों को लेकर १९५१ में पहला विस्तृत बगान श्रम-एक्ट पास किया गया। इसमें सर्वप्रथम चाय, काफी, रबर और सिन्कोना बगानों में काम करने की अवस्थाओं के कानूनी

नियंत्रण के संबंध में फैक्टरी एक्ट १९४८ से मिलती-जुलती कानूनी नियंत्रण की व्यवस्था की गयी।

परिवहन (Transport) कानून

भारतीय रेलवे एक्ट, १८९१-१९३१. परिवहन श्रमिकों के संबंध में सबसे महत्त्वपूर्ण कानून रेलवे में काम करनेवाले मजदूरों के लिये है। रेलवे वर्कशापों में काम करनेवाले मजदूर तो फैक्टरी एक्ट के ही नीचे आते हैं, पर अन्य कर्मचारियों पर रेलवे एक्ट लागू होता है। १८९१ में पहला रेलवे एक्ट पास हुआ और १९३० में यह संशोधित किया गया। इसमें कर्मचारियों को 'निरंतर (Continuous) कर्मचारी' और 'मूलतः अनिरन्तर' (Intermittent) दो श्रेणियों में बांटा गया है और उनके लिए सप्ताह में क्रमशः काम करने के ८४ और ६० घंटे नियत किये गये हैं। अर्जित छुट्टी का वेतन मिलने तथा ओवर टाइम के लिए सामान्य दर से सवाई मजदूरी मिलने की व्यवस्था की गई। एक्ट द्वारा सरकार को कुछ मामलों के बारे में नियम बनाने का अधिकार दिया गया। यह नियम रेलवे कर्मचारियों के रोजागार के घंटों के नियम कहलाते हैं। इस एक्ट के कार्यान्वित करने की जिम्मेदारी १९४६ से केन्द्रीय मुख्य लेबर कमिश्नर की है।

१९४७ का राजाध्यक्ष रेलवे अवार्ड. १९४६ में अखिल भारतीय रेलवे फेडरेशन ने रेलवे मजदूरों की कुछ मांगों पर विचार करने के लिए एक पंच (Adjudicator) नियुक्त करने की प्रार्थना की। परिणामस्वरूप, न्यायाधीश राजाध्यक्ष को इसके लिए नियुक्त किया गया। उन्होंने १९४७ में सरकार को अपना निर्णय दिया तथा रोजगार के घंटों के नियमों को, अभी तक छूटे हुए विभिन्न प्रकार के कर्मचारियों तक विस्तृत करने की सिफारिश की तथा निम्न चार श्रेणियों में कर्मचारियों को रखने का सुझाव दिया: (क) कठोर (Intensive)—जिन्हें विशेष सख्त या हाथ का काम करना पड़ता है जिसमें निरंतर एकाग्रता की जरूरत पड़ती है। इनके लिए सप्ताह में ४५ घंटे काम करने तथा उसके बाद ३० घंटे आराम की व्यवस्था है; (ख) निरंतर—इनके लिए सप्ताह में ५४ घंटे काम तथा उसके बाद ३० घंटे आराम की व्यवस्था है; (ग) मूलतः अनिरंतर—ऐसे कर्मचारी जिन्हें काफी समय खाली बैठे रहना पड़ता है। इनके लिए सप्ताह में ७५ घंटे तथा उसके बाद २४ घंटे की छुट्टी की, जिसमें पूरी रात का समावेश है, व्यवस्था है (घ) बहिष्कृत (Excluded)—इसमें चतुर्थ श्रेणी के रात में काम करने वाले कुछ कर्मचारी आते हैं। इनके लिए

अधिक से अधिक १० घंटे प्रति दिन तथा महीने में ३० घंटे की अथवा २२ घंटे की ५ अवधियों तक छुट्टी देने की व्यवस्था है ।

१९४८ में सरकार ने उक्त निर्णय को स्वीकार किया और उसे कार्यान्वित करने के लिए आदेश जारी किये। इस निर्णय से रेलवे कर्मचारियों की स्थिति में पर्याप्त सुधार हुआ ।

जहाज श्रम कानून

भारतीय व्यापारिक जहाजरानी (Shipping) **एक्ट १९२३-१९४९.** १९२०-२१ में अंतर्राष्ट्रीय श्रम सम्मेलन ने नाविकों के संबंध में तीन कन्वेन्शन पास किये, इनमें से दो को भारत सरकार ने स्वीकार किया। १९२३ में भारतीय नाविकों के काम करने की अवस्थाओं और शर्तों को नियंत्रित करने के लिए पहला भारतीय व्यापारिक जहाजरानी एक्ट पास किया गया। इसके अनुसार देशी या विदेशी जहाज में, केवल जहाज के मालिक की उपस्थिति में ही, निर्धारित तरीके से नाविकों को भर्ती किया जा सकता है। ३०० टन से अधिक वजन वाले जहाज के मालिक को निर्धारित फार्म पर नाविक के साथ एक इकरार-नामा करना पड़ता है। किसी विदेशी बन्दरगाह में भारतीय नाविक की सेवायें समाप्त होने पर मालिक पर उसे घर जानेवाले जहाजपर उपयुक्त काम दिलाने अथवा वापिस लौटने का खर्चा देने की जिम्मेदारी है। १९४९ में नाविक श्रम की पूर्ति को नियंत्रित करने के लिए इस एक्ट में संशोधन किया गया। इसके अनु-सार नाविकों की भर्ती के लिए बन्दरगाहों में रोजगांार दफ्तरों के खोलने की व्यंवस्था है। कुछ अपवादों को छोड़, बच्चों को काम में लगाने की मनाही है। १८ साल से कम उम्र के व्यक्तियों को, विशेष निर्धारित अवस्थाओं के अति-रिक्त, ट्रिमर और स्टोकर के काम पर नहीं लगाया जा सकता। मजदूरी के भुगतान के बारे में सामान उतारने के ३ दिन के भीतर अथवा बर्खास्तगी के ५ दिन के भीतर, भुगतान की व्यवस्था है। भुगतान में देरी होने की दशा में प्रत्येक दिन के लिए दो दिन के वेतन, किन्तु जो १० दिन के दुगुने वेतन से ज्यादा नहीं हो सकता, देने का नियम है। इसके अतिरिक्त, एक्ट में कटौती और अगाऊ रुपये के संबंध में भी नियम हैं। इकरार अवधि की समाप्ति के पहले नाविक को हटाने पर जहाज मालिक को मुआवजा देना होगा। भुगतान से पहले मजदूरी को कुड़क नहीं किया जा सकता।

इसके अतिरिक्त, नाविकों के स्वास्थ्य और कल्याण के लिए पृथक् नियम हैं, जिन पर हमने नाविकों की सुरक्षा के अंतर्गत विस्तार से वर्णन किया है।

डौक (Dock) श्रम-कानून

डौक-कर्मचारी (रोजगार नियमन) एक्ट. १९०८ के भारतीय बन्दरगाह (Ports) एक्ट में, जिसका कि १९२२ और १९३१ में संशोधन किया गया, बन्दरगाहों पर १२ साल से कम उम्र के बच्चों को माल ढोनेके काम में लगाने की मनाही की गई। १९२९ के अंतर्राष्ट्रीय श्रम-सम्मेलन और शाही श्रम-कमीशन की सिफारिशों के परिणामस्वरूप १९३४ में भारतीय डौक-श्रमिक एक्ट पास किया गया, किंतु इसे १९४८ तक लागू नहीं किया जा सका। १९४८ के एक्ट में डौक में काम करनेवाले मजदूरों की विभिन्न खतरों से रक्षा करने के लिये नियम बनाये गये हैं। इसके अतिरिक्त, इस एक्ट में केन्द्रीय सरकार को मुख्य बन्दरगाहों तथा राज्य सरकारों को गौण बन्दरगाहों के लिये रोजगार की नियमितता के उद्देश्य से डौक कर्मचारियों के रजिस्ट्रेशन की योजना बनाने, उनकी मजदूरी की दर, काम के घंटे, छुट्टी, रोजगार दिलाने पर नियंत्रण, ट्रेनिंग, कल्याण, स्वास्थ्य रक्षा तथा न्यूनतम मजदूरी निर्धारित करने की व्यवस्था की गई है। एक्ट में सरकार, मालिकों और मजदूरों के एक सलाहकार बोर्ड बनाने की भी व्यवस्था है।

१९४९ में केन्द्रीय सरकार ने इस संबंध में नियम बनाये और १९५० में सलाहकार समिति नियुक्त की। इसके अतिरिक्त, बम्बई में डौक-कर्मचारियों और मालिकों के बीच हुए समझौते के फलस्वरूप १९५१ में वहां के कर्मचारियों के लिये एक योजना स्वीकार की गई, जो कि बंबई डौक-कर्मचारी (रोजगार नियमन) योजना के नाम से प्रसिद्ध है। इसके शासन के लिये एक श्रम-बोर्ड है तथा अनुशासनात्मक मामलों और अपीलों की सुनवाई के लिये विशेष लेबर आफीसर और अपील ट्रिब्यूनल है।

दूकान और व्यापारिक श्रम-कानून

१९३० में अंतर्राष्ट्रीय श्रम-सम्मेलन ने दूकानों और व्यापारिक संस्थानों में लगे कर्मचारियों के काम करने की अवस्थाओं के संबंध में एक कन्वेंशन स्वीकार किया और उसी को लेकर भारत सरकार ने इस समस्या पर विचार किया। यह कन्वेंशन स्वीकार नहीं किया गया। १९४० में सर्वप्रथम बंबई सरकार ने इस दिशा में कदम उठाया और उसके बाद पंजाब, यू० पी०, सी० पी०, आसाम, मद्रास, बंगाल इत्यादि प्रान्तों में दूकान और व्यापारिक संस्थानों में लगे कर्मचारियों के लिये कानून बनाये गये। इस संबंध में १९४२ का साप्ताहिक छुट्टी-एक्ट और १९४६ का सवेतन छुट्टी का केन्द्रीय एक्ट भी है।

राज्यों के ये एक्ट दूकानों, व्यापारिक संस्थानों, रेस्तरांओं, और कुछ नगरों में मनोरंजन के स्थानों पर लागू होते हैं। राज्य सरकार इनके क्षेत्र को विस्तृत भी कर सकती है। काम करने के घंटों के संबंध में विभिन्न राज्यों में पृथक्-पृथक् नियम हैं। उदाहरणार्थ, यू० पी०, मद्रास और पंजाब में काम करने के ६ घंटे तथा मध्यप्रांत में ७ घंटे प्रति दिन काम करने की अवधि रक्खी गई। प्रायः बीच में आधे घंटे की छुट्टी की भी व्यवस्था है। बच्चों के रखने के संबंध में यू० पी० और मद्रास में न्यूतनम उम्र १४ साल तथा आसाम, बंगाल और मध्यप्रान्त में १२ साल रक्खी गई है। बंगाल में बच्चों के रखने पर कोई रोक नहीं है। इसके अतिरिक्त, सभी एक्टों में कर्मचारियों की मजदूरी के भुगतान के विशेष नियम हैं। यू० पी० और मद्रास में वेतनकाल १ महीने तथा पंजाब में १५ दिन से अधिक नहीं हो सकता। यू० पी० में ७ दिनों और मद्रास में ५ दिनों के भीतर वेतन का भुगतान हो जाना चाहिए। ओवर टाइम, कटौती और जुर्मानों के बारे में भी विशिष्ट नियम हैं। अधिकांश एक्टों में नौकरी से हटाने के लिये १ महीने के नोटिस की जरूरत है। एक्ट के शासन के लिये यू० पी०, पंजाब, और प० बंगाल में दूकान और व्यापारिक संस्थानों के मुख्य इंस्पेक्टर तथा अन्य राज्यों में फैक्टरी-इंस्पेक्टर नियुक्त किये गये हैं।

मजदूरी की दर और भुगतान के कानून

न्यूनतम मजदूरी (Minimum Wages) **एक्ट १९४८, ५१,–५३..** बहुत समय से विभिन्न उद्योगों में न्यूनतम मजदूरी के निश्चित करने की आवश्यकता अनुभव की जा रही थी। १९४३ में सर्वप्रथम त्रिदली संगठन की स्थाई समिति में इस विषय की चर्चा हुई और १९४५ में यह सिद्धान्त स्वीकृत हुआ। १९४६ में इस संबंध में एक बिल पेश किया गया जो १९४८ में पास हो सका। इस एक्ट का उद्देश्य अनेक उद्योगों में, विशेषकर जहां पर श्रमिकों का शोषण अत्यधिक है, मजदूरी की न्यूनतम दरें निर्धारित करना है। यह एक्ट केन्द्रीय और राज्य सरकारों को एक निश्चित अवधि के भीतर अनेक उद्योगों में न्यूनतम मजदूरी निश्चित करने की व्यवस्था करता है। यह उद्योग हैं—गर्म कालीन या शाल बनाने और बुनने वाले प्रतिष्ठान, तम्बाकू, जिसमें बीड़ी बनाने का समावेश है, चावल, आटे, दाल और तेल के मिल, बगान, स्थानीय अधिकारियों के अंतर्गत सेवाएं, सड़क या भवन-निर्माण कार्य, पत्थर तोड़ना या पीसना, लाख निर्माण, अभ्रक के कारखाने, सार्वजनिक मोटर ट्रांसपोर्ट, चमड़े के कारखाने और कृषि। राज्य सरकारों को इस सूची में वृद्धि करने का अधिकार है। किसी ऐसे

उद्योग में न्यूनतम मजदूरी निश्चित की जा सकती है, जिसमें कि १००० से कम व्यक्ति काम करते हों।

एक्ट में विभिन्न मजदूरों के लिये न्यूनतम समयानुसार दर (Time Rate), कार्यानुसार दर (Piece Rate), गारंटीप्राप्त समयानुसार दर निश्चित करने की व्यवस्था है। न्यूनतम मजदूरी में मजदूरी की बेसिक दर और भरण-पोषण व्यय के भत्ते (Cost of Living Allowance) अथवा भरण-पोषण व्यय भत्ते के साथ अथवा बिना, बेसिक मजदूरी के साथ प्राप्त आवश्यक वस्तुओं की सप्लाई की रियायतों की नकद कीमत, या सर्वसम्मिलित (All inclusive) दर का समावेश होगा। राज्य सरकारें इस कार्य के लिए जांच और सलाह समितियां नियुक्त कर सकती हैं। इसके लिये नियुक्त केन्द्रीय सलाहकार बोर्ड भी राज्य सरकारों के सलाह बोर्डों को सलाह देगा तथा उनके कार्यों का एकीकरण करेगा। इन समितियों में मालिक और मजदूरों के बराबर प्रतिनिधि तथा स्वतंत्र व्यक्ति होंगे, जिनकी संख्या एक तिहाई से अधिक नहीं होगी। संबंधित सरकारें काम करने के घंटों, साप्ताहिक छुट्टियों तथा ओवर टाइम इत्यादि के बारे में भी नियम निश्चित कर सकेंगी।

कार्यान्वित करने की अवधि. उक्त एक्ट में उद्योगों में न्यूनतम मजदूरी लागू करने की अवधि २ साल तथा कृषि में ३ साल रखी गई थी। न्यूनतम मजदूरी निश्चित करने में देरी होने के कारण १९५० में उस अवधि को पुनः उद्योगों के लिए मार्च १९५२ तथा कृषि के लिये मार्च १९५३ तक बढ़ाना पड़ा। कृषि में न्यूनतम मजदूरी निश्चित करने में कुछ व्यावहारिक कठिनाइयों के कारण, पुनः इस अवधि को मार्च १९५४ तक विस्तृत करना पड़ा। इस बीच विभिन्न राज्य सरकारों ने इस कार्य के लिये अनेक जांच समितियां नियुक्त कीं तथा उनकी सिफारिशों के फलस्वरूप अनेक उद्योगों में न्यूनतम मजदूरी निश्चित की है।

मजदूरी भुगतान एक्ट १९३६. मजदूरों के संरक्षण के लिये उन्हें मिलनेवाली मजदूरी के भुगतान के संबंध में कुछ कानूनों का होना जरूरी है। १९३५ तक हमारे यहां १८६० के मालिक कर्मचारी विवाद-एक्ट को छोड़, इसके लिये कोई कानून न था। शाही श्रम-कमीशन की सिफारिशों के फलस्वरूप १९३६ में इस संबंध में एक एक्ट पास हो सका। यह एक्ट किसी भी कारखाने या रेलवे में २०० रु० मासिक से कम वेतन पानेवाले सभी कर्मचारियों पर लागू होता है। इसके अनुसार वेतन काल एक महीने से अधिक नहीं रखा जा सकता तथा एक हजार से अधिक व्यक्तियों को लगानेवाले कर्मचारियों में मजदूरी का भुगतान

७ दिनों तथा अन्य प्रतिष्ठानों में १० दिनों के भीतर हो जाना चाहिए। एक्ट में केवल जुर्माने, गैरहाजिरी, हुए नुकसान, मालिक द्वारा प्रदान किये गये निवास स्थान या अन्य सेवाओं, सुविधाओं और आयकर प्रावीडेंट फंड या उससे लिये अगाऊ या सहकारी समिति, या डाक-बीमा की किश्त के भुगतान के लिये, मजदूरी में कटौती की अनुमति है। किन्तु इन कटौतियों के बारे में भी कुछ नियम हैं। जुर्माने की कुल रकम २ पैसा फी रुपए से ज्यादा नहीं हो सकती। जुर्माने का जुर्माना-रजिस्टर में दर्ज होना और जुर्माना कोष में जमा होना जरूरी है। गैरहाजिरी की कटौती उस माल की मजदूरी से अधिक नहीं हो सकती। मजदूर की लापरवाही से होनेवाली हानि के लिये ही उसकी मजदूरी में से, अधिक से अधिक हानि की रकम के बराबर, कटौती की जा सकती है, किन्तु उसको मालिक के रजिस्टर में दर्ज होना चाहिए।

१९४८ से यह एक्ट कोयले की खानों, बगानों, ट्रामवे, मोटर सेवाओं इत्यादि कई उद्योगों पर लागू कर दिया गया है। उत्तर प्रदेश में छापेखाने भी इसके अन्तर्गत आते हैं।

श्रम संगठनों और औद्योगिक झगड़ों से सम्बन्धित कानून

श्रम संघ (Trade Union) कानून

भारतीय श्रम-संघ एक्ट १९२६,-२८,-४२,-४७. एक लम्बे समय तक हमारे यहां श्रम-संघों को कोई कानूनी अधिकार प्राप्त न थे। १९२६ में इस संबंध में पहला कदम उठाया गया और भारतीय श्रम-संघ एक्ट पास किया गया। १९२८ और १९४२ में इसमें सामान्य तथा १९४७ में महत्त्वपूर्ण संशोधन किये गये।

वर्तमान संशोधित एक्ट के अनुसार किसी श्रम-संघ के ७ या उससे अधिक सदस्य, एक्ट के अंतर्गत नियुक्त रजिस्ट्रार को संघ के रजिस्ट्रेशन के लिये दर्ख्वास्त दे सकते हैं और निर्दिष्ट बातों के पूरा करने पर उन्हें इसके लिये सर्टीफिकेट प्राप्त हो जाता है। संघ के कम से कम आधे अधिकारियों का संबंधित उद्योग में काम करना जरूरी है। निर्दिष्ट अवस्थाओं में रजिस्ट्रार संघ के रजिस्ट्रेशन को रद्द कर सकता है। इसके विरुद्ध अपील की जा सकती है।

रजिस्टर्ड श्रम-संघ के अधिकार और विशेषाधिकार. रजिस्टर्ड श्रम-संघ के पदाधिकारियों और सदस्यों को अपने कानूनी उद्देश्यों के लिये किये गये कामों में फौजदारी कार्यवाही के विरुद्ध संरक्षण प्राप्त हैं। उन्हें औद्योगिक झगड़े के संचालन के कारण रोजगार के करार या कार्य में बाधा पहुंचाने के अभियोग में दीवानी कार्यवाही के विरुद्ध भी संरक्षण प्राप्त है।

उनके कर्त्तव्य और दायित्व. रजिस्टर्ड श्रम-संघ के सामान्य कोप की रकम को निर्दिष्ट मदों में खर्च किया जा सकता है। वैसे संघों को स्वैच्छिक आधार पर अपने नागरिक और राजनैतिक कार्यों के लिए चंदा इकट्ठा करने का अधिकार है। इनके लिये अपने नाम और उद्देश्यों की व्याख्या तथा बाकायदा हिसाब रखना तथा उसका आडिट करना और संघ के नाम, नियमों और संविधान में किसी प्रकार के परिवर्तन की सूचना रजिस्ट्रार को देना जरूरी है।

१९४७ का संशोधन. इसके अनुसार मालिकों द्वारा प्रतिनिधि-संघों को स्वीकृति या मान्यता प्रदान करना अनिवार्य है। संघ को मान्य होने के लिये निम्न शर्तों का पूरा करना आवश्यक है—(१) वह एक्ट के अन्तर्गत रजिस्टर्ड है, (२) उसके समस्त सदस्य उसी अथवा सहायक उद्योगों में काम करते हैं, (३) वह उस उद्योग में लगे सब कर्मचारियों का प्रतिनिधित्व करता है, (४) इसके नियम उस उद्योग के किसी कर्मचारी को उसका सदस्य बनने से नहीं रोकते, (५) इसके नियमों में हड़ताल घोषित करने की कार्यप्रणाली की व्यवस्था है और (६) इसमें कम से कम छः महीने में एक बार कार्यकारिणी (Executive) की सभा बुलाने की व्यवस्था है।

श्रम-संघों और मालिकों के लिये अनुचित कार्य (Unfair Practices). १९४७ के एक्ट में, (१) किसी संघ के बहुसंख्यक सदस्यों द्वारा अनियमित हड़ताल में हिस्सा लेना, (२) कार्यकारिणी के लिये किसी अनियमित हड़ताल को सलाह देना या भड़काना, (३) किसी संघ अधिकारी के लिये हिसाब का गलत विवरण देना, अनुचित कार्य ठहराये गये हैं। इसी प्रकार मालिकों के लिये, (१) मजदूरों के श्रम-संघ में संगठित होने के अधिकार में किसी भी प्रकार की बाधा पहुंचाना, (२) किसी श्रम-संघ के निर्माण या शासन में किसी प्रकार का दखल देना अथवा उसे आर्थिक सहायता देना, (३) इस एक्ट के अंतर्गत नियुक्त किसी जांच-समिति के सामने गवाही देने पर किसी मान्य श्रम-संघ के सदस्य या अधिकारी को हटाना या उसके साथ भेदभाव बरतना और (४) मान्य श्रम-संघ से समझौते की बातचीत करने या एक्ट के अंतर्गत उसे प्राप्त विशेषाधिकारों को मानने से इनकार करना, अनुचित कार्य हैं।

किसी भी अनुचित कार्य करने पर मालिक को दण्ड देने तथा श्रम-संघ की मान्यता को रद्द करने की व्यवस्था है। इस एक्ट का शासन राज्य सरकारों द्वारा नियुक्त श्रम-संघों के रजिस्ट्रारों द्वारा होता है।

श्रम-संघ बिल १९५०. भारतीय पार्लियामेंट के सम्मुख १९५० में श्रम-संघों के संबंध में एक बिल पेश किया गया। इसका उद्देश्य एकीकरण था

और इसमें कुछ नयी धाराएं भी थीं। इसमें श्रम-संघों के रजिस्ट्रेशन की शर्तों को विस्तृत किया गया। श्रम-संघों के नियमों में चंदे की दर का निश्चित होना, उसे न देने की अवस्था में और बिना कार्यकारिणी की स्वीकृति के किसी हड़ताल या तालाबन्दी में हिस्सा लेने अथवा संघ के नियमों के उल्लंघन पर, अनुशासनात्मक कार्यवाही की व्यवस्था होना आवश्यक है। १९४७ के एक्ट की भांति इसमें भी संघों की अनिवार्य मान्यता को स्वीकार किया गया तथा अनेक कार्यों को अनुचित घोषित किया गया। श्रम-संघों की कार्यकारिणी में बाहर के सदस्यों की संख्या अधिक से अधिक ४ अथवा कुल सदस्यों की चौथाई निश्चित की गई। नागरिक (Civil) सेवकों के संघों में बाहर के लोग पदाधिकारी नहीं हो सकते। जहां मान्यता के लिये दो या उससे अधिक संघों में होड़ हो, वहां अधिक सदस्यतावाले संघ को मान्यता प्रदान की जायेगी।

मालिकों और मजदूरों के प्रतिनिधियों द्वारा उक्त बिल की विभिन्न दृष्टिकोणों से आलोचना हुई। बावजूद इसके, यह बिल श्रम-संगठन के कानून की प्रगति के इतिहास में एक महत्त्वपूर्ण कदम था। पास करने की अवधि निकल जाने के कारण यह बिल पास न हो सका, पर सरकार ने शीघ्र ही नया बिल पेश करने का आश्वासन दिया।

औद्योगिक झगड़ों से संबंधित कानून. भारत में औद्योगिक झगड़ों के लिये विशेष कानून पर्याप्त देरी से बने। एक लम्बे समय तक १८६० का मालिक और कर्मचारी (विवाद) एक्ट ही इस क्षेत्र में रहा। इसकी व्यवस्थाएं मजदूरों के हितों के बहुत विरुद्ध थी। शाही श्रम-कमीशन ने इसके रद्द करने की सिफारिश की और परिणामतः १९३२ में यह रद्द कर दिया गया। प्रथम युद्ध के बाद से भारत में औद्योगिक झगड़ों की संख्या पर्याप्त बढ़ गई और इनके निपटाने के लिए आवश्यक कानून की जरूरत महसूस की जाने लगी।

व्यावसायिक विवाद (Trade Disputes) एक्ट १९२९. कई साल गुजर जाने के बाद कहीं जाकर १९२९ में पहला व्यावसायिक विवाद एक्ट पास हो सका। एक्ट में संबंधित केन्द्रीय, राज्य और रेलवे अधिकारियों के लिए जांच न्यायालय (Courts of Inquiry) और सुलह (Conciliation) बोर्ड बनाने की व्यवस्था थी। जांच न्यायालय स्वतन्त्र व्यक्ति या व्यक्तियों से मिलकर बना था। सुलह बोर्डों में एक स्वतन्त्र अध्यक्ष तथा मालिकों और मजदूरों के बराबर, दो या चार प्रतिनिधि होते थे। सुलह बोर्ड एक स्वतन्त्र व्यक्ति से मिलकर भी बन सकता था। एक्ट के अनुसार जांच न्यायालय का काम उसे दिये मामलों पर अपनी रिपोर्ट देना तथा सुलह बोर्डों का काम उचित समय में समझौते की

चेष्टा करना था। सार्वजनिक उपयोग की सेवाओं में हड़ताल या तालाबन्दी के लिये १४ दिन का नोटिस देना जरूरी था। सहानुभूति के लिये की गई हड़तालें गैरकानूनी करार दी गईं। इस एक्ट की सबसे बड़ी कमी यह थी कि इसमें झगड़ों के निवारण के लिये कोई स्थाई संगठन न था। इसके अतिरिक्त, इसके अन्तर्गत कोई भी प्रमुख हड़ताल समाज को कष्ट पहुंचाने के कारण गैरकानूनी घोषित की जा सकती थी।

१९२९ के एक्ट में १९३२, १९३८ तथा युद्धकाल म अनेक संशोधन किये गये। १९३८ में बम्बई सरकार ने अपना पृथक् विवाद एक्ट पास किया। १९३८ के संशोधन में सुलह-अफसरों की नियुक्ति की व्यवस्था की गई। १९४६ में युद्धकालीन इमरजेंसी कानून हटा दिये गये, किंतु युद्ध-काल के अनुभव ने औद्योगिक झगड़ों के निवारण के लिये एक नये, विस्तृत और अधिक प्रभावशाली कानून की आवश्यकता पर जोर दिया। परिणामतः, १९४७ में एक नया एक्ट पास किया गया।

औद्योगिक विवाद (Disputes) **एक्ट १९४७.** इस एक्ट के पहले कानून के अधिकांश अंशों को रखते हुए दो नयी महत्त्वपूर्ण संस्थाओं—कार्य-समितियों (Works Committees) जो कि मालिकों और मजदूरों के प्रतिनिधियों से मिलकर बनेंगी; और औद्योगिक ट्रिब्यूनलों की, जो कि उच्च न्यायालय के न्यायाधीशों की योग्यता रखने वाले एक या अधिक न्यायाधीशों से मिलकर बनेंगे, स्थापना की है। इस एक्ट के अनुसार संबंधित सरकारों को १०० या उससे अधिक कर्मचारी रखने वाले प्रतिष्ठानों को अपने यहां कार्य-समितियां बनाने का आदेश देने का अधिकार है। यह एक्ट सुलह कार्य को एक नई दिशा प्रदान करता है। संबंधित सरकारों को व्यावसायिक झगड़ों के निपटाने के लिए सुलह अफसर, सुलह बोर्ड और जांच न्यायालय नियुक्त करने का अधिकार है।

जैसे ही औद्योगिक झगड़ा शुरू होगा या उसके शुरू होने की संभावना होगी, सुलह अफसर दोनों दलों के बीच समझौता कराने की कोशिश करेगा। असफल होने पर वह सरकार को अपनी रिपोर्ट देगा। इस पर सरकार इस मामले को सुलह बोर्ड या औद्योगिक ट्रिब्यूनल के सुपुर्द कर सकती है। इस एक्ट के अंतर्गत सरकार को एक साल तक के लिये ट्रिब्यूनल के निर्णय को दोनों दलों के लिये मान्य घोषित करने की व्यवस्था थी। १९५० के औद्योगिक विवाद (अपील ट्रिब्यूनल) एक्ट के अनुसार सरकार के लिये, निर्णय को अनिवार्यतः मान्य घोषित करना आवश्यक नहीं है, वह उसके प्रकाशन के ३० दिन के भीतर दलों के लिये अनिवार्यतः मान्य हो जाता है। १ साल की अवधि को भी घटाया अथवा ३ साल तक बढ़ाया

जा सकता है। यदि सरकार औद्योगिक ट्रिब्यूनल के निर्णय से सहमत नहीं है, तो वह उसे संशोधित या अस्वीकृत कर सकती है, किन्तु उस दशा में उसका विधान सभा (Legislative Assembly) के सामने पेश किया जाना जरूरी है जो कि उसे स्वीकृत, अस्वीकृत या संशोधित कर सकती है। इस प्रकार एक्ट में अनिवार्य पंच निर्णय (arbitration) की व्यवस्था है। इसके अतिरिक्त, सार्वजनिक उपयोग सेवाओं में झगड़े होने की स्थिति में, सरकार के लिये उन्हें सुलह के लिये सुपुर्द करना अनिवार्य है। एक्ट में गैरकानूनी हड़तालों में हिस्सा लेनेवाले तथा सुलह कार्यवाही के बीच दुर्व्यवहार के कारण को छोड़, कर्मचारी की सेवा की शर्तों में परिवर्तन अथवा उसे दण्डित करने के विरुद्ध भी संरक्षण प्रदान किया गया है। निस्संदेह १९४७ का औद्योगिक विवाद एक्ट औद्योगिक विवाद के क्षेत्र में एक प्रगतिशील कदम है।

१९४९ और १९५३ के संशोधन. १९४९ के औद्योगिक विवाद (बैंकिंग और बीमा कम्पनी) एक्ट ने उक्त एक्ट के क्षेत्र को बैंकों और बीमा कम्पनियों तक विस्तृत कर दिया है। १९५३ में हुए एक अन्य संशोधनके अनुसार मजदूरोंकी इच्छा के विरुद्ध खाली बैठे रहने (lay off) तथा छंटनी (Retrenchment) की अवस्था में मुआवजे की व्यवस्था की गई है। यह संशोधन खानों और बगानों पर लागू नहीं होता।

केन्द्रीय सरकार के अतिरिक्त, विभिन्न राज्यों ने भी अपने पृथक् औद्योगिक विवाद एक्ट पास किये हैं। १९३८ में बम्बई ने इस दिशा में पहल की थी। उत्तर प्रदेश, मध्य प्रदेश, मैसूर त्रावणकोर-कोचीन, मध्य भारत और जम्मू-कश्मीर राज्यों ने औद्योगिक विवाद एक्ट पास किये हैं।

कल्याण और सुरक्षा से सम्बंधित श्रम-कानून

पीछे वर्णित श्रम-कानूनों के अतिरिक्त, केन्द्रीय और राज्य सरकारों ने मजदूरों और कल्याण को लेकर अनेक एक्ट पास किये हैं। कोयला खान-रक्षा (भरना) एक्ट १९३९, कोयला खान-श्रम कल्याण कोष एक्ट १९४७, अभ्रक खानश्रम कल्याण कोष एक्ट १९४६, प्राविडेंट फंड एक्ट १९५२, बालक (प्रतिज्ञा बद्ध-श्रम) एक्ट १९३३, तथा विभिन्न मातृत्व (Maternity), मजदूर मुआवजा एक्ट और अन्ततः राज्य-कर्मचारी बीमा कानून १९४८ ऐसे ही प्रमुख कानून हैं। सामाजिक सुरक्षा से संबंधित कानूनों का हमने अगले अध्याय में विस्तार से वर्णन किया है।

श्रम-कानून का मूल्यांकन

भारत में श्रम-कानून के उक्त संक्षिप्त विवेचन से यह स्पष्ट है कि

सामान्यतः पिछले तीस सालों और विशेषतः हाल के दस सालों में श्रम-कानून के विस्तार, सुधार और संशोधन की दिशा में पर्याप्त प्रगति हुई है। फिर भी उन्नत औद्योगिक राष्ट्रों की तुलना में हम इस दृष्टि से अभी काफी पीछे हैं। कुछ अंशों में तो हमारे उद्योगों की विशेष अवस्थाएं, मजदूरों की संगठन शक्ति, समाज का ढांचा और सरकार की नीति भी इसके लिये जिम्मेदार हैं। कुछ उद्योगों में, विशेषकर जूट मिलों, बगानों और छोटे असंगठित उद्योगों में, काम करने वाले मज्दूरों की दशा अत्यधिक खराब है। अतः उनके लिये विशेष कानूनों का बनना आवश्यक है। अनिवार्य औद्योगिक गृह विकास एक्टों की भी बड़ी जरूरत है।

अंत में विभिन्न राज्यों में एक ही विषय पर बनाये गये कानूनों के बीच एकीकरण स्थापित करना तथा नये मजदूर वर्गों को संरक्षण प्रदान करना और विद्यमान संरक्षणों में वृद्धि हमारी भावी श्रम-कानून नीति का उद्देश्य होना चाहिए।

नवां अध्याय

सामाजिक सुरक्षा

सामाजिक सुरक्षा (Social Security) की परिभाषा

सदैव विद्यमान जोखिमों के विरुद्ध समाज द्वारा प्रदत्त सुरक्षा. अंतर्राष्ट्रीय श्रम-संगठन (ILO) के एक प्रकाशन के अनुसार, "सामाजिक सुरक्षा वह सुरक्षा है, जो कि समुचित संगठनों द्वारा समाज अपने नागरिकों को उन जोखिमों के विरुद्ध प्रदान करता है, जिनकी आशंका सदा विद्यमान रहती है।" यह जोखिम मूलतः वह अज्ञात आपदाएं और संकट होते हैं, जिनसे कि अल्प साधन प्राप्त व्यक्ति अपनी रक्षा स्वयं नहीं कर सकते। बीमारी, मातृत्व, असमर्थता, दुर्घटना, बेकारी, बुढ़ापा और मृत्यु ऐसे ही जोखिम हैं।

अभाव, अज्ञान, गंदगी, बेकारी और बीमारी के विरुद्ध सुरक्षा. प्रसिद्ध अंग्रेज सामाजिक सुरक्षा विशेषज्ञ विलियम बेवरिज के शब्दों में, "अभाव, अज्ञान, गंदगी, बेकारी और बीमारी, इन पांच दानवों के विरुद्ध जहाद के प्रयत्न सामाजिक सुरक्षा के अंतर्गत आते हैं।" जन्म से लेकर मृत्यु तक मनुष्य विभिन्न आपदाओं का शिकार बनता है। जहां तक बच्चों के लालन-पालन का संबंध है, वात्सल्य की सहज प्रेरणा बहुत कुछ उसका समाधान कर देती है। फिर भी माता-पिता के लिये आवश्यक आर्थिक साधनों का प्रश्न तो रहता ही है। अन्य आपदाओं के संबंध में तो प्रकृति का कोई ऐसा प्रबल प्रभाव भी नहीं है। इसलिए ऐसी अवस्थाओं में बाहरी सहायता की आवश्यकता विशेष रूप से अनुभव होती है।

पारिवारिक सुरक्षा की सीमितता. प्रायः सभी समुदायों में माता-पिताओं द्वारा बच्चों के लालन-पालन करने तथा उनके बड़े होने पर उनके द्वारा बुढ़ापे में माता-पिता की शुश्रूषा करने पर बहुत जोर दिया गया है। प्रारम्भिक काल से ही परिवार ने अपने सदस्यों की विभिन्न असंभावित आपदाओं से रक्षा करने में महत्त्वपूर्ण पार्ट अदा किया है। किंतु दुर्भाग्य से एक परिवार की संरक्षण करने की सामर्थ्य बहुत ही सीमित है। इसलिये संकट में व्यक्तियों को विस्तृत समुदाय—पड़ोसी, बिरादरी, महाजनों, दानियों या दोस्तों का मुंह ताकना पड़ता है।

दान पर आधरित सुरक्षा की कमियां. सुरक्षा के क्षेत्रों में क्रमशः दान या

खैरात का विकास हुआ। इस दान की मूल प्रेरणा प्रायः असुरक्षा का अंत न हो, पुण्य संचय और यश लाभ की कामना थी। संस्थागत धर्म के युग मध्यकाल में सामाजिक सुरक्षा के लिये दान में प्राप्त रकम का बड़ा अंश मंदिरों, मस्जिदों, गिरजों और अन्य धार्मिक संगठनों के हाथ में जाता था। इन संस्थाओं के व्यय का ढंग पर्याप्त मनमाना था और उस पर किसी प्रकार का नियंत्रण न था। शुद्धि या तबलीग की भावना और सामुदायिक भेदभाव उसका अभिन्न अंग था। दान की रकम से अनेक स्थानों पर अनाथालयों, विधवा आश्रमों, औषधालयों और पाठशालाओं इत्यादि संस्थाओं की स्थापना हुई। प्रायः इन संस्थाओं के साधन बहुत सीमित, दृष्टिकोण अति संकीर्ण और कार्यपद्धति पर्याप्त दोषपूर्ण थी। इस प्रकार व्यक्तिगत दान और दया पर आश्रित व्यक्तिगत सुरक्षा-संस्थाएं समाज के सदस्यों की आकस्मिक आपदाओं और जोखिमों का समाधान करने में समर्थ न हो सकीं।

दान पर आधारित सहायता न केवल अपूर्ण और अल्प ही थी, प्रत्युत उसका मानवीय पहलू बहुत ही लज्जास्पद था। इस प्रकार की सहायता एक ओर सहायता प्राप्त करने वाले व्यक्ति में हीनता और नीचता की और दूसरी ओर दानी में अहंकार और अभिमान की भावना उत्पन्न करती थी। इसमें सहायता पानेवाला अपने को सदा छोटा अनुभव करता था। यह सहायता सामाजिक न्याय, नियम, या अधिकार पर आधारित न हो, कुछ पैसेवालों की मनमर्जी, कृपा और दान भावना पर आधारित थी। इसी कारण इसका नैतिक पहलू बुरा था। दान स्वीकार करना सहायता प्राप्त करने वाले व्यक्ति के आत्मसम्मान के विरुद्ध था। धार्मिक अंधविश्वास और संकीर्णता के साथ संयुक्त होने के कारण, इसके पीछे वैज्ञानिक दृष्टिकोण का अभाव था। परिणामतः, दान का एक बड़ा अंश जरूरतमंद लोगों के हाथ में न पहुंच, निठल्ले लोगों के हाथ में जा पहुंचता था। इसका प्रत्यक्ष प्रमाण हमारे यहां के कई लाख हट्टे-कट्टे साधु और भिखारी हैं।

कारण का निदान नहीं. व्यक्तिगत सुरक्षा ने जहां कठिनाई में व्यक्ति को मदद पहुंचाने का प्रयत्न किया, वहां उन कठिनाइयों को पैदा करने वाले कारणों को दूर करने का कोई उपाय नहीं किया। यही नहीं, बल्कि दानियों ने प्रायः प्रगतिशील सामाजिक सुधारों का प्रबल विरोध किया। दानी पूंजीपतियों द्वारा मजदूरों की काम करने की अवस्थाओं को सुधारने के उद्देश्य से बनाये गये कानूनों का विरोध इसका एक अच्छा उदाहरण है।

राज्य द्वारा सामाजिक सुरक्षा का भार ग्रहण. राजनैतिक चेतना, समाज

वादी विचारधाराओं और जनतांत्रिक संस्थाओं के विकास ने इस बात पर बल दिया कि जनता की सुरक्षा की अंतिम जिम्मेदारी समाज की है। समाज की एक साधन-सम्पन्न और शक्ति प्राप्त संस्था के रूप में राज्य का यह कर्तव्य है कि वह अपने नागरिकों के लिये उन समस्त सुविधाओं को जुटाने की कोशिश करे, जो कि उसके व्यक्तित्व के विकास के लिये जरूरी हैं।

सामाजिक सुरक्षा की संस्थाएं. राज्य द्वारा जनता को सुरक्षा प्रदान करने के प्रयत्नों के परिणामस्वरूप सामाजिक सुरक्षा की दो महत्त्वपूर्ण संस्थाओं सामाजिक सहायता (Social Assistance) और सामाजिक बीमा का (Social Insurance) विकास हुआ। सामाजिक सहायता किसी भी नागरिक को बिना किसी भेदभाव के विशेष अवस्था में होने पर प्राप्त होती है। उसके साधन जुटाने के लिये सरकार करों, अथवा यदि वह समाजवादी सरकार है, तो अपने उद्योगों के लाभ की रकम, का उपयोग करती है। सामाजिक बीमा के अंतर्गत मालिक और कर्मचारी किश्तें देकर सहायता पाने का अधिकार प्राप्त करते हैं।

भारत में सामाजिक सुरक्षा का महत्त्व. भारत जैसे देश में, जहां की अधिकांश जनता हृदयद्रावक निर्धनता, अशिक्षा, बेकारी और बीमारी से बुरी तरह पीड़ित है, सामाजिक सुरक्षा सेवाओं का महत्त्व और आवश्यकता और भी अधिक है। यहां एक सामान्य नागरिक के लिये उसका सारा जीवन अनन्त श्रम, निरंतर संघर्ष, भयानक गरीबी और दुश्चिन्ता के अतिरिक्त कुछ भी अर्थ नहीं रखता। क्या यह अवस्था स्वाभाविक, अपरिवर्तनीय और पूर्व निर्धारित है? यदि हम अपने आर्थिक साधनों पर दृष्टि डालें, तो हमें स्पष्ट होगा कि ऐसी बात नहीं है। सामाजिक सुरक्षा का विस्तार उन साधनों के उपयोग के लिये आवश्यक है। फिर जहां एक ओर सामाजिक सुरक्षा हमारे आर्थिक साधनों को विकसित करती है, वहां दूसरी ओर उन्नत और समृद्ध आर्थिक साधन सामाजिक सुरक्षा के विस्तार को संभव बनाते हैं।

सामाजिक सुरक्षा का विकास

दिन-प्रतिदिन सभी सभ्य राष्ट्र सामाजिक सुरक्षा के महत्त्व को स्वीकार कर रहे हैं। निर्धन सहायता (Poor Relief) के रूप में सामाजिक सहायता सदियों से एक भोंडे रूप में हमारे साथ चली आ रही है। किंतु आधुनिक अर्थों में इसका श्रीगणेश बीमारी-बीमा के रूप में सर्वप्रथम जर्मनी में १८८३ में हुआ। तब से सामाजिक बीमा की संस्था निरन्तर विकसित होती जा रही

है। उसका क्षेत्र बढ़ रहा है। उसके लाभों (Benefits) और भागदेयों (Contributions) के तरीकों में संशोधन हो रहे हैं। योजनाओं के संचालन के लिए स्वायत्त संस्थाओं का संगठन हो रहा है। आर्थिक सुरक्षा के मुख्य साधन के रूप में सामाजिक बीमा को सार्वभौम स्वीकृति प्राप्त हो चुकी है। यह व्यवस्था मुख्यतः १८८५-१९३५ के बीच में विशेष रूप से विकसित हुई है। द्वितीय महायुद्ध के बाद पुनः सामाजिक सुरक्षा को युद्धोपरान्त योजनाओं में प्रमुख स्थान मिला। अटलांटिक चार्टर में सुधरे श्रममान, आर्थिक प्रगति और सामाजिक सुरक्षा विकसित करने के उद्देश्य से विभिन्न राष्ट्रों में सहयोग आवश्यक बना दिया गया। १९४४ में फिलेडेलफिया में हुए २६ वें अन्तर्राष्ट्रीय श्रम-सम्मेलन में युद्धजनित सामाजिक सुरक्षा के सिद्धांतों और समस्याओं पर विचार किया गया तथा उसे युद्धोपरान्त उद्देश्यों में विशेष स्थान दिया गया।

सामाजिक सुरक्षा के मानों के निर्धारण में अन्तर्राष्ट्रीय श्रम-सम्मेलन का २६ वां अधिवेशन महत्त्वपूर्ण कदम है। द्वितीय महायुद्ध से पहले सामाजिक बीमे का विकास शाखावार (Branch by branch) हुआ था। उन शाखाओं के अपनाये जाने का क्रम देश-विशेष की आवश्यकता की प्रबलता, जोर और स्थिति द्वारा निर्धारित था। सामान्यतः इस क्षेत्र में सर्वप्रथम मालिक-दायित्व कानून (Employer's Liability Law) मजदूर-मुआवजा था। इनमें बेकारी-बीमा सबसे अंतिम चीज थी। इन दोनों के बीच अंगहानि के विरुद्ध बीमा, पेशेगत बीमारियां, असमर्थता, अपाहिजता, बीमारी, मातृत्व, बुढ़ापा, दाह-संस्कार, वैधव्य, अनाथपन इत्यादि आईं। इन सब शाखाओं के एकीकरण के संबंध में प्रायः सोचा गया पर उस पर अमल कम ही हुआ। १९३८ में न्यूजीलैंड ने सर्वप्रथम इस दिशा में कदम उठाया। १९४२ में सर विलियम बेवरिज की सिफारिशों के फलस्वरूप इंग्लैंड ने इसे व्यावहारिक रूप दिया। विस्तृत सार्वभौम क्षेत्र और विस्तृत डाक्टरी सहायता के विचारों ने शीघ्र ही समस्त संसार के राजनीतिज्ञों तथा शिक्षित जनता को अपनी ओर खींचा और विभिन्न राज्यों—उदाहरणार्थ, आस्ट्रेलिया, ब्राजील, कनाडा, फ्रांस और संयुक्त राज्य अमेरिका ने इन्हें अपनाया। अन्तर्राष्ट्रीय श्रम-सम्मेलन स्वयं इस प्रवृत्ति के प्रभाव में आया और उसने "एक ही योजना के अन्तर्गत काम करने अथवा काम पाने की असमर्थता की स्थिति में गुजारे की सुरक्षा से सम्बद्ध समस्त व्यवस्थाओं तथा उन्हें दूसरों के नीचे अथवा निजी काम में लगे और नगर और ग्रामीण सभी काम करने वालों तक विस्तृत करने की" सिफारिश की। सम्मेलन के २६ वें अधिवेशन ने उपर्युक्त सिद्धांतों को, आर्थिक सुरक्षा और डाक्टरी देख-रेख, दो सिफारिशों में

व्यक्त किया है। यह सिफारिशें आज सामाजिक सुरक्षा की प्रगति के मानदण्ड तथा मार्गदर्शक के रूप में मानी जाती हैं।

१९५२ में जिनेवा में अन्तर्राष्ट्रीय श्रम-सम्मेलन के ३५ वें सत्र के कृषि में वेतनसहित अवकाश, सामाजिक सुरक्षा के अल्पतम मान तथा मातृत्व-संरक्षण पर तीन कन्वेंशन तथा वेतनसहित अवकाश, मालिकों और कर्मचारियों के बीच सलाह और सहयोग तथा मातृत्व-संरक्षण पर तीन सिफारिशें स्वीकार कीं। भारत ने इनमें से कोई भी कन्वेंशन और सिफारिश स्वीकार नहीं की। सामाजिक सुरक्षा और मातृत्व-लाभों के विषय में अवश्य भारत-सरकार के उपश्रममंत्री ने स्थिति पर पुनर्विचार करने का आश्वासन दिया है।

भारत की सामाजिक सुरक्षा में अभिरुचि

बीसवीं सदी के प्रारम्भ में हमारे यहां आधुनिक उद्योगों में काम करने-वाले मजदूरों के कुछ जोखिमों के विरुद्ध सुरक्षा की चर्चा प्रारम्भ हुई। किंतु बहुत सालों तक इस दिशा में कुछ नहीं किया गया। १९१९ में भारत अन्त-र्राष्ट्रीय श्रम-संगठन का एक सदस्य बना और हमारे यहां भी सामाजिक सुरक्षा की समस्याओं में अभिरुचि दिखाई जाने लगी। तब से लेकर स्वाधीनता-प्राप्ति तक, सिवाय मजदूर-मुआवजा तथा कुछ मातृत्व-सहायता जैसे मालिक-दायित्व कानूनों को छोड़, जो कि बहुत ही अल्प जनसंख्या पर लागू थे तथा जिनकी सहायता भी बहुत ही अपर्याप्त थी, हमारे यहां सामाजिक सुरक्षा की दिशा में कोई कथनीय बात नहीं हुई। इसमें सन्देह नहीं कि इस बीच भारत की समस्याओं में दिलचस्पी रखनेवाले सभी व्यक्तियों और वर्गों ने भारत में सामाजिक सुरक्षा की आवश्यकता और महत्त्व को अच्छी तरह अनुभव किया।

स्वाधीनता-प्राप्ति के बाद की दो घटनाओं ने सामाजिक सुरक्षा की समस्या को सम्मुख लाने में विशेष योग दिया। वह थीं एक तो १९४७ के अन्त में होने-वाली प्रारंभिक एशियन प्रादेशिक श्रम-सम्मेलन द्वारा सामाजिक सुरक्षा के संबंध में एक विस्तृत प्रस्ताव का स्वीकार किया जाना तथा दूसरी, भारतीय संसद (Parliament) द्वारा कर्मचारी राज्य-बीमा-अधिनियम का पास होना। एशियन प्रादेशिक श्रम-सम्मेलन में पास प्रस्ताव के अनुसार एशियाई देशों में व्याप्त भीषण गरीबी, विस्तृत-बीमारी और महामारियां, अति शिशु और मातृ-मृत्यु-दर, अल्प जीवन-काल, बेकारी द्वारा उत्पन्न कष्ट और भुखमरी को देखते हुए, एक वास्तविक जनतंत्रीय समाज के लिए सामाजिक सुरक्षा सेवाओं की शीघ्र स्थापना आवश्यक शर्त है।

कर्मचारी-राज्य-बीमा-अधिनियम १९४८ पिछले पांच सालों में हुए विभिन्न रिपोर्टों, नोटों, बहस-मुबाहिसों तथा अन्वेषणों का परिणाम थी। इस योजना ने भारतीय श्रम-कानून के क्षेत्र में एक नये अध्याय का प्रारंभ किया। यह एक अनिवार्य बीमा की योजना है जिसमें कारखानों में काम करनेवाले मजदूरों के लिए बीमारी, मातृत्व तथा जख्मी होने की अवस्था में विशिष्ट लाभों की व्यवस्था है। आगे चलकर हम इसकी विस्तार से विवेचना करेंगे।

सामाजिक सुरक्षा की दिशा में अंतर्राष्ट्रीय श्रम-सम्मेलन का कार्य

श्रमिकों को विभिन्न औद्योगिक जोखिमों के विरुद्ध सुरक्षा प्रदान करने के उद्देश्य से एक साधन के रूप में सामाजिक बीमा का यथेष्ट विकास हुआ है। अन्तर्राष्ट्रीय श्रम-संगठन द्वारा स्वीकृत विभिन्न कन्वेन्शनों तथा सिफारिशों और इससे संबद्ध विभिन्न राष्ट्रीय कानूनों के अध्ययन से इसका अंदाज लगाया जा सकता है। इस बारे में यह कहा जा सकता है कि अन्तर्राष्ट्रीय श्रम-संगठन के निर्णयों तथा विभिन्न राष्ट्रीय कानूनों ने परस्पर एक दूसरे को प्रभावित किया है। दोनों का ही आधार एक अल्पतम सामाजिक सुरक्षा है; दोनों का ही लक्ष्य एक विशिष्ट अल्पतम सामाजिक सुरक्षा की प्राप्ति है।

अन्तर्राष्ट्रीय श्रम-संगठन के कन्वेंशनों और सिफारिशों, विभिन्न अन्तर्राष्ट्रीय समितियों और सम्मेलनों के प्रस्तावों तथा विभिन्न देशों के सामाजिक सुरक्षा कानूनों का संक्षिप्त अध्ययन, भारत में सामाजिक सुरक्षा के अल्पतम मानों के निर्धारण तथा उनके यहां की परिस्थितियों में अपनाये जाने के संबंध में विचार करने के लिए आवश्यक है।

१९१९ में बने अन्तर्राष्ट्रीय श्रम-संगठन के आदिवाचन में मजदूर की बीमारी, दुर्घटना, बुढ़ापे के लिए सुरक्षा का जिक्र है। १९४४ के २६ वें श्रम-सम्मेलन में सामाजिक सुरक्षा के विस्तार को अन्तर्राष्ट्रीय श्रम-संगठन ने अपना प्रधान लक्ष्य बनाया। पिछले तेंतीस सालों में अन्तर्राष्ट्रीय श्रम-सम्मेलन ने इस दिशा में महत्त्वपूर्ण पार्ट अदा किया है। इसने दुर्घटनाओं, पेशेगत बीमारियों, बीमारी-बीमा, मातृत्व, बुढ़ापे, असमर्थता, वैधव्य तथा अनाथपन के लिए पेंशनों तथा बेकारी की व्यवस्था के लिए विभिन्न कन्वेन्शन तथा सिफारिशें अपनाकर विभिन्न सदस्यों को विभिन्न विशेषज्ञों के परिणामों से सूचित कर, विभिन्न प्रादेशिक सम्मेलनों में सामाजिक सुरक्षा सम्बन्धी प्रस्ताव स्वीकार कर तथा विभिन्न देशों की योजना बनाने में सलाहकार की हैसियत से काम कर, सामाजिक सुरक्षा के आन्दोलन को सुदृढ़ करने में विशेष योग दिया है।

भारत ने स्वयं अन्तर्राष्ट्रीय श्रम-संगठन से प्रत्यक्ष लाभ उठाया है। १९४४ में भारत सरकार की प्रार्थना पर उन्होंने औद्योगिक श्रमिकों के स्वास्थ्य-बीमा की अदारकर योजना की जांच करने के लिए अपने दो विशेषज्ञ स्टैक और राऊ को हमारे यहां भेजा। १९४५ में भारतीय नाविकों की सामाजिक बीमा-योजना बनाने में अदारकर की मदद करने के लिए डा० बौडमर यहां आये। १९४७ में अन्तर्राष्ट्रीय श्रम-संगठन की अध्यक्षता में यहां पर एक प्रादेशिक श्रम-सम्मेलन हुआ।

अंतर्राष्ट्रीय श्रम-सम्मेलन द्वारा स्वीकृत कन्वेंशन और सिफारिशें

अन्तर्राष्ट्रीय श्रम-संगठन का सामजिक बीमा विभाग सामाजिक बीमा पर नई सूचनाओं का संकलन करता है। अन्तर्राष्ट्रीय श्रम-कार्यालय समय-समय पर श्रम के विभिन्न पहलुओं पर उपयोगी साहित्य प्रकाशित करता है।

१९१९ से १९५३ तक अन्तर्राष्ट्रीय श्रम-सम्मेलन ने सामाजिक सुरक्षा से सम्बद्ध २६ कन्वेंशन और २२ सिफारिशें स्वीकार कीं। इनमें से केवल दो कन्वेंशनों पर ही भारत ने हस्ताक्षर किये हैं, जब कि इसके विपरीत बेलजियम ने नौ, फ्रांस ने ग्यारह और इंग्लैंड ने तेरह कन्वेंशनों पर हस्ताक्षर किये। कन्वेंशन पर हस्ताक्षर करने का अर्थ उसमें वर्णित बातों को कार्यान्वित करने का दायित्व लेना है। सिफारिशें एकान्ततः मान निर्धारित करती हैं। सुविधा के लिए सामाजिक सुरक्षा से सम्बद्ध कन्वेंशनों तथा सिफारिशों को निम्न सात श्रेणियों में बांटा जा सकता है—(१) मातृत्व, (२) दुर्घटना और पेशेगत बीमारियों में मजदूरों का मुआवजा, (३) बीमारी, (४) बुढ़ापा, असमर्थता और मृत्यु, (५) बेकारी, (६) नाविकों से सम्बद्ध जोखिम, (७) सामान्य। आगे हम इसी क्रम से इन सब दिशाओं में भारत में विद्यमान अवस्था को दृष्टि में रख विवेचना करेंगे। यद्यपि इनमें से अधिकांश व्यवस्थाएं उद्योगों और व्यापारिक कार्यों में लगे लोगों के लिए हैं; तथापि कुछ वर्गों, जैसे कि कृषि में लगे श्रमिकों और नाविकों, के लिए विशेष और पृथक् व्यवस्थाओं की आवश्यकता पड़ी है। उपर्युक्त क्रम मोटे तौर उस क्रम को भी सूचित करता है जिसमें कि सामाजिक बीमा की शाखाओं का विकास हुआ है तथा सम्बद्ध कन्वेंशन और सिफारिशें स्वीकार की गई हैं। क्रम प्रायः यह रहा है—मातृत्व-संरक्षण; मजदूर मुआवजा; बीमारी बीमा, पेंशन बीमा, बेकारी बीमा; विभिन्न शाखाओं का 'सम्मिलन (Co-ordination) और एकीकरण'

सम्मिलन और एकीकरण की प्रवृत्ति. सामाजिक सुरक्षा के आधुनिक इतिहास में १९१९ से १९३९ तक प्रायः ऊपर वर्णित क्रम में सामाजिक सुरक्षा

की विभिन्न शाखाओं का विकास हुआ। लेकिन सामान्यतः यह योजनाएं पृथक् रहीं। १९३९ के लगभग एक नई प्रवृत्ति का सूत्रपात हुआ। सामाजिक सुरक्षा को एक विस्तृत अर्थ दिया जाने लगा, तथा विभिन्न पृथक् योजनाओं के एक बृहत् और सार्वभौम योजना में मिला दिये जाने की पुकार हुई और अनेक उन्नत देशों में ऐसा ही हुआ। १९४४ की आर्थिक सुरक्षा सिफारिश तथा उसी वर्ष की डाक्टरी देखरेख सिफारिश में सम्मिलन और एकीकरण पर विशेष बल दिया है। इससे अच्छे और कम खर्च में शासन, अधिक जनतन्त्रीकरण और भागदेय लाभ और डाक्टरी देख-रेख के संबंध में अधिक सरलता होगी। १९४८ के भारतीय कर्मचारी-राज्य-बीमा कानून में बीमारी, मातृत्व और रोजगार के तीन जोखिम एक साथ मिला दिये गये हैं।

मातृत्व-संरक्षण (Maternity Protection)

मातृत्व-संरक्षण की आवश्यकता. एक माता के जीवन में गर्भावस्था और प्रसूति ऐसी अवस्था है जब कि उसे पर्याप्त देखरेख, आराम और सुविधा की आवश्यकता होती है। यह केवल माता के स्वास्थ्य और कल्याण के लिए ही नहीं, प्रत्युत् उसकी संतान के हित में भी आवश्यक है। किसी भी राष्ट्र की शक्ति और समृद्धि के लिए यह अनिवार्य है कि वह अपने देश की माताओं को उचित सुरक्षा प्रदान करे। यह सुरक्षा व्यक्तिगत दायित्व न होकर समाज का दायित्व है। यह संतोष की बात है कि संसार के सभी सभ्य देशों में इस तथ्य को स्वीकार किया जा रहा है और उसके लिए आवश्यक कानून बन रहे हैं।

अल्पतम सामाजिक मान. यह सर्वथा स्वाभाविक था कि अन्तर्राष्ट्रीय श्रम सम्मेलन का ध्यान इस ओर आकर्षित होता। मातृत्व-संरक्षण को लेकर उसने १९१९ का प्रसूति (Child birth) कन्वेंशन, १९२१ की प्रसूति (कृषि) सिफारिश, १९४४ की आर्थिक सुरक्षा सिफारिश के कुछ अंश, तथा उसी वर्ष की शासित प्रदेशों की सामाजिक नीति तथा १९५२ के जिनेवा सम्मेलन ने अल्पतम मान स्वीकार किये। १९१९ के प्रसूति कन्वेंशन ने "प्रसव से पहले छः सप्ताह के लिए वैकल्पिक छुट्टी तथा बाद में अनिवार्य छुट्टी तथा इस काल में अपने तथा बच्चे के लिए पर्याप्त भरण-पोषण-व्यय तथा आवश्यक डाक्टरी सहायता की व्यवस्था की। १९२१ की प्रसूति (कृषि) सिफारिश में उसे कृषि में लगी माताओं तक विस्तृत करने की मांग की। १९४४ की आर्थिक सुरक्षा सिफारिश में कहा गया कि मातृत्व-लाभ अकुशल स्त्री-मजदूरी के १०० प्रतिशत अथवा प्राप्तकर्ता की चालू आय के ७५ प्रतिशत से कम नहीं होनी चाहिए।

१९४८ तक १७ देशों ने १९१९ के प्रसूति-कन्वेंशन पर हस्ताक्षर किये तथा उसमें वर्णित मानों को अपने कानूनों में सम्मिलित किया। बहुत से देशों ने यद्यपि उस पर हस्ताक्षर नहीं किये, फिर भी उन्होंने कई मातृत्व-अधिनियम पास किये। भारत में भी ऐसा ही हुआ।

१९४७ के एशियाई श्रम-सम्मेलन ने मातृत्व कानून को अधिकाधिक स्त्री-श्रमिक वर्गों तक विस्तीर्ण करने की सिफारिश की।

भारत में मातृत्व कानून

१९२१ में भारत सरकार ने सम्मेलन को एक रिपोर्ट पेश की जिसमें अनिवार्य अनुपस्थिति काल को लागू करने की कठिनाई, डाक्टरी सर्टीफिकेट देने के लिए आवश्यक डाक्टरों की कमी तथा लाभ प्रदान करने के लिए अनिवार्य भागदेय (Contributory) योजनाएं लागू करने की कठिनाई के कारण १९१९ के कन्वेशन पर हस्ताक्षर करने में असमर्थता प्रकट की। फिर भी अधिकांश स्थानीय सरकारों ने, जहां कहीं आवश्यक हो, मालिकों को स्वैच्छिक (Voluntary) लाभ योजनाएं चलाने के लिए प्रेरित करना और सहायता प्रदान करना स्वीकार किया। १९२४ में हुई पड़ताल से मालूम हुआ कि उस समय विद्यमान मातृत्व-संरक्षण योजनाएं सर्वथा अपर्याप्त और असंतोषजनक थीं। इन तथाकथित मातृत्व-लाभ योजनाओं में मुख्यतः अनुपस्थिति की छुट्टी, जिसमें कि प्रायः वेतन नहीं मिलता था, हल्के काम, डाक्टरी सलाह, शिशुगृह तथा कुछ स्थानों पर बोनस और मातृत्व-सहायता सम्मिलित थी। मातृत्व-योजना की दो मुख्य विशेषताओं, अर्थात् मुआवजा और डाक्टरी देखरेख, की उसमें पूर्ण उपेक्षा की गई थी। बीमा न होकर, कल्याण इसका आधार था और वह भी मालिकों की दान-वृत्ति पर आश्रित। मजदूरों का कोई अधिकार नहीं था। जो सहायता मिलती वह मालिकों का दान (Dole) थी। राज्य का इस संबंध में कोई भी कानूनी और नैतिक दायित्व न था। मजदूर, विशेषकर स्त्री मजदूर, असंगठित थे। परिणामतः वे अपनी मांगों के लिए आन्दोलन करने में असमर्थ थे।

कानूनी (Statutary) **मातृत्व-लाभ.** शीघ्र ही स्वैच्छित मातृत्व कल्याण का स्थान कानूनी मातृत्व-लाभ द्वारा लिये जाने की आवश्यकता अनुभन की जाने लगी। १९२४ में मजदूर-नेता एन० एम० जोशी ने इस दिशा में केन्द्रीय विधान-सभा द्वारा कानून बनाने के संबंध में एक प्रस्ताव पेश किया जिसे कि तत्कालीन भारत सरकार ने अस्वीकार कर दिया।

भारत में मातृत्व-लाभ कानून. स्थानीय सरकारों ने दूसरा रुख लिया

और सबसे पहले १९२९ में बम्बई ने, प्रसव से पहले और बाद में कारखाने में काम करनेवाली स्त्रियों से काम लेने के संबंध में, एक अधिनियम (Act) बना मार्गदर्शन किया। १९३० में मध्यप्रदेश ने उसका अनुसरण किया। १९३१ के शाही श्रम-कमीशन ने भी इसी लाइन पर अन्य प्रांतों में मातृत्व कानून बनाने की सिफारिश की। आनेवाले सालों में विभिन्न प्रांतों में मिलते-जुलते मातृत्व कानून बनाये गये। १९३८ में संयुक्त प्रांत (वर्तमान उत्तर प्रदेश) में मातृत्व लाभ अधिनियम पास हुआ। इसकी निम्न विशेषताएं थीं !

यू० पी० मातृत्व-लाभ अधिनियम १९३८

कानून का क्षेत्र. यह अधिनियम उन सब कारखानों में, जिनमें कि १० या उससे अधिक मजदूर काम करते हैं, लागू होता है।

योग्यता-काल. मातृत्व छुट्टी से छः महीने पहले इसका योग्यता-काल है।

काम से अनिवार्य मुक्ति. प्रसव के चार सप्ताह पहले और चार सप्ताह बाद छुट्टी लेना अनिवार्य है।

गर्भवती स्त्री को प्राप्त नकद लाभ की दर. आठ आने प्रतिदिन अथवा औसत दैनिक आय में से जो भी राशि अधिक हो, वह गर्भवती स्त्री को अवकाश-काल में प्राप्त होती है।

अतिरिक्त लाभ. इसके अलावा (१) प्रसव-काल में यदि माता डाक्टरी सहायता का उपयोग करे तो ५ रु० के बोनस देने, (२) शिशुगृह चालू करने पर वहां स्त्री परिचारिका की नियुक्ति, बच्चेवाली स्त्रियों के लिए अतिरिक्त आराम-वक्फों और स्वास्थ्य-निरीक्षकों की नियुक्ति; (३) गर्भपात की दशा में गर्भपात के दिन से सवेतन तीन सप्ताह की छुट्टी; और (४) मालिक द्वारा मातृत्व-लाभ से बचने के लिए स्त्री मजदूर के निकाले जाने की दशा में १०० रु० अथवा उसकी औसत आय से १८० गुना रकम में से, जो भी अधिक हो, देने की भी अधिनियम में अतिरिक्त व्यवस्था है।

मातृत्व-संरक्षण की समस्या का अध्ययन करते समय तत्संबंधी केंद्रीय कानूनों का अध्ययन भी आवश्यक है। १९४१ में सर्वप्रथम खान-मातृत्व-अधिनियम पास हुआ जिसका अंतिम संशोधन १९४८ में हुआ। १९४८ में इस संबंध में कर्मचारी राज्य-बीमा अधिनियम पास हुआ।

खान-मातृत्व अधिनियम १९४१ (संशोधित १९४३, ४५, ४९). यह भारत की समस्त खानों पर लागू होता है। इसमें जमीन के ऊपर काम करनेवालियों के लिए ६ महीने तथा जमीन के नीचे काम करनेवालियों के लिए ९० दिन

का योग्यता-काल रखा गया है। ऊपर काम करनेवालियों के लिए प्रसूति से ४ सप्ताह पहले और ४ सप्ताह बाद तथा नीचे काम करनेवालियों के लिए २६ सप्ताह पहले तथा १० सप्ताह बाद तक अनिवार्य अनुपस्थिति-काल रखा गया है। नकद लाभ की दर ऊपर काम करनेवाली मजदूरिनों के लिए १२ आने दैनिक तथा नीचे काम करनेवाली मजदूरिनों के लिए ६ आने दैनिक है। इसके अतिरिक्त, प्रसूति के समय मुफ्त डाक्टरी सेवा तथा ५ रु० तक के बोनस की भी व्यवस्था है ।

कर्मचारी राज्य-बीमा-अधिनियम १९४८ (संशोधित १९५१). समस्त कारखानों और ४०० रु० मासिक से कम कमानेवाले समस्त कर्मचारियों पर लागू होता है। इसमें १२ साप्ताहिक भागदेय (Contribution) का भुगतान योग्यता-काल है। अनिवार्य अनुपस्थिति १२ सप्ताह है, जिसमें से अनुमानित प्रसव की तारीख से पहले छः सप्ताह से अधिक नहीं होने चाहिए। ४ सप्ताह में सब दिनों के लिए १२ आने प्रतिदिन नकद लाभ की दर है तथा विभिन्न डाक्टरी लाभों की व्यवस्था है ।

भारतीय कानून की कमियां. भारत के मातृत्व-लाभ कानूनों के अध्ययन से एक बात स्पष्ट है कि उनमें अनेक त्रुटियां और दोष हैं विशेष रूप से जब कि हम उनकी अन्तर्राष्ट्रीय श्रम मानों से तुलना करते हैं। भविष्य में इन कमियों को दूर करने का प्रयत्न आवश्यक है।

आवश्यक सुधार

क्षेत्र में विस्तार. १९१९ का प्रसूति-कन्वेंशन उद्योग और व्यापारिक संस्थानों में काम करनेवाली समस्त स्त्रियों पर लागू होता है। १९२१ की प्रसूति (कृषि) सिफारिश ने उसे खेती में लगी स्त्रियों तक विस्तीर्ण किया।

इसके विपरीत, भारतीय अधिनियम केवल उसे साल भर चलनेवाले कारखानों तथा खानों तक सीमित रखते हैं। १९३४ के कारखाना अधिनियम के अन्तर्गत कारखाने में केवल वह संस्थान सम्मिलित हैं जहां २० या उससे अधिक व्यक्ति काम करते हैं। यहां तक कि बहुत से धंधे और सेवायें, जो कि मजदूर-मुआवजा में शामिल हैं, इससे बाहर रह गई हैं। इसलिए मातृत्व-लाभ कानून में सबसे पहला सुधार तो उसके क्षेत्र को विस्तृत तथा सब उद्योगों और व्यापारिक संस्थानों पर लागू करना है।

कर्मचारी-राज्य-बीमा-अधिनियम का एक लाभ विद्यमान मातृत्व अधिनियमों के क्षेत्र का विस्तार है। यह बीमा कानून समस्त भारत पर लागू होता है।

प्रांतीय अधिनियमों में कई स्थान और उद्योग छूट गये थे। वैसे तो कर्मचारी राज्य-बीमा-अधिनियम केवल ४०० रु० मासिक से कम कमानेवाले व्यक्तियों पर ही लागू होता है।

वर्तमान अवस्था में अनेक काम में लगे स्त्री वर्गों, जैसे कि खेतिहर मजदूर, घर में काम करनेवाली स्त्रियां, घरेलू नौकर, अस्पतालों की नर्सों इत्यादि में, मातृत्व बीमा का विस्तार संभव नहीं है। ऐसी स्थिति में इस बात पर विचार करना आवश्यक है कि उन्हें कौन अन्य सुविधाएं प्रदान की जा सकती हैं।

योग्यता-काल की समाप्ति. न तो १९१९ के प्रसूति-कन्वेंशन और न ही हवाना कोड में लाभ पाने के लिए कोई योग्यता-काल रखा गया है, जब कि हमारे मातृत्व अधिनियमों में ६ से लगाकर ९ महीने तक का योग्यता-काल निर्धारित है। कर्मचारी-राज्य-बीमा कानून के अन्तर्गत, मोटे तौर पर योग्यता-काल ३५ से ४० सप्ताह, अर्थात् ८ से ९ महीने तक रखा गया है। इसे घटाकर ६ महीने कर देने की आवश्यकता है।

योग्यता-काल का सबसे बड़ा दोष यह है कि इससे प्रायः मालिक को छुट्टी न होने, अनुपस्थित रहने, परिणामतः बराबर काम न कर सकने के कारण मातृत्व-लाभ से बचने के लिए स्त्री मजदूर को निकाल देने का बहाना मिल जाता है।

मातृत्व-अवकाश. मातृत्व-अवकाश के सम्बन्ध में कर्मचारी-राज्य-बीमा अधिनियम, प्रसूति-कन्वेंशन और हवाना कोड का अनुसरण कर १२ सप्ताह की छुट्टी की व्यवस्था करता है। अतः इस दिशा में कोई सुधार अपेक्षित नहीं है।

मातृत्व-लाभ (क) नकद. हमारे अधिकांश मातृत्व-अधिनियमों में प्रायः ८ आने से १२ आने प्रतिदिन अथवा स्त्री मजदूर की औसत मजदूरी में से जो भी अधिक हो, देने की व्यवस्था है। कर्मचारी-राज्य-बीमा अधिनियम के अन्तर्गत १२ आने प्रतिदिन, की दर अवश्य इस दिशा में सुधार है। इस अधिनियम के अन्तर्गत स्त्री-पुरुष, दोनों प्रकार के मजदूरों के लिए एक भागदेय दर रखी गई है। हम जानते हैं कि स्त्रियों में औद्योगिक दुर्घटनाओं का अनुपात बहुत कम होता है, ऐसी स्थिति में यह उचित है कि उन्हें १२ आने प्रतिदिन अथवा दैनिक मजदूरी, दोनों में से जो भी अधिक हो, मिले। भोर-कमेटी ने भी १२ सप्ताह के मातृत्व-काल में पूरी मजदूरी देने की सिफारिश की है। भारत में, जहां स्त्रियों में विद्यमान मजदूरी यूं ही बहुत कम है, पूरी मजदूरी का देना और भी अधिक उचित है। लायड जोन्स ने 'भारत के चायबगानों में चिकित्सा-देखरेख के मान' नामक अपनी रिपोर्ट में विद्यमान ५ रु० ४ आने प्रति सप्ताह

की दर से ८ सप्ताह तक, प्राप्त लाभ के स्थान पर १६ सप्ताह तक ३ रु० प्रति सप्ताह देने की सिफारिश की है। हमारी राय में १२ सप्ताह तक ५ रु० ४ आने की दर को स्वीकार करना ठीक रहेगा।

(ख) **डाक्टरी सहायता.** हमारे अधिकांश मातृत्व अधिनियमों में किसी प्रकार की डाक्टरी सहायता की व्यवस्था नहीं है। केवल खानों, के तथा आसाम, पश्चिमी बंगाल (चायबगान), बिहार और उत्तर प्रदेश के, पांच अधिनियमों में अवश्य इसे कुछ स्थान मिला है, किन्तु अन्तर्राष्ट्रीय स्वीकृत मानों के सम्मुख यह अत्यन्त ही अपर्याप्त है। कर्मचारी-राज्य-बीमा अधिनियम के अन्तर्गत अवश्य कुछ बेहतर डाक्टरी सहायता की, जिसमें शल्य और प्रसूति चिकित्सा का भी समावेश है, व्यवस्था है।

वास्तव में जैसा कि १९४४ की डाक्टरी देखरेख सिफारिश में प्रस्तावित है, डाक्टरी लाभ समाज के सब सदस्यों के लिए एक विस्तृत स्वास्थ्य-सेवा का अंग होना चाहिए।

(ग) **अतिरिक्त लाभ.** नकद और डाक्टरी लाभों के अतिरिक्त, अन्तर्राष्ट्रीय नियमों और अनेक राष्ट्रीय कानूनों में स्त्रियों का बच्चों के पोषण के लिए अधिक अवकाश, शिशुगृह तथा उनमें स्त्री-परिचारिका इत्यादि सुविधाओं की भी व्यवस्था है। भारत में केवल बिहार और उत्तर प्रदेश में ही शिशुगृह और उनमें स्त्री-परिचारिकाएं रखने की व्यवस्था है। पर उस स्थिति में मालिक को आराम के दो अतिरिक्त वक्फों में १५ मिनट कम करने की अनुमति है। फैक्टरी अधिनियम में अवश्य शिशुगृहों की स्थापना की व्यवस्था है। फिर भी अभी इसमें पर्याप्त विस्तार और सुधार की आवश्यकता है।

पुनः काम में लिए जाने की गारंटी. गर्भावस्था में मालिक द्वारा हटाये जाने के विरुद्ध सुरक्षा प्रदान करना अनिवार्य है। भारत के मातृत्व अधिनियमों में यह स्पष्ट है कि किसी स्त्री को उसके वैध अनुपस्थिति-काल में न तो निकाला और न ही लाभों से वंचित किया जा सकता है। किन्तु उनमें गर्भावस्था के प्रथम चिह्न प्रकट होते ही मालिक द्वारा हटाये जाने के विरुद्ध कोई रोक नहीं है। फैक्टरी अधिनियम के व्यवहार की वार्षिक रिपोर्टों से यह पता चलता है कि मालिक लोग विशिष्ट दायित्वों के पड़ने के कारण स्त्रियों को रखने में कतराते हैं। परिणामतः, यहां स्त्री मजदूरों का अनुपात घटता जा रहा है। कर्मचारी-राज्य-बीमा-अधिनियम ने मालिक के ऊपर से मातृत्व-लाभ के भुगतान का भार हटा लिया है। अतः इससे आशा की जाती है कि मालिकों की यह प्रवृत्ति नष्ट हो जायेगी।

मातृत्व-लाभों की वित्त-व्यवस्था (Finance). भारत के मातृत्व-लाभ अधिनियमों में मातृत्व-लाभ के वित्त का भार मालिकों पर पड़ता है। इस प्रणाली का एक बड़ा दोष यह है कि जैसे ही मालिक को स्त्री मजदूर के गर्भवती होने का संदेह हुआ वह उसे बाहर निकालने की फिक्र करता है। कर्मचारी-राज्य-बीमा अधिनियम ने बीमे का सिद्धान्त अपना कर इस दोष का निवारण कर दिया है।

शासन. भारतीय मातृत्व अधिनियमों का सबसे बड़ा दोष उनका पर्याप्त अंशों में न लागू होना है। अधिनियमों के शासन की जिम्मेदारी मुख्यतः फैक्टरी इंस्पेक्टर की रखी गई है। हमारे यहां स्त्री फैक्टरी इंस्पेक्टरों का सर्वथा अभाव है। यह एक निर्विवाद सत्य है कि मातृत्व-लाभ पाने की अधिकारी पर्याप्त स्त्रियों की संख्या उनसे वंचित रहती है। इनमें उनका अपने अधिकारों का अज्ञान प्रमुख कारण है। बहुत-सी स्त्रियां उत्पीड़ित किये जाने के भय से अपने अधिकार का दावा नहीं करतीं। कुछ स्त्रियां ऐसी भी हैं जो उनकी अपनी भाषा में मालिक की खैरात लेना पसंद नहीं करतीं। स्त्री डाक्टरों की कमी भी स्त्रियों को मातृत्व-लाभ प्राप्त करने से निरुत्साहित करती है। लाभों की प्राप्ति के लिए गर्भ होने का सर्टीफिकेट जरूरी है। अनेक स्त्रियां पुरुष डाक्टरों से अपनी परीक्षा कराने में आपत्ति करती हैं। अतः इन सब बातों को देखते हुए मातृत्व अधिनियमों के प्रशासन में सुधार आवश्यक है। पृथक् और अधिक संख्या में स्त्री इंस्पेक्टरों तथा स्त्री डाक्टरों की नियुक्ति तथा मजदूर स्त्रियों में उनके अधिकारों के प्रति जागृति पैदा कर ही यह कार्य सम्पन्न किया जा सकता है।

मजदूरों का मुआवजा (Workmen's Compensation)

मजदूरों को मुआवजे की आवश्यकता. एक मजदूर काम करते समय अपने पेशे से सम्बद्ध अनेक दुर्घटनाओं और जोखिमों का शिकार होता है, जिससे कि उसका स्वास्थ्य और जीवन खतरे में रहता है। अंगहानि, जीवनहानि, असाध्य पेशेगत बीमारियों की संभावनाएं सदैव विद्यमान रहती हैं। आधुनिक उद्योगों ने इन्हें और भी बढ़ा दिया है। सब असमर्थताओं की अवस्था में मज़दूरों के लिए उचित सहायता और मुआवजे की व्यवस्था अनिवार्य हो जाती है।

तत्सम्बन्धी अन्तर्राष्ट्रीय श्रम-कन्वेंशन और सिफारशें. अन्तर्राष्ट्रीय श्रम-सम्मेलन ने दुर्घटनाओं और पेशेगत बीमारियों के लिए मजदूरों के मुआवजे के सम्बन्ध में अब तक पांच कन्वेंशन और चार सिफारिशें स्वीकार की हैं। इन

पांच कन्वेंशनों में भारत ने सिर्फ दो पर हस्ताक्षर किये हैं। १९४४ की आर्थिक सुरक्षा सिफारिश में रोजगार-हानि (Employment injury) को भी लिया गया है। इस सिफारिश का सामान्य सिद्धान्त है कि रोजगार-हानि का मुआवजा रोजगार में होनेवाली हानि अथवा बीमारी है, जो कि पीड़ित व्यक्ति के निजी असावधानी का परिणाम न होकर, रोजगार का परिणाम है, और जो कि उसका स्थायी अथवा अस्थायी असमर्थता अथवा मृत्यु का कारण बनती है।

भारत में मजदूर-मुआवजा

घातक और गंभीर दुर्घटनाओं को स्थिति में मजदूरों को कुछ मुआवजा देने का प्रश्न भारत में पहलेपहल १८८४ के लगभग उठा तथा फैक्टरी और खानों के इंस्पेक्टरों ने इस सम्बन्ध में कानून तथा मालिकों द्वारा सुरक्षा के लिए विशेष नियमों के बनाने का सुझाव दिया। मजदूर मुआवजा कानून के अभाव में मजदूर के लिए केवल एक ही रास्ता खुला था कि वह सामान्य कानून के अन्तर्गत मालिक पर हानि का दावा करे। इस दिशा में मजदूर के लिए बड़ी भीषण कानूनी और अन्य कठिनाइयां थीं। १९२२ में सर्वप्रथम फैक्टरी अधिनियम में एक धारा जोड़ी गई जिसके फलस्वरूप फौजदारी अदालतों को यह अधिकार दिया गया कि वह शारीरिक हानि अथवा मृत्यु के अपराध में किये गये जुर्माने की पूरी अथवा अल्पराशि मजदूर अथवा उसके कानूनी वारिसों को दे दें। अगले ही साल भारत सरकार ने प्रथम मजदूर-मुआवजा अधिनियम पास किया जो कि पहला अखिल भारतीय सामाजिक सुरक्षा कानून था। १९२३ के बाद से इस कानून में अनेक संशोधन हो चुके हैं। अन्तर्राष्ट्रीय कन्वेंशन को स्वीकार करने की दृष्टि से १९२६ में इसमें थोड़ा संशोधन किया गया। १९२९ के शाही श्रम-कमीशन ने इस अधिनियम के विस्तार तथा मुआवजे की अल्पतम और अधिक-तम दर के संशोधन, आश्रितों की परिभाषा, अधिक पेशेगत रोगों से सम्मिलित करने तथा बेहतर शासन और कार्यप्रणाली के सम्बन्ध में अनेक सिफारिशें कीं। इन्हें दृष्टि में रखकर इसमें पुनः १९३३ में संशोधन किया गया। १९३७, ३८, ३९ में पुनः कुछ साधारण संशोधन हुए। १९४२ में नागरिकों से सम्बन्धित अंश का संशोधन हुआ। १९४६ में एक महत्त्वपूर्ण संशोधन किया गया जिसमें मुआवजा प्राप्त करने की अधिकतम मजदूरी को ३०० रु० मासिक से बढ़ाकर ४०० रु० मासिक कर दिया गया तथा उसके लिए नई मुआवजा-दरें निर्धारित की गई। १९४८ में नाविकों को मुआवजा पाने से रोकनेवाले अंश निकाल दिये

गये और कर्मचारी राज्य-बीमा अधिनियम ने मुआवजा कानून में अनेक परिवर्त्तनों को आवश्यक बना दिया।

पेशेगत जोखिम (Occupational Risk) **का सिद्धान्त.** मजदूर-मुआवजा के कानूनी पक्ष में पर्याप्त परिवर्त्तन हुए हैं। उसे विभिन्न अवस्थाओं में से गुजरना पड़ा है। प्रारम्भ में तो वह सामान्य कानून के ही अन्तर्गत था। अन्त में पेशेगत जोखिम का सिद्धान्त स्वीकार हुआ। पहली अवस्था मजदूरों के लिए बहुत ही नुकसानदेह थी। इसमें आये दिन मुकदमेबाजी होती थी तथा मालिक और मजदूर के आपसी सम्बन्ध सदा खराब रहते थे। सामान्य कानून प्रणाली के बाद ठेका-दायित्व (Contractual Liability) का सिद्धान्त अपनाया गया। इसके अन्तर्गत मुआवजा मालिक के दोष का नतीजा न होकर, मजदूर की सेवाओं को भाड़े पर लेने के ठेके का नतीजा माना जाता था। इस स्थिति में अब यह मालिक का दायित्व हो गया कि वह यह सिद्ध करे कि अमुक दुर्घटना में मजदूर का कुसूर था। इस अवस्था में सामान्य कानून के दोष दूर नहीं हुए। इसके बाद कानूनी दायित्व अथवा सृजित जोखिम (Created risk) का सिद्धान्त अपनाया गया, किन्तु शीघ्र ही उसे पेशेगत जोखिम के सिद्धान्त के पक्ष में छोड़ना पड़ा। इसके अनुसार काम में लगे मजदूर को किसी प्रकार की हानि के लिए मालिक की मुआवजा देने की जिम्मेदारी है। मजदूर-मुआवजा के समस्त अन्तर्राष्ट्रीय नियम इसी सिद्धान्त पर आधारित हैं। यह सिद्धान्त श्रम की क्षति के समस्त भार को एक उत्पादन-साधन के रूप में उद्योग पर डाल देता है। यह मजदूर-मुआवजा की लागत को मरम्मत, घिसाई अथवा मजदूरी के व्यय के समान उद्योग की लागत में सम्मिलित कर लेता है।

एक मालिक के लिए पेशेगत जोखिम से सुरक्षा प्राप्त करने का सर्वोत्तम साधन उसके विरुद्ध बीमा करा लेना है। भारत में अनेक बड़े मालिकों ने मजदूर-मुआवजा सम्बन्धी जोखिमों के विरुद्ध बीमा करा लिया है। यह बीमा सर्वथा स्वैच्छिक है। इसमें अनिवार्य बीमा की गुंजाइश नहीं है, क्योंकि मालिक उस कम्पनी से बीमा करा सकता है जो कि मुनाफे को लेकर चलती है। इस कठिनाई का निराकरण तभी हो सकता है जब कि राज्य एक सम्मिलित कोष (Mutual Funds) बना ले, जिससे कि मालिक उस प्रीमियम पर बीमा करा सकें, जिस पर मुनाफा नहीं है। इस व्यवस्था में स्वतः बीमा हो जाता है, स्वीकृत दावों के भुगतान की गारंटी रहती है, शासन में मितव्ययता रहती है। दावेदारों और मालिकों में कशमकश नहीं होती तथा मालिक, मजदूर और राज्य में आपसी सहयोग सुनिश्चित रहता है।

क्षेत्र. मजदूर-मुआवजा नियमों के क्षेत्र का हम तीन पहलुओं से अध्ययन कर सकते हैं : (क) सम्मिलित (Covered) धन्धे और सेवाएं, (ख) सम्मिलित मजदूर वर्ग, (ग) सम्मिलित जोखिम।

(क) **सम्मिलित धन्धे और सेवाएं.** १९२५ का मजदूर-मुआवजा (दुर्घटना) कन्वेंशन सब प्रकार के सार्वजनिक और प्राइवेट उद्योगों पर लागू होता है। १९२१ के कन्वेंशन ने उसके क्षेत्र को खेतिहर मजदूरों तक विस्तृत कर दिया। १९४४ की आर्थिक सुरक्षा सिफारिश और हवाना कोड ने उसे सभी बाकी व्यक्तियों तथा अपने निजी काम में लगे लोगों को सम्मिलित करने की व्यवस्था की।

व्यवहार में राष्ट्रीय कानून उद्योग-संस्थानों के दायित्व पर अनेक रोक लगा देते हैं। उदाहरणार्थ, कानून केवल एक निश्चित अल्पतम संख्या में मजदूर रखनेवाले उद्योगों पर ही लागू हो सकते हैं। जोखिम के महत्त्व को देखते हुए, ऐसे उद्योगों को जिनमें यान्त्रिक शक्ति का प्रयोग नहीं किया जाता, अथवा वह उद्योग जिनमें कोई जोखिम नहीं होता, अथवा जिनमें बहुत ही थोड़े व्यक्ति काम करते हैं, उसके क्षेत्र से निकाले जा सकते है। धन्धे का स्थाई और अस्थाई होना अन्य सीमितताओं को निर्धारित कर सकता है। कानून सामान्यतः उन सम्मिलित धन्धों का, जहां वह मुआवजा स्वीकार करता है, उल्लेख करता है।

भारत में मुआवजा कानून का क्षेत्र मजदूर की दी गई परिभाषा द्वारा निर्धारित है। उसके अनुसार, (क) कोई वह व्यक्ति जो अल्प काल के लिए ही काम पर नहीं रखा गया है, (ख) जो कि मालिक के कार्य या व्यापार के लिये रखा गया है, (ग) जो कि रेलवे का नौकर या ऐसा व्यक्ति है जो ४०० रु० मासिक से अधिक नहीं पाता, इसके अन्तर्गत हैं। मोटे तौर पर इसमें निम्न सेवाएं, धन्धे और उद्योग सम्मिलित हैं:—(१) ट्रामवेज (कर्लक सम्मिलित नहीं है); (२) कारखाने जिनमें १० या उससे अधिक व्यक्ति काम करते हैं (कर्लक सम्मिलित नहीं है); (३) वह कंसर्न जो कि किसी वस्तु को बनाते, बदलते, मरम्मत करते, सजाते तथा तैयार करते अथवा काम में लाने योग्य बनाते, भेजते अथवा बेचते हैं, अथवा जहां ५० या उससे अधिक आदमी काम करते हैं; (४) बारूद का निर्माण अथवा प्रयोग, जिसमें ९ से अधिक आदमी लगे हों; (५) खानें, (क्लर्क सम्मिलित नहीं हैं) जहां ४९ से अधिक आदमी काम करते हैं; अथवा जहां बारूद इस्तेमाल होती है, अथवा जिनकी गहराई २० फीट से अधिक हो; (६) समुद्र यात्रा करनेवाले (जहाज के कप्तान और नाविक); (७) किसी जहाज पर माल चढ़ाने, उतारने, ईंधन झोंकने, निर्माण करने, मरम्मत करने,

तोड़ने, सफाई और रंग करनेवाले; (८) किसी इमारत, बांध, सड़क, पुल, सुरंग, बेड़े अथवा अन्य किसी नाविक कार्य में निर्माण, मरम्मत और तोड़ने का काम; (९) टेलीग्राफ और टेलीफोन या उसके खंभों पर बिजली के तार का काम; (१०) किसी रस्से के पुल, नहर, नल की लाइन या गन्दे नालों में निर्माण कार्य, मरम्मत या तोड़ना (क्लर्क सम्मिलित नहीं); (११) फायर ब्रिगेड; (१२) रेलवे के ठेके या उपठेके का काम; (१३) रेल की डाक सर्विस; (१४) पेट्रोल और गैस कम्पनी (क्लर्क सम्मिलित नहीं); (१५) पेशे जिनमें बारूद से उड़ाने का काम होता है; (१६) २० फीट से गहरी कोई खुदाई जिसमें ५० से अधिक आदमी लगे हों; (१७) १० आदमियों से अधिक ले जानेवाली किसी नाव का संचालन; (१८) २५ या उससे अधिक आदमी रखनेवाले सिन्कोना, काफी, रबड़ और चाय के बगान (कर्ल्क सम्मिलित नहीं); (१९) बिजली बनाने और सप्लाई करनेवाले स्टेशन (कर्ल्क सम्मिलित नहीं); (२०) लाइट हाउस; (२१) सिनेमा चित्र; (२२) हाथियों या जंगली जानवरों का सिखाना, रखना या काम; (२३) खजूर के पेड़ों का रस निकालना; पेड़ों का गिराना और बांधना, लकड़ी का पानी में परिवहन या जंगल की आग का नियंत्रण या बुझाना; (२४) हाथियों या जंगली जानवरों के शिकार और पकड़ने के कार्य; (२५) गोताखोरी; (२६) गोदाम (जहां ९ से अधिक व्यक्ति माल ढोने या ले जाने में लगे हों); (२७) एक्सरे और रेडियम यन्त्र का प्रयोग अथवा रेडियो एक्टिव पदार्थों का सम्पर्क, इस सूची में आते हैं।

निःसन्देह, पेशों और सेवाओं की यह एक प्रभावशाली सूची है। इसके अलावा राज्य सरकार इस सूची में किसी ऐसे पेशे को जिसे वह जोखिम का समझती है, जोड़ सकती है। इससे इस अधिनियम का क्षेत्र पर्याप्त लचकदार हो गया है।

असम्मिलित क्षेत्र. बावजूद इसके, अधिनियम के क्षेत्र में बहुत से पेशे नहीं आते। उनमें से कुछ प्रमुख यह हैं: (१) अनियंत्रित कारखाने, जहां यान्त्रिक शक्ति तो इस्तेमाल होती है, पर १० से कम व्यक्ति काम करते हैं, अथवा वह कारखाने जहां यांत्रिक शक्ति तो इस्तेमाल नहीं होती, पर ५० से कम व्यक्ति काम करते हैं; (२) कृषि; (३) मछली पकड़ना; (४) घरेलू सेवा, और (५) कुछ विविध पेशे जैसे कि २० फीट से नीची इमारतों का निर्माण, मरम्मत और निगरानी। इनमें से कुछ छूटे हुए पेशों को बिना जोखिम का कहा जा सकता है। पर चाहे कैसे भी काम में हानि उठानी पड़े, उससे हुई आर्थिक क्षति तो होती है। उदाहरणार्थ, व्यक्ति की मृत्यु चाहे किसी भी जोखिमवाले या बिना जोखिमवाले धंधे में हो, उसके आश्रितों को तो बराबर ही कष्ट उठाना पड़ता

है। इसलिए मजदूर मुआवजे का अधिकाधिक संभव मजदूर वर्ग तथा पेशों में विस्तार आवश्यक है।

कर्मचारी राज्य बीमा अधिनियम का क्षेत्र. इसका क्षेत्र पर्याप्त सीमित है, क्योंकि वह केवल साल भर चलनेवाले कारखाने पर लागू होता है। किन्तु साथ ही उसमें दिये जानेवाले नकद मुआवजे और डाक्टरी सहायता की दर अधिक उदार है। इसलिए काम में होनेवाली हानियों के लिए बीमा योजना में प्रदत्त लाभों के बराबर लाने के लिए मजदूर मुआवजा कानून में संशोधन होना चाहिए।

(ख) **सम्मिलित मजदूर वर्ग.** प्राय वह समस्त लोग जिनका कि मजदूर मुआवजा कानून में उल्लेख है, मुआवजे के अधिकारी हैं। उल्लिखित वर्ग से बाहर के व्यक्तियों को भी कानून के अन्तर्गत लाया जा सकता है।

भारतीय मजदूर मुआवजा अधिनियम में ४०० रु० से अधिक वेतन पानेवाले व्यक्ति, वेतन न पानेवाले अप्रेंटिस, घरेलू कर्मचारी और कभी-कभी काम करनेवाले मजदूर उसके क्षेत्र में नहीं आते। सामान्यतः, हाथ का काम करनेवाले या दिमागी काम करनेवालों के बीच कोई भेद नहीं किया गया है। क्योंकि दोनों को ही दुर्घटना का खतरा है। किन्तु उनके उद्योगों में कर्ल्क वर्ग को पृथक् कर दिया गया है। भारतीय अधिनियम से पैदल, नाविक और वायु-सेना के सदस्यों को भी पृथक् कर दिया गया है।

कर्मचारी-राज्य बीमा अधिनियम इस स्थिति में कोई परिवर्त्तन नहीं करता, क्योंकि मजदूर मुआवजा कानून के अन्तर्गत आनेवाले व्यक्ति ही उसमें मुआवजे के अधिकारी हैं। जहां तक क्षेत्र का सम्बन्ध है, मुआवजा कानून अधिक विस्तृत क्षेत्र पर लागू है, जब कि बीमा कानून का क्षेत्र बहुत ही सीमित है।

(ग) **सम्मिलित जोखिम.** मजदूर मुआवजे में दो प्रकार के जोखिम सम्मिलित हैं: रोजगार से सम्बद्ध आर्थिक हानि और डाक्टरी व्यय। अनेक देशों के राष्ट्रीय कानूनों में रोजगार की हानियों को दो श्रेणियों में बांटा गया है: दुर्घटनाजन्य हानियां और रोगजन्य हानियां। विशेष परिस्थितियों में कानून दुर्घटना और हानि के लिए मालिक को जिम्मेदार नहीं ठहराते। उदाहरणार्थ, भारतीय कानून के अन्तर्गत यदि कोई हानि मद्यपान या अन्य किसी नशे के प्रभाव में अथवा औद्योगिक सुरक्षा के किसी के स्पष्ट आदेश का जानबूझ कर उल्लंघन कर अथवा बचाव आदि की रोक को हटाकर हुई है और उससे मृत्यु नहीं हुई है, तो मालिक पर मुआवजा देने का दायित्व नहीं है।

अन्य जोखिम जो कि मजदूर मुआवजा अधिनियम द्वारा संरक्षित हैं, पेशे

जन्य रोग' हैं। भारत, जिसने अनेक विषयों में ब्रिटिश कानून का अनुसरण किया है, पेशेजन्य रोगों के सम्बन्ध में उन्हीं व्यवस्थाओं को स्वीकार किया है। भारतीय अधिनियम ने रोगों को पेशों के साथ दो भागों 'ए' और 'बी' में बांट दिया है। यदि कोई व्यक्ति 'ए' श्रेणी में उल्लिखित पेशों से सम्बद्ध विशिष्ट रोग का शिकार होता है, अथवा 'बी' श्रेणी में उल्लिखित किसी उद्योग में उससे सम्बद्ध किसी रोग से पीड़ित होता है और उसे वहां काम करते हुए कम से कम ६ महीने हो गये हैं, तो उसके रोग को रोजगार से ही उत्पन्न माना जायेगा।

अन्तर्राष्ट्रीय श्रम सम्मेलन ने पेशेजन्य रोगों के सम्बन्ध में दो कन्वेंशन स्वीकार किये हैं। १९२५ के प्रथम कन्वेंशन ने केवल तीन रोगों, अर्थात् सीसे के जहर चढ़ने, पारे के जहर चढ़ने तथा प्लीह ज्वर (anthrax) की छूत को पेशेजन्य रोग माना है। १९३७ के दूसरे कन्वेंशन में सात और रोग जुड़ गये। वह हैं : सैकतीय व्यापन (silicosis) क्लोम राजयक्ष्मा (pulmonary tuberclosis) के साथ अथवा बिना, (२) फास्फोरस का जहर चढ़ना, (३) आरसिनिक का जहर चढ़ना, (४) बेंजीन से जहर चढ़ना, (५) ऐलिपेथिक श्रेणी के हाइड्रोकार्बन्स के हैलोजन व्युत्पादनों (derivatives) से जहर चढ़ना, (६) रेडियम तथा अन्य किसी रेडियो ऐक्टिव पदार्थ, और (ख) एक्स-रेज से उत्पन्न रोग; और खाल का प्रारम्भिक अधिच्छद (epitheliomatous) कैंसर।

भारत ने पहले कन्वेंशन पर हस्ताक्षर किये, दूसरे पर नहीं। भारतीय अधिनियमों में अन्तर्राष्ट्रीय कन्वेंशन में उल्लिखित दस पेशेजन्य रोगों में से आठ रोग सम्मिलित हैं। दो रोग, जो कि छोड़ दिये गये हैं, सैकतीय व्यापन और ऐलिपेथिक श्रेणी के हाइड्रोकार्बन्स के व्युत्पादनों से जहर चढ़ना हैं। अन्तर्राष्ट्रीय श्रम सम्मेलन ने सैकतीय व्यापन की समस्या को अत्यन्त महत्त्वपूर्ण माना है।

कुछ अंशों में भारत अन्तर्राष्ट्रीय कन्वेंशन से भी आगे बढ़ गया है। उदाहरणार्थ, इसने अपने अधिनियम में अन्य चार रोगों को स्थान दिया है जो अन्तर्राष्ट्रीय कन्वेंशन में शामिल नहीं हैं। यह रोग हैं : संपीड़ित वायुरोग (compressed air illness), सीसे के चतुर्दक्षुल (tetra-ethyl) से जहर चढ़ना, शोरे (nitrous) की लपटों से जहर चढ़ना और क्रोम से घाव हो जाना। इस सम्बन्ध में अधिक अन्वेषण की आवश्यकता है। भारत में पेशेजन्य रोगों के अध्ययन के लिए चिकित्सा और कानूनविशेषज्ञों की एक समिति का निर्माण उपयोगी हो सकता है। अभी भी अनेक ऐसे पेशेजन्य रोग हैं जिनको कि मुआवजा सूची में लाया जा सकता है। अन्तर्राष्ट्रीय श्रम कार्यालय की

औद्योगिक आरोग्य की पत्र-व्यवहार समिति ने १९३५-३६ में प्रस्ताव पास कर अनेक नये पेशेजन्य रोगों को सम्मिलित करने की संभावना पर विचार करने की प्रार्थना की थी। पर हमें यह न भूलना चाहिए कि भारत जैसे देश में केवल सूची के बढ़ाने से समस्या का हल नहीं हो जाता। उसके लिए आवश्यक चिकित्साविशेषज्ञों तथा उचित शासन की व्यवस्था भी जरूरी है।

नकद लाभ. पेशेगत जोखिम के सिद्धान्त के अन्तर्गत एक मालिक पर मजदूर और उसके आश्रितों को किसी दुर्घटना से हुई आर्थिक हानि की पूर्ति की जिम्मेदारी है। यह हानि दो प्रकार की होती है : आय में पूर्ण या आंशिक हानि और चिकित्सा या शल्य क्रिया (surgical treatment) दवाओं, उपकरणों (appliances) या अन्त्येष्टि क्रिया का व्यय। नकद लाभ में इन दोनों चीजों का ध्यान रखना जरूरी है।

लाभ की दर के अन्तर्राष्ट्रीय मान. १९२५ की मजदूर मुआवजा (अंल्पतम दर) सिफारिश में रोजगार हानि से उत्पन्न असमर्थता (incapacity) या मृत्यु के लिये निम्न लाभ दर प्रस्तावित की है:—(१) पूर्ण स्थाई असमर्थता की दशा में मजदूर की वार्षिक आय की दो तिहाई रकम का का अवधिक (periodical) भुगतान। (२) स्थाई आंशिक असमर्थता की दशा में, अर्जन सामर्थ्य में जितनी कभी हुई हो उसकी दो तिहाई रकम का अधिक भुगतान। (३) अस्थाई पूर्ण असमर्थता की दशा में, मजदूर की बेसिक आय की दो तिहाई रकम का दैनिक या साप्ताहिक भुगतान। (४) मृत्यु की दशा में जहां मुआवजे का भुगतान विशेष अवधिक भुगतानों में होता है। सब आश्रितों को होनेवाले वार्षिक भुगतान की रकम मृत व्यक्ति की दो तिहाई वार्षिक आय से कम नहीं होनी चाहिए।

निरंतर एक तीमारदार (attendent) की जरूरत होने की दशा में सिफारिश में अतिरिक्त मुआवजे की व्यवस्था है। मुआवजे की यह रकम स्थाई पूर्ण असमर्थताओं में दी जानेवाली रकम के आधे से कम नहीं होनी चाहिए। हवाना कोड और १९४४ की आर्थिक सुरक्षा सिफारिश ने भी उक्त प्रस्तावों की पुष्टि की है।

भारत में अन्तर्राष्ट्रीय मान का अनुसरण. भारतीय अधिनियम इस दिशा में सामान्यः अन्तर्राष्ट्रीय मानों पर आधारित है। स्थाई आंशिक असमर्थता के लिए उसमें अर्जित आय की हानि के अनुपात भी एक अनुसूची में दिये हुए हैं। उदाहरणार्थ, दाहिने हाथ के नष्ट हो जाने पर ७० प्रतिशत तथा टांग के नष्ट हो जाने पर ५० प्रतिशत आय की क्षति मानी जाती है।

कर्मचारी राज्य बीमा अधिनियम में भी पेशेजन्य हानि उठाने वाले मजदूरों और उनके आश्रितों के लिए असमर्थता लाभ और आश्रितों के लाभ की व्यवस्था है ।

(ख) **नकद दर का रूप—किश्तें या एकमुश्त.** पेशेजन्य दुर्घटनाओं से पीड़ित व्यक्तियों या आश्रितों को अवधिक भुगतान, स्थाई होने की दशा में पेंशन, अस्थाई होने की दशा में भत्ते या एक मुश्त रकम के रूप में दिये जा सकते हैं । प्रायः एक मुश्त भुगतान का तरीका दोषपूर्ण पाया गया है, क्योंकि अनुभवहीन मजदूर प्रायः उसे लापरवाही से खर्च कर देते हैं । एक मुश्त भुगतान का तरीका वहीं ठीक है जहां कि अधिकारी इस बारे में निश्चिन्त हों कि उसका सदुपयोग होगा । इसलिए अन्तर्राष्ट्रीय कन्वेंशनों और सिफारिशों में, विशेष अवस्थाओं को छोड़, अवधिक भुगतान के तरीके को अपनाने पर ही जोर दिया गया है ।

पेंशन देने की सामान्य प्रवृत्ति के विपरीत, स्थाई अपाहिजता या मृत्यु की दशा में, एक मुश्त और केवल अस्थाई अपाहिजता की दशा में पेंशन की व्यवस्था है । पेंशन में भी अर्धमासिक भुगतानों को एक मुश्त भुगतान में परिवर्तित करने की व्यवस्था है । कर्मचारी राज्य बीमा अधिनियम में अवधिक भुगतान के तरीके को अपनाया गया है ।

(ग) **प्रतीक्षाकाल.** यद्यपि प्रतीक्षाकाल की व्यवस्था पेशेजन्य जोखिम के सिद्धान्त के, जिनमें हानि होने के तुरंत बाद ही मुआवजा मिलना शुरू हो जाना चाहिए, विरुद्ध है । फिर भी झूठे दावों और गौण दुर्घटनाओं के लिए मुआवजे के भार से बचने के लिए इसका होना आवश्यक प्रतीत होता है । समस्त अन्तर्राष्ट्रीय कन्वेंशनों में प्रतीक्षाकाल को कम से कम करने अथवा समाप्त करने पर पर जोर दिया गया है और उसकी अधिकतम अवधि ५ दिन रखी गई है ।

भारतीय मुआवजा कानून में, जिसमें केवल अस्थाई असमर्थता के लिए पेंशन की व्यवस्था है, सात दिन का प्रतीक्षाकाल रखा गया है । इसके विपरीत, कर्मचारी राज्य बीमा अधिनियम में रोजगारजन्य हानि के लिए कोई प्रतीक्षा काल नहीं रखा गया है । मैसूर में भी अस्थाई अवस्था की दशा में, बशर्ते वह एक सप्ताह से अधिक रहे, दुर्घटना के दिन से ही अर्धमासिक भुगतान की व्यवस्था है । १९४४ की भारतीय स्वास्थ्य पड़ताल और विकास समिति ने भी प्रतीक्षाकाल को समाप्त करने की सिफारिश की थी ।

(घ) **आश्रित (dependents) मुआवजे के अधिकारी.** आश्रितों के

प्रायः दो भेद किये गये हैं : प्रथम श्रेणी में मृत व्यक्ति के जीवन साथी (विधवा या विधुर) और विशेष आयु से कम वाले (जो प्रायः १५, १६ या १८ साल) मानी गई है) उनके बच्चे आते हैं; दूसरी श्रेणी में उसके भाई, बहन, माता-पिता और पोते-पोती आते हैं। दूसरी श्रेणी के सदस्यों को मृत्र व्यक्ति पर अपनी आर्थिक निर्भरता का सबूत देना पड़ता है।

भारतीय मजदूर मुआवजा अधिनियम के अन्तर्गत मृत व्यक्ति के निम्न सम्बन्धी आश्रित माने गये हैं : (क) एक विधवा, एक वैध पुत्र, अविवाहित वैध कन्या, या विधवा मा; और (ख) यदि मृत्यु के समय मजदूर पर पूर्णतः या अंशतः आश्रित हो, तो एक विधुर, पिता, एक अविवाहित वैध या अवैध कन्या, यदि वह नाबालिग है या विधवा है, एक नाबालिग भाई, एक अविवाहित या विधवा बहिन, एक विधवा पुत्रवधू, मृत पुत्र का नाबालिग पुत्र, मृत कन्या का नाबालिग बच्चा जब कि उसका पिता जीवित न हो, बाबा या दादी। जब कि मजदूर के माता-पिता में से कोई जीवित न हो, कर्मचारी राज्य बीमा कानून ने भी आश्रितों की उक्त परिभाषा को स्वीकार किया है।

आश्रितों की परिभाषा देने के पश्चात्, राष्ट्रीय योजनाओं में विभिन्न आश्रितों के बीच मुआवजे के बंटवारे की व्यवस्था दी रहती है। भारतीय मुआवजा अधिनियम में कमिश्नर को इस बात का अधिकार है कि वह जिस अनुपात में चाहे आश्रितों के बीच मुआवजे का बंटवारा कर दे।

(ङ) **अतिरिक्त मुआवजा.** भारतीय कानून में ऐसी असमर्थता के लिये, जिसमें सदा किसी तीमारदार की जरूरत रहती है, किसी प्रकार के अतिरिक्त मुआवजे की व्यवस्था नहीं है।

सेवा या सुविधाओं द्वारा (in kind) **मुआवजा.** विभिन्न राष्ट्रीय कानूनों में नकद सहायता के अतिरिक्त, चिकित्सा, शल्य और औषध सहायता, नकली अंग और शल्य उपकरणों (surgical appliances) पेशेजन्य पुनर्शिक्षा और पुनर्वासिन जैसी विभिन्न सुविधाओं के रूप में मुआवजे की व्यवस्था है। भारतीय कानून इस दृष्टि से बहुत पिछड़ा हुआ है। उसमें केवल नकद मुआवजे की व्यवस्था है; निवारण और स्वास्थ्य लाभ, पुनर्वासिन (rehabilitation) की कोई सुविधा नहीं है। चिकित्सा की उसमें पूर्णतः उपेक्षा की गई है। कर्मचारी राज्य बीमा अधिनियम में, जो केवल साल भर चलनेवाले 'कारखानों के मजदूरों पर लागू होता है, अवश्य चिकित्सा लाभ की सुविधा प्रदान की गई है।

गारंटी. मालिक के दिवालिया हो जाने की दशा में मुआवजे के मिलने

की गारंटी की मुफ्त व्यवस्था जरूरी हो जाती है। भारत में मजदूर और उनके आश्रित, प्राय: छोटे मालिकों से मुआवजा वसूल करने में, जब कि वह कानूनन उन्हें मिलना चाहिए, सफल नहीं होते।

विभिन्न राष्ट्रीय कानूनों में गारंटी के निम्न चार तरीके हैं: (क) मालिक के पावने (assets) में मजदूरों का पहला अधिकार होता है, (ख) मालिक राज्य के पास एक कोष में उतना शेयर या नकद जमा कर देता है जिनकी रकम मुआवजा भुगतान करने के लिए पर्याप्त होती है, (ग) इस उद्देश्य के लिए राज्य द्वारा प्रत्यक्ष या परोक्ष कर लगा एक गारंटी कोष का निर्माण किया जाता है; (घ) मालिकों का राज्यशासित कोष, प्राइवेट बीमा कम्पनी या पारस्परिक सहयोग द्वारा बीमा को अनिवार्य कर।

भारतीय मजदूर मुआवजा अधिनियम में मालिक के दिवालिया हो जाने की दशा में भुगतान की गारंटी के सम्बन्ध में कुछ व्यवस्था की गई है, जो इस प्रकार है: (१) यदि कोई मालिक बीमा कराये हुए है तो दिवालिया हो जाने की दशा में बीमा करनेवाले पर उसका दायित्व चला जाता है, (२) दिवालिया होने अथवा एक कम्पनी के बन्द होने की दशा में, रही सम्पत्ति से दिये जानेवाले समस्त ऋणों में, मजदूर मुआवजे की रकम को पहला स्थान मिलता है। हमारे यहां मालिकों द्वारा इस सम्बन्ध में अपने दायित्व का बीमा सर्वथा स्वैच्छिक है। इसलिए जिस मालिक ने बीमा नहीं कराया है उसके दिवालियापन के विरुद्ध मजदूर को कोई कानूनी गारंटी प्राप्त नहीं है।

कर्मचारी राज्य बीमा अधिनियम में अनिवार्य बीमा के सिद्धान्त को अपनाया गया है। अत: वह मजदूर मुआवजा अधिनियम की तुलना में इस दृष्टि से श्रेष्ठ है।

झगड़ों का निपटारा. अन्तर्राष्ट्रीय श्रम सम्मेलन ने मजदूरों के मुआवजों के झगड़े निपटाने के सम्बन्ध में एक विशेष सिफारिश को स्वीकार किया है, जिसका सार है : ऐसे झगड़ों का निपटारा एक विशेष अदालत या पंच बोर्ड से होना चाहिए, जिसमें एक नियमित न्यायाधीश के साथ अथवा विना, मालिकों और मजदूरों के भी बराबर प्रतिनिधि हों। हवाना कोड में चिकित्साविशेषज्ञ की, जो कि हानि का अंदाज लगा सकें, सुनवाई का भी प्रस्ताव है।

भारत में उपर्युक्त सिद्धान्तों की सर्वथा उपेक्षा की गई है। यहां पर इस सम्बन्ध में मजदूर मुआवजा कमिश्नर ही क्षमता प्राप्त कानूनी अधिकारी है। उसे दीवानी अदालत के सब हक मिले हुए हैं। मजदूरों और मालिकों के प्रतिनिधियों का झगड़े सुलझाने में कोई हाथ नहीं होता। कर्मचारी राज्य बीमा

अधिनियम के अन्तर्गत स्थापित विशेष न्यायालयों में भी यह बुराई कायम है।

राष्ट्रीय और विदेशी मजदूरों से समान व्यवहार. अन्तर्राष्ट्रीय कन्वेंशन और सिफारिश में मुआवजे के मामले में देश और विदेश के मजदूरों के बीच किसी तरह का भेदभाव न रखने की व्यवस्था की गई है। भारत ने इस कन्वेंशन पर अपने हस्ताक्षर किये हैं। भारतीय मजदूर मुआवजा कानून बिना राष्ट्रीयता और निवास की रोक के इसके अन्तर्गत सब मजदूरों पर लागू है।

शासन (Administration). शासन के लिए भारतीय अधिनियम में मजदूर मुआवजा के लिए कमिश्नर नियुक्त करने की व्यवस्था की गई है। लेकिन बंबई को छोड़, बंगाल, बिहार और मद्रास में लेबर कमिश्नर तथा अन्य राज्यों में जिला मजिस्ट्रेट या सेशन जज मुआवजा कमिश्नर की जगह काम करते हैं।

इस सम्बन्ध में यह स्मरण रखना जरूरी है कि केवल मुआवजा कमिश्नर की नियुक्ति अथवा केवल मजदूरों के मुआवजे के कानूनी अधिकार को स्वीकार कर लेने से ही, जब तक कि उन्हें अच्छे प्रकार से अमल में नहीं लाया जाता, समस्या हल नहीं हो जाती। भारत में मजदूर मुआवजा अधिनियम की कार्य पद्धति के सम्बन्ध में लोगों की राय में पर्याप्त मतभेद है। शाही श्रम कमीशन ने उसकी खुले दिल से प्रशंसा की है जब कि बी० पी० अदारकर की राय में वह बहुत कुछ असफल रहा है। पेशेजन्य रोगों के मुआवजे के मामलों में तो इसका शासन बहुत ही गया बीता रहा है।

दोष और उन्हें दूर करने के उपाय. मुआवजा शासन के दोषों और उन्हें दूर करने के उपायों का संक्षिप्त वर्णन आवश्यक है।

१. मजदूरों को प्राप्त मुआवजे की बहुत बार अदायगी नहीं होती। इसके लिए जो मालिक दे सकते हैं, उनके साथ सख्ती तथा जो नहीं दे सकते उनके लिए अनिवार्य बीमे की शुरुआत आवश्यक है।

२. मजदूरों को कानून की नाजानकारी तथा उनकी निरक्षरता उनके मुआवजा प्राप्ति के मार्ग में एक और बाधा है। इसका मुकाबला करने के लिए मजदूरों को उसकी उचित शिक्षा मिलनी चाहिए। मजदूर संघों, कारखाना इंस्पेक्टरों और मालिकों को भी इस सम्बन्ध में उनकी सहायता करनी चाहिए।

३. कई बार मालिकों द्वारा हैरान और उत्पीड़ित किये जाने का डर भी मजदूरों को मुआवजा कानून का फायदा उठाने से रोकता है। इसके लिए स्थाई आदेशों तथा कानून की उन धाराओं पर, जो इस सम्बन्ध में मालिकों के लिए बनाये गये हैं, सख्ती से अमल जरूरी है।

४. वर्तमान अवस्था में मुआवजा पाने के लिए लम्बी मुकदमेबाजी करनी पड़ती है। इसके लिए यह आवश्यक है कि ऐसी सरल और तेज कार्य पद्धति अपनाई जाये जिससे कि शीघ्र ही मुआवजों का फैसला हो सके।

५. हमारे यहां अधिकांश मजदूर आवश्यक कानूनी सहायता जुटाने में असमर्थ हैं। ऐसी स्थिति में यह आवश्यक है कि मुआवजे के फैसले के लिए विशेष मजदूर मुआवजा कमिश्नर नियुक्त किये जायें और न्याय अधिकारियों पर इसका बोझा न डाला जाये; क्लेम एजंसी, मजदूर संघ तथा फैक्टरी इंस्पेक्टर इस काम में सहायता तथा राज्य द्वारा जरूरतमंद मजदूरों को आवश्यक कानूनी सलाह मुफ्त में दी।

बीमे के सिद्धान्त को अपनाने की आवश्यकता. मजदूर मुआवजा अधिनियम की बहुत कुछ सफलता उस संगठन पर निर्भर है जिसके द्वारा कि मुआवजा अदा किया जाता है। भारत में कुछ मालिकों ने इस अधिनियम के अन्तर्गत अपने दायित्व का बीमा करा लिया है। इससे मुआवजों की अदायगी का काम बहुत आसान हो गया है। इसलिए यह उचित है कि हम इसके लिए एक अनिवार्य बीमा योजना को अमल में लायें।

बीमा के सिद्धान्त को तीन प्रकार से लागू किया जा सकता है बीमा कम्पनी और आपसी बीमा ऐसोसियेशन बनाकर, राज्य द्वारा ऐसे कोष का निर्माण कर, जहां मालिक अपने दायित्व का बीमा करा सकें या राज्य द्वारा कम्पनियों द्वारा वसूल किये जानेवाली प्रीमियम दर का नियंत्रण कर। उक्त तीनों तरीकों में से राज्य के आपसी कोष (State Mutual Fund) का दूसरा तरीका अधिक लोकप्रियता प्राप्त कर रहा है। यह संतोष की बात है कि कर्मचारी राज्य बीमा अधिनियम ने इस सिद्धान्त को अपनाया है। किन्तु हमें यह न भूलना चाहिए कि इस अधिनियम की सफलता भी राज्य, मालिकों और मजदूरों के आपसी सहयोग पर निर्भर है। मुआवजे के क्षेत्र में मजदूरों के संगठनों की बड़ी जिम्मेदारी है। श्रम कल्याण अफसर और मालिक आपस में झगड़ने के बजाय, एक उदार दृष्टिकोण को अपनाकर समस्त उचित दावों को स्वीकार कर मजदूरों की सेवा कर सकते हैं।

बीमारी बीमा (Sickness Insurance)

बीमारी में सामाजिक सुरक्षा की आवश्यकता. बीमारी एक ऐसी अवस्था है जब कि एक कर्मचारी काम करने के योग्य नहीं रहता। इस प्रकार वह अपनी आमदनी से हाथ धो बैठता है। इसके अलावा, इस समय उसे अपनी चिकित्सा,

सेवा शुश्रूषा के लिये चिकित्सक सहायता की भी आवश्यकता होती है। ऐसी असहाय अवस्था में यह जरूरी हो जाता है कि कोई सामाजिक संस्था इस आकस्मिक हानि और व्यय को अपने ऊपर ले और पीड़ित व्यक्ति को सहायता पहुंचाये। बीमारी बीमा इस संकट से बचने का अच्छा उपाय है।

अन्तर्राष्ट्रीय कन्वेंशन और सिफारिशें. बीमारी बीमा के सम्बन्ध में अन्तर्राष्ट्रीय श्रम सम्मेलन ने विशेष रूप से दो कन्वेंशन और एक सिफारिश स्वीकार की हैं। इनमें से भारत ने किसी भी कन्वेंशन पर हस्ताक्षर नहीं किये हैं। वास्तव में कर्मचारी राज्य बीमा अधिनियम ही इस दिशा में यहां पहला प्रयत्न है।

१९२७ के प्रथम कन्वेंशन ने बीमारी की समस्या को पहली बार उग्र रूप में हमारे सम्मुख पेश किया था। तबसे इसे लेकर हमारे यहां बराबर चर्चा होती रही है, लेकिन इस दिशा में हमारी कोई ठोस प्रगति नहीं हुई। १९४३ में भारत सरकार ने बी० पी० अदारकर को भारत के लिए स्वास्थ्य योजना तैयार करने का काम सौंपा। १९४४ में उन्होंने 'औद्योगिक मजदूरों के स्वास्थ्य बीमा पर एक रिपोर्ट' प्रस्तुत की। १९४४ के त्रिदली श्रम सम्मेलन और १९४५ में स्थाई श्रम समिति द्वारा इस पर विचार हुआ। इसके बाद पुनः दो विशेषज्ञों स्टैक और राऊ ने इनकी परीक्षा की और विशेषकर इसके विस्तार और क्षेत्र के सम्बन्ध में महत्त्वपूर्ण संशोधन प्रस्तुत किये। इनके आधार पर बी० पी० अदारकर की मूल योजना में पर्याप्त परिवर्तन किये गये और सामाजिक सुरक्षा की एकीकृत योजना में, जिसमें स्वास्थ्य, मातृत्व लाभ और रोजगार की हानि सम्मिलित हैं, उसे सम्मिलित किया गया। १९४८ की कर्मचारी राज्य बीमा योजना में एकीकृत योजना को अपनाया गया।

कर्मचारी राज्य बीमा अधिनियम द्वारा संरक्षित तीन जोखिमों में से बीमारी ही प्रमुख है। संक्षेप में हम इस अधिनियम से सम्बन्धित नियमों का अध्ययन करेंगे।

क्षेत्र. बीमारी बीमा पर विचार करते हुए हमें दो स्थितियों को ध्यान में रखना जरूरी है। एक तो वह जो कि अस्थाई या मौसमी रोजगार में लगे हुए व्यक्तियों से उत्पन्न है, दूसरी वह जो कर्मचारियों की वैयक्तिक योग्यता से सम्बन्ध रखती है, जैसे कि आयु, मजदूरी, काम करने की सामर्थ्य, राजनैतिक और नागरिक अवस्था। बीमारी बीमा से सम्बन्धित अन्तर्राष्ट्रीय कन्वेंशन में (स० २४) अनिवार्य बीमा प्रणाली को हाथ और बिना हाथ का काम करनेवाले, जिनमें अप्रेंटिसों का भी समावेश है, बाहर और घरों में काम करने

वाले सभी कर्मचारियों पर विस्तृत करने की व्यवस्था की गई है। उसम कुछ वर्गों को, जैसे जो लोग अस्थाई या मौसमी काम में लगे हैं, वह लोग जिनका नकद म भुगतान नहीं होता, बाहर काम करनेवाले, प्रस्तावित से कम या अधिक आयु वाले तथा मालिक के परिवार के सदस्यों को, इससे बाहर रखा है। दूसरे कन्वेंशन तथा हवाना कोड में बीमारी बीमा के क्षेत्र को यथासंभव सभी वर्गों पर लागू करने की सिफारिश की है।

• उक्त अन्तर्राष्ट्रीय व्यवस्था के विपरीत, कर्मचारी राज्य बीमा अधिनियम का क्षेत्र बहुत ही संकुचित और सीमित है। अधिनियम में केवल वही व्यक्ति इसके अन्तर्गत आते हैं जो साल भर चलनेवाले कारखानों में काम करते हैं और जिनकी मासिक आय ४०० रु० से अधिक नहीं है।

लाभ (Benefits). बीमा संस्थाएं दो प्रकार से लाभ दे सकती हैं: (१) नकद लाभ प्रदान कर, जिनसे बीमार स्वयं आवश्यक वस्तुओं और सेवाओं का प्रबन्ध कर सके; और (२) रोगी के लिए आवश्यक वस्तुओं और सेवाओं का स्वयं प्रबन्ध कर। प्रायः इन दोनों पद्धतियों में से एकांततः कोई एक पद्धति नहीं अपनाई जाती। आधुनिक प्रवृत्ति वस्तुओं और सेवाओं में लाभ देने पर जोर देती है। भारतीय अधिनियम में दोनों ही व्यवस्थाएं हैं।

भुगतान की शर्त. लाभ प्राप्त करने के लिए भुगतान की कुछ शर्तों का होना आवश्यक है। इस सम्बन्ध में पहली स्वाभाविक शर्त होती है कि बीमा हुआ व्यक्ति बीमारी के कारण अपने कार्य को करने में असमर्थ है। भारतीय नियम के अन्तर्गत इसके लिए यह भी आवश्यक है कि कर्मचारी इस कार्य के लिए विधिवत् नियुक्त डाक्टर द्वारा प्रमाणित इस आशय का एक सर्टीफिकेट उपस्थित करे।

योग्यता काल (qualifying period) और प्रतीक्षा काल (waiting period) के सम्बन्ध में भी दो नियम हैं। पहला कर्मचारी कम से कम १२ साप्ताहिक भागदेय (contributions) अथवा जितने सप्ताह उसने काम किया है उनमें से दो तिहाई समय वह अपने भागदेय दे चुका है। भारतीय उद्योगों में मजदूरों द्वारा अधिक दिन तक एक जगह टिक कर काम न करने के कारण यह नियम बनाना जरूरी हो जाता है। इसके अतिरक्त, प्राप्ति योग्यता काल के रहने से लागत की भी बचत होती है।

नकद लाभों के भुगतान की उक्त शर्तों के अलावा कुछ अन्य विविध शर्तें भी हैं। उदाहरणार्थ, कर्मचारी के लिये बीमारी में बीमा संस्था द्वारा दी गई चिकित्सा सम्बन्धी हिदायतों का पालन करना आवश्यक है। भारतीय अधिनियम के अन्तर्गत नकद लाभ पानेवाले व्यक्ति के लिए यह जरूरी है कि वह कानून द्वारा प्रस्तावित

उस अस्पताल या संस्था में रहे वहां के डाक्टर द्वारा दी गई हिदायतों का पालन करे और कोई ऐसा काम न करे जिससे कि उसके ठीक होने में किसी प्रकार की बाधा पड़े। उसे किसी भी समय डाक्टरी परीक्षा में आपत्ति न होनी चाहिए तथा बिना अधिकारी डाक्टर की अनुमति के वह चिकित्सा स्थान नहीं छोड़ सकता।

लाभ की रकम. बीमारी की अवस्था में प्राप्त नकद लाभ को एक प्रकार से बीमारी के कारण होनेवाली मजदूरी का मुआवजा कहा जा सकता है। किन्तु इसकी दर के निर्णय के सम्बन्ध में पर्याप्त मतभेद पाया जाता है। यदि बीमार व्यक्ति के सामाजिक दर्जे को कायम रखना लक्ष्य है, तब तो आमदनी के अनुसार उनका निर्धारण होना चाहिए; और यदि उसका लक्ष्य केवल न्यूनतम गुजारे का प्रबन्ध है, तो वह सबों के लिए एक ही होना चाहिए। अन्तर्राष्ट्रीय सिफारिश में दोनों दृष्टिकोणों के समन्वय का प्रयास किया गया है। आर्थिक सुरक्षा सिफारिश में पारिवारिक जिम्मेदारियों का ख्याल करते हुए नष्ट आय की पूर्ति करने तथा बीमा हुए व्यक्ति की पूर्व आय को ध्यान में रखते हुए लाभ निर्धारित करने तथा समृद्ध देशों में समान दर लाभ देने का सुझाव दिया है। उसमें अकुशल मजदूर के लिए, अकेला होने की दशा में, नष्ट आय का कम से कम ४० प्रतिशत, यदि उसके आश्रित भी हों तो कम से कम ६० प्रतिशत, तथा दो से अधिक आश्रित होने की स्थिति में १० प्रतिशत और देने की व्यवस्था की है। इंग्लैंड में गुजारा (Maintenance) लाभ पुरुषों की मजदूरी का ३० प्रतिशत तथा स्त्रियों की मजदूरी का ६० प्रतिशत रखा गया है। अमरीका में इसका अनुपात ५० से ३० प्रतिशत है। स्टैक और राऊ ने भारत के लिये न्यूनतम ५० प्रतिशत तथा अधिकतम ७५ प्रतिशत की सिफारिश की है। इसके विपरीत, कर्मचारी राज्य बीमा अधिनियम में बीमारी के लाभ की दर समान रूप से औसत दैनिक मजदूरी का ५० प्रतिशत रखी गई है।

लाभ की अवधि (Duration). लाभ की अवधि के निर्धारण में इस बात का ध्यान रखना जरूरी है कि रोगी व्यक्ति को तब तक लाभ प्राप्त होते रहें जब तक कि वह स्वस्थ नहीं हो जाता। अन्तर्राष्ट्रीय कन्वेंशन में लाभ पाने की अधिकतम अवधि २६ सप्ताह रखी गई है, जब कि सिफारिश में उसे १ वर्ष तक बढ़ाने के लिए कहा गया है। भारतीय व्यवस्था अन्तर्राष्ट्रीय मानों की तुलना में बहुत पिछड़ी हुई है। बी० पी० अदारकर ने स्थाई मजदूर के लिए ९० दिन और अस्थाई मजदूर के लिए अधिक से अधिक ४५ दिन और स्टैक और राऊ ने १३ सप्ताह की अधिकतम अवधि को ३६ सप्ताह तक बनाने की सिफारिश की थी। भारतीय अधिनियम ने इस अवधि को और भी घटाकर केवल ८ सप्ताह

कर दिया है। वास्तव में यह अधिक उचित है कि सामान्यतः कानूनी न्यूनतम अवधि को निश्चित न किया जाये और उसमें बीमा हुए रोगी के सदस्यता काल में फंड की आर्थिक स्थिरता और बीमारी की किस्म को देखते हुए परिवर्त्तन किये जायें।

डाक्टरी लाभ. हाल में मुआवजे की तुलना में स्वास्थ्य प्राप्ति को अधिक महत्त्व दिया जाने लगा है। कार्यक्षमता और स्वास्थ्य की पुनःप्राप्ति के लिये औषध तथा शल्य (Surgical) चिकित्सा और उपचार की व्यवस्था होना आवश्यक है। हवाना कोड में रोगियों को दी जानेवाली सुविधाओं की विस्तृत सूची दी गई है। भारतीय अधिनियम का क्षेत्र उसकी तुलना में पर्याप्त सीमित है। उसमें भी औषध, शल्य और प्रसूति चिकित्सा की अपर्याप्त व्यवस्था है। स्टैक और राऊ ने भारतीय मजदूर के घरों की गंदी अवस्था को देखते हुए बीमारी से उठने के वाद विशेष लाभ प्रदान करने का सुझाव दिया है।

बीमा हुए व्यक्ति के परिवार के सदस्यों के लिए लाभ. जब कि किसी कर्मचारी के परिवार का कोई सदस्य बीमार पड़ जाता है तो उसे उसके लिए व्यय करना पड़ता है। उसे ऐसी स्थिति में आवश्यक आर्थिक सहायता की आवश्यकता होती है। अन्तर्राष्ट्रीय सिफारिश और हवाना कोड में यथासंभव डाक्टरी सहायता को कर्मचारी के परिवार के समस्त सदस्यों तक विस्तृत करने का सुझाव दिया गया है। भारतीय अधिनियम में इस सम्वन्ध में केवल यही निर्देश है कि किसी राज्य सरकार की प्रार्थना पर कर्मचारी राज्य बीमा कार्पोरेशन डाक्टरी लाभों को कर्मचारियों के परिवारों के सदस्यों को भी प्रदान कर सकती है।

अन्त्येष्टि (Funeral). लाभ बीमारी बीमा योजनाओं में अन्त्येष्टि लाभ प्रदान करने का उद्देश्य मृत व्यक्तियों के आश्रितों का भरण पोषण न होकर केवल अन्तिम क्रियाओं में व्यय होनेवाली रकम की व्यवस्था करना होता है। अन्तर्राष्ट्रीय सिफारिशों में बीमा हुए व्यक्ति की अच्छी अन्त्येष्टि क्रिया के लिये पर्याप्त रकम देने का सुझाव दिया गया है। भारत में इसकी कोई व्यवस्था नहीं है।

अतिरिक्त लाभ. अन्तर्राष्ट्रीय सिफारिशों में इस बात को भी कहा गया है कि एक अच्छी बीमा संस्था को अपनी क्षमतानुसार लाभ की दरों और लाभ की अवधि को बढ़ाते रहने का निरंतर प्रयत्न करना चाहिए। बी० पी० अदारकर ने अपनी स्वास्थ्य रिपोर्ट में अनेक अतिरिक्त लाभों की एक लम्बी सूची दी है, जिन पर कि अमल किया जा सकता है। कर्मचारी राज्य बीमा कानून

में कार्पोरेशन में मुनाफा होने की दशा म, लाभों को कर्मचारी परिवार के सदस्यों तक विस्तृत करने का तो प्रस्ताव है, पर अतिरिक्त लाभों का कोई जिक्र नहीं है।

असमर्थता बुढ़ापा, वैधव्य और अनाथपन के विरुद्ध सुरक्षा

असमर्थता या रोग-दुर्बलता (Invalidity), बुढ़ापा, वैधव्य और अनाथपन के विरुद्ध सुरक्षा की आवश्यकता. रोगजन्य दुर्बलता, वुढ़ापा, वैधव्य और अनाथपन ऐसी अवस्थाएं हैं जब कि व्यक्ति असमर्थ होने के कारण दूसरे की सहायता पर निर्भर होता है। ऐसी स्थिति में किसी भी अच्छे समाज का यह कर्त्तव्य है कि वह रोगदुर्बल व्यक्तियों, बूढ़ों, विधवाओं और अनाथों के लिए आवश्यक आर्थिक सुरक्षा की व्यवस्था करे।

अन्तर्राष्ट्रीय व्यवस्थाएं. १९३३ में अन्तर्राष्ट्रीय श्रम सम्मेलन म रोग-दुर्बलता, वुढ़ापे, वैधव्य और अनाथपन पर छः नये कन्वेंशन और एक सिफारिश स्वीकार की गई। उद्योग व्यापार और खेती में लगे हुए लोगों के लिए रोग-दुर्बलता, बुढ़ापे और मृत्यु के लिए दो पृथक् कन्वेंशन हैं। सिफारिश में तीनों जोखिमों का एकीकरण किया गया है।

भारत में प्राविडेंट फंड, ग्रेच्युटी और पेंशन. बीमारी बीमा लाभ की अल्प अवधि और मजदूर मुआवजे की अपर्याप्त रकम को देखते हुए, भारत में रोग-दुर्बलता, बुढापे और मृत्यु की अवस्था में किसी प्रकार की सुरक्षा अत्यावश्यक है। कुछ उदार मालिकों ने इस समस्या का हल करने के लिए प्रावीडेंट फंड, ग्रेच्युटी और पेंशन की पद्धति को अपनाया है। इन सब योजनाओं का मुख्य दोष यह है कि यह उदार नहीं हैं। मालिकों का लाभ देने पर अनुचित नियंत्रण है। प्रायः यह केवल मालिक की दृष्टि में तथाकथित सुपात्र व्यक्तियों को ही प्राप्त हैं। मालिक के भागदेय (Contribution) को पाने की शर्तें प्रायः बहुत ही कड़ी हैं अधिकांश दशाओं में पन्द्रह साल तक मालिक को पूर्ण संतुष्ट कर कार्य करने पर यह लाभ प्राप्त होते हैं। बहुसंख्यक ज़रूरतमंद कर्मचारी, विशेष रूप से कम वेतन पानेवाले व्यक्ति, इनसे वंचित रहते हैं।

हमारे यहां अधिकांश प्रावीडेंट फंड स्वैच्छिक (voluntary) और भागदेयात्मक (contributory) हैं। मालिक के भागदेय की दर ५ से १२ प्रतिशत तक होती है। अधिकांश दशाओं में यह दर प्रायः ६$\frac{१}{४}$ या ८$\frac{१}{३}$ प्रतिशत होती है। मालिक और कर्मचारी बराबर रकम देते हैं। मालिक के भाग का अधिकारी होने के लिए, प्रायः १५ साल की स्वीकृत सेवा अनिवार्य होती है। कुछ फंडों में कर्मचारी के विना किसी दोष के नौकरी छूट जाने की अवस्था में, वर्गीकृत (graded) अनुपात में मालिक के अंश के देने की व्यवस्था होती है।

१९२२ का आयकर अधिनियम (Income Tax Act) विशेष शर्तें पूरी करने की दशा में प्रावीडेंट फंड की रकम पर आयकर से छूट प्रदान करता है। अधिकांश प्रावीडेंट फंड मान्य (recognized) तो हैं, पर रजिस्टर्ड नहीं हैं। सब फंडों का अनिवार्यतः रजिस्टर्ड होना आवश्यक है।

१९५३ का प्रावीडेंट फंड एक्ट. १९२५ में भारत में प्रावीडेंट फंड एक्ट पास हुआ था। यह केवल सरकारी और रेलवे कर्मचारियों पर लागू था। कारखानों, औद्योगिक प्रतिष्ठानों, गृह निर्माण, पत्थर की खानों तथा बन्दरगाहों पर काम करनेवाले कर्मचारियों पर वह लागू न था। आयकर अधिनियम में निस्संदेह इनकम टैक्स कमिश्नर को किसी प्राविडेंट फंड को स्वीकार करने का अधिकार प्राप्त था, किन्तु इसके लिये पहले मालिक द्वारा प्रार्थना जरूरी थी। प्रत्येक औद्योगिक प्रतिष्ठान में प्रावीडेंट फंड योजना को अनिवार्य बनाने के लिए १९४८ में केंद्रीय असेम्बली के सामने एक गैर सरकारी प्रस्ताव पेश हुआ। बाद में सरकार द्वारा स्वयं ऐसा प्रस्ताव रखने के वायदे पर यह यह वापिस ले लिया गया। १९५२ में सरकार ने इस सम्बन्ध में स्वयं एक बिल पेश किया जो १९५३ में पास हुआ। इसमें १९४८ के बिल के मुख्य सिद्धान्तों को स्वीकार किया गया। सीमेंट, सिगरेट, बिजली, मिकेनिकल और सामान्य इंजीनियरिंग वस्तुओं से संबंधित उद्योग, लोहा और इस्पात तथा कपड़ा, छः उद्योगों पर यह लागू होता है।

ग्रैच्युटी और पेंशन. बहुत ही कम प्रतिष्ठानों में ग्रैच्युटी योजनाएं चालू हैं। पेंशन तो और भी विरल हैं। यदि वह कहीं दी भी जाती हैं, तो वह मालिक की मर्जी पर मुनहसिर हैं और उनकी रकम बहुत ही मनमानी और नाकाफी है। ग्रैच्युटी की दर प्रायः साल भर के वेतन में आधे महीने का वेतन होती है। बीस साल से कम सेवा होने पर प्रायः इसकी दर क्रमशः और भी कम हो जाती है। ग्रैच्युटी प्राप्त करने की न्यूनतम अवधि, सामान्यतः दस साल से पन्द्रह साल की सेवा होती है।

उक्त विवेचना से यह स्पष्ट है कि भारत में कमानेवाले की वृद्धावस्था या मृत्यु के विरुद्ध की गई सुरक्षा व्यवस्था सर्वथा अपर्याप्त और अव्यवस्थित है। भारतीय जनता के सामाजिक कल्याण के लिए इनके विरुद्ध उचित सामाजिक सुरक्षा प्रदान करना आवश्यक है।

बेकारी (Unemployment)

बेकारी पूंजीवादी अर्थव्यवस्था की सबसे भीषण समस्या. औद्योगिक क्रान्ति ने बड़े पैमाने पर उत्पादन की नींव डाली और उसी के फलस्वरूप अत्य-

धिक पूंजीवाले उत्पादन साधन प्रयुक्त किये जाने लगे। इन उत्पादन साधनों का मालिक कोई सामाजिक संस्था न होकर, व्यक्तिगत पूंजीपति थे। उत्पादन में इन पूंजीपतियों का एकमात्र उद्देश्य मुनाफा कमाना था। अतः इस व्यवस्था के अन्दर मुनाफा उत्पादन का मुख्य प्रेरक रहा। इसी समय आर्थिक क्षेत्र में राज्य द्वारा निर्हस्तक्षेप (laissez faire) का विचार-दर्शन लोकप्रिय हुआ। यह ठीक है कि आज किसी भी देश में आर्थिक मामलों में राज्य द्वारा पूर्ण निर्हस्तक्षेप की नीति का अनुसरण नहीं हो रहा है, फिर भी अधिकांश देशों में उत्पादन यन्त्रों पर व्यक्तिगत स्वामित्व है तथा उसके मालिकों द्वारा किसी उद्योग में रुपया लगाने की मूल प्रवृत्ति मुनाफे की दर से ही निर्धारित होती है। इस व्यवस्था को ही हम चलती भाषा में पूंजीवादी व्यवस्था कहते हैं। आज रूस, चीन इत्यादि कुछ छोटे योरोपीय देशों को छोड़, अधिकांश संसार में यही व्यवस्था व्याप्त है। इससे इन्कार नहीं किया जा सकता कि इस व्यवस्था के अन्तर्गत अनेक देशों ने संसार में अभूतपूर्व आर्थिक उन्नति की है। सबसे धनी देश अमरीका इसका जीता जागता उदाहरण है।

रोजगार-उत्पादन में धन लगाने (Investment) **का परिणाम.** पूंजीवादी उत्पादन में किसी उद्योग में धन का लगाना मुनाफे की दर पर आश्रित है। मुनाफे की दर सदा आकर्षक नहीं होती। ऐसी स्थिति में धन का लगाना बन्द हो जाता है, परिणामतः नया उत्पादन नहीं किया जाता; मजदूरों की मांग गिर जाती है और बेकारी फैल जाती है। पूंजीपति के लिए उचित मुनाफेवाली कीमत पर वस्तुओं की मांग का गिर जाना, उद्योगों में कम धन लगाने का एक कारण है। किसी भी समय जनता की क्रय शक्ति में कमी होने से ऐसी स्थिति उत्पन्न हो सकती है। पूंजीवादी व्यवस्था में उक्त स्थिति समय समय पर कुछ काल के लिये उत्पन्न होती है। जिसे प्रायः मन्दी (depression) का नाम दिया जाता है। निस्संदेह यह स्थिति स्थाई नहीं होती, लेकिन रोज कमाने वाली मजदूर जनता के लिये, थोड़े समय के लिये भी ऐसी स्थिति, बड़ी ही भीषण हो जाती है। यदि इस समय उसे किसी प्रकार की उचित आर्थिक सहायता प्राप्त न हो तो समाज में भयंकर विगठन (Disorganisation) उत्पन्न हो जाता है।

बेकारी बीमा एक उपाय. समृद्ध पूंजीवादी देशों ने इस संकट का मुकाबला करने के लिये बेकारी बीमा को अपनाया है। इस प्रकार ज्योंही मजदूर बेकार होता है, वह बीमा संस्था द्वारा निश्चित आर्थिक सहायता का अधिकारी हो जाता है, और इस प्रकार उसे भूखे नही मरना पड़ता।

आर्थिक आयोजन (Planning) द्वारा समाधान. आधुनिक इतिहास का अध्ययन हमें यह बताता है कि सार्वजनिक आर्थिक आयोजन को अपना, परिणामतः, उद्योगों में बिना मुनाफ की प्रवृत्ति के धन लगा और नई वस्तुओं की मांग पैदा कर हम व्यापार के उतार चढ़ाव से पैदा होनेवाली बेकारी का नियंत्रण कर सकते हैं। वह देश जो कि अभी बहुत अविकसित हैं, जहां की आर्थिक आय बहुत ही गिरी हुई है, आर्थिक आयोजन को अपना कर ही बेकारी के दैत्य का मुकाबला कर सकते हैं।

ऊपर हमने व्यापार से उत्पन्न चक्रीय (Cyclical) बेकारी का जिक्र किया ह, जो कि पूंजीवादी अर्थ व्यवस्था की प्रमुख विशेषता है। पर इसके अतिरिक्त, एक अन्य प्रकार की न दूर की जा सकनेवाली बेकारी है जिसे कि फ्रिक्शनल और टेक्नोलाजीकल बेकारी कहा जाता है। इसका अर्थ होता है कि रोजगारों की कमी न होने की दशा में, यान्त्रिक उन्नति के फलस्वरूप या वैसे एक धंधे को छोड़ दूसरे धंधे को पाने या अपनाने में, अवश्य कुछ न कुछ समय लग जाता है। यह ठीक है कि अच्छी अर्थ व्यवस्था में इसे पर्याप्त कम किया जा सकता है। ऐसी स्थिति में कुछ समय के लिये पुनः कर्मचारी को सामाजिक सुरक्षा की आवश्यकता पड़ती है।

बेकारी बीमा अपनाने से पहले आर्थिक विकास आवश्यक. सामाजिक सुरक्षा की दृष्टि से बेकारी बीमा को अपना कर बेकारी की समस्या हल की जा सकती है। लेकिन बीमा पद्धति को अपनाने के लिये भी तो साल के अधिकांश समय में पर्याप्त आर्थिक आय का होना आवश्यक है जिससे कि मालिक और मजदूर दोनों अपनी बीमा की किश्त देते रहें। यदि यह दायित्व राज्य का माना जाय, तब भी राज्य के पास उसके लिये आर्थिक साधन होने चाहिएं। इसलिये निर्धन देशों में सम्पत्ति की, परिणामतः, प्रति व्यक्ति आय की वृद्धि पहली चीज है और बेकारी बीमा बाद की, और बाद में ही वह संभव भी है। इसलिए भारत जैसे देशों में तो, अभी उसे किसी भी प्रकार व्यावहारिक रूप नहीं दिया जा सकता। यहां तो सबसे प्रमुख समस्या रोजगार पैदा करने की है, जो कि केवल विपुल और बड़े पैमाने पर आयोजित आर्थिक विकास द्वारा ही संभव है। बेकारी बीमे का प्रश्न तो हमारे लिये अभी एक उपपत्तिक (theoretical) दिलचस्पी का है। फिर भी उसकी जानकारी जरूरी है।

बेकारी के विरुद्ध बीमा फिलहाल सामाजिक सुरक्षा की सबसे कम विकसित और उपेक्षित शाखा है। सामाजिक सुरक्षा के विकास में, प्रायः यह सबसे अंत में विकसित हुई है।

बेकारी बीमा का प्रधान उद्देश्य अनिच्छित (involuntary) बेकारी से पैदा होनेवाले कष्टों का निवारण है। इसमें उन लोगों को लाभ मिलते हैं जो काम तो करना चाहते हैं, पर उन्हें काम नहीं मिलता। यह बेकारी सहायता केवल एक आपत्कालीन व्यवस्था है। इसे कदापि लक्ष्य नहीं बनाया जा सकता। लक्ष्य तो पूर्ण रोजगार (Full Employment) ही है। इसलिये बेकारी बीमा का गौण महत्त्व है। यद्यपि, यह रोजगार और बेकारी की समस्याओं से घनिष्टतया सम्बन्धित है।

बेकारी से सम्बन्धित अन्तर्राष्ट्रीय नियम और मान

१९१९ में बेकारी के सम्बन्ध में अन्तर्राष्ट्रीय श्रम सम्मेलन ने एक कन्वेंशन पास किया, और सिफारिश की जिसमें क्रमशः केन्द्रीय सरकार के नियंत्रण में मुफ्त रोजगार दिलानेवाली एजेन्सियों की स्थापना तथा मुनाफे पर काम करनेवाली रोजगार एजंसियों को निरुत्साहित करने का प्रस्ताव था। सिफारिश में स्वयं सरकार द्वारा अथवा सरकारी सहायता द्वारा बेकारी बीमा शुरू करने का भी सुझाव था। पहली सिफारिश को अमल में लाने के लिए मुफ्त में रोजगार दिलाने वाली एजेंसियों की स्थापना, जैसा कि भारत में भी हुआ है, उचित है। दूसरी सिफारिश को कामयाब बनाने के लिए सार्वजनिक कामों, जैसे बांधों या सड़कों के निर्माण का, कार्यक्रम जरूरी है। १९३३ के दूसरे कन्वेंशन और सिफारिश में रोजगार एजेंसियों में मुनाफा वृत्ति समाप्त करने और मुफ्त रोजगार दिलानेवाली एजेंसियों की स्थापना पर पुनः जोर दिया गया। १९३४ के तीसरे बेकारी व्यवस्था कन्वेंशन में प्रायः रोजगार में लगे, पर मजबूरन बेकार, लोगों के लिये बेकारी लाभ या भत्ते, या दोनों चीजें मिलाकर देने की व्यवस्था की गई। बेकारी लाभ पाने की अवधि सामान्यतः, एक साल में कम से कम १५६ दिन, तथा किसी भी दशा में ७८ दिन से कम नहीं रखी गई। लाभों का भुगतान नकद होना चाहिए, जब कि पूरक सहायता सेवा द्वारा दी जा सकती है। १९३४ की तीसरी सिफारिश में अनिवार्य बेकारी बीमा योजना तथा लाभ पाने के अधिकार से वंचित लोगों के लिये पूरक सहायता की योजना बनाने का सुझाव दिया गया। लाभ प्राप्ति का योग्यताकाल (Qualifying Period) लाभ प्राप्ति से पहले गुजरे १२ महीनों में अधिक से अधिक २६ सप्ताह का काम या २६ भागदेयों (Contributions) अथवा दूसरी दशा में लाभ प्राप्ति से पहले गुजरे २४ महीनों में अधिक से अधिक ५२ सप्ताह का काम या ५२ भागदेयों का भुगतान रखा गया। १९३५ की सिफारिश में, मुख्यतः बेकार तरुणों को काम

दिलाने तथा उन्हें उद्योगिक शिक्षा देने का जिक्र किया गया। १९३७ की सिफारिश में सार्वजनिक कार्यों के राष्ट्रीय आयोजन पर बल दिया गया। १९४४ की आर्थिक सुरक्षा सिफारिश में संरक्षित जोखिमों में से एक जोखिम बेकारी था। इसमें १९३४ के कन्वेंशन और सिफारिश के सुझावों का समावेश है। इसमें अधिक चीज यह है कि लाभ पाने के अधिकतम अवधि को, और साथ ही कर्मचारी को, यदि कुछ महीनों में पुनः बेकार होना पड़े, तो उसके लिए नये प्रतीक्षा काल को समाप्त कर दिया है। इसमें अकेले व्यक्ति के लिये, पूर्व आय का कम से कम ४० प्रतिशत, उसकी स्त्री उस पर आश्रित होने की दशा में ६० प्रतिशत, तथा दो बच्चों तक १० प्रतिशत अतिरिक्त लाभ की रकम मिलनी चाहिए। निस्संदेह, इस दिशा में आर्थिक सुरक्षा सिफारिश अन्य सब पहले अन्तर्राष्ट्रीय मानों से आगे है।

१९४८ के रोजगार सेवा संगठन कन्वेंशन और सिफारिश ने पुनः इस दिशा में कुछ संशोधन पेश किये। १९४९ में फीस लेनेवाली एजेंसियों के कन्वेंशनों ने एजेंसियों को समाप्त करने के स्थान पर उनके नियमन और नियन्त्रण का पक्ष लिया। यद्यपि १९३३ के इस विषयक कन्वेंशन में उनकी समाप्ति की व्यवस्था थी। इसके अतिरिक्त, १९३६ और १९३९ के अमरीकी राज्यों के प्रथम और द्वितीय श्रम सम्मेलन में यथासंभव बेकारी बीमा को अधिक से अधिक जनसंख्या के लिए अनिवार्य बनाने की सिफारिश की गई।

भारत में बेकारी

विस्तार का अनुमान कठिन. इससे सभी सहमत हैं कि आज भारत में पर्याप्त संख्या में लोग बेकार और एक बड़ी संख्या में रोजगार में अपूर्णतया लगे हुए (under-employed) हैं। गावों और शहरों में पर्याप्त संख्या में ऐसे लोग हैं जो काम करना चाहते हैं पर उन्हें काम नहीं मिलता। शिक्षित लोगों में तो यह अवस्था और भी जोर पकड़ती जा रही है और उनकी बेकारी एक विकट सामाजिक समस्या के रूप में हमारे सामने आ रही है। बहुत अंशों में हमारी अनियोजित (Unplanned) शिक्षा व्यवस्था इसके लिये उत्तरदायी है। बाजार में विभिन्न प्रकार के श्रम की मांग और उसकी पूर्ति के बीच कोई सामंजस्य, सम्पर्क और सम्बन्ध नहीं है।

गांवों में यह स्थिति है कि जो लोग काम में लगे हुए हैं वह बहुत समय तक प्रायः बेकार रहते हैं। बेकार समय और व्यक्तियों को किसी उद्योग धंधे में लगाने की वहां पर कोई निश्चित व्यवस्था नहीं है। इस प्रकार कुल कितने व्यक्ति

भारत में बेकार या अपूर्णतया रोजगार में लगे हुए हैं, इसके कोई आंकड़े तो हमें उपलब्ध नहीं हैं। हाल में प्लानिंग कमीशन इस दिशा में आंकड़े संकलित करने का प्रयास कर रहा है। कुछ लोगों का अनुमान है कि हमारे यहां बेकारों और अर्धबेकारों की संख्या पांच करोड़ से कम नहीं है।

विद्यमान बेकारी का कैसे नाश किया जाय तथा अपूर्णतया रोजगार में लगे हुए लोगों को कैसे सब समय काम में लगाया जाये, यह एक महत्त्वपूर्ण प्रश्न है। इस प्रकार केवल बेकार या अर्ध-बेकार लोगों को ही कठोर कष्टों और कठिनाइयों का सामना नहीं करना पड़ रहा है, बल्कि उनकी बड़ी श्रम शक्ति सदा के लिये बिना प्रयोग के नष्ट हुई जा रही है। श्रम ही ऐसी शक्ति है जिससे किसी देश की सम्पत्ति और पूंजी का निर्माण होता है और श्रम की यह विशेषता है कि उसे नष्ट होने पर पुनः प्राप्त नहीं किया जा सकता।

इससे पहले भारत में फैली बेकारी का उपाय ढूंढ़े, हमें रोजगार को प्रभावित करनेवाले कारणों का परिचय आवश्यक है।

रोजगार को प्रभावित करनेवाले तत्त्व

राज्य की रोजगार नीति का प्रभाव. किसी देश में बेकारी के परिमाण और विस्तार और उससे उत्पन्न समस्याओं पर राज्य की रोजगार नीति का प्रबल प्रभाव पड़ता है। एक बुद्धिमत्ता और दूरदर्शितापूर्ण सरकारी रोजगार नीति बेकारी का समूल नाश कर सकती है, जैसा कि सोवियत रूस में हुआ। किन्तु रोजगार नीति निर्धारित करते समय अनेक पहलुओं जैसे कि उद्योगीकरण का विस्तार, सार्वजनिक निर्माण योजना, मूल्य स्तर का उतार चढ़ाव, आयात-निर्यात, राजस्व, सार्वजनिक व्यय, इत्यादि का ध्यान में रखना जरूरी है।

इनमें सबसे महत्त्वपूर्ण है श्रम की मांग और उसकी पूर्ति का ठीक-ठीक संतुलन है। इसी प्रसंग में पूर्ण रोजगार (Full Employment) नीति का विवेचन भी आवश्यक है।

पूर्ण रोजगार नीति. पूर्ण रोजगार नीति आज की आर्थिक नीति का एक स्वीकृत नारा और लक्ष्य बन चुकी है। इसकी सफलता का, यद्यपि सामाजिक सुरक्षा से सीधा कोई सम्बन्ध नहीं है, फिर भी देश की सामान्य आर्थिक अवस्था पर प्रभाव डाल कर वह परोक्षरूप से इस पर प्रभाव डालती है। पूर्ण रोजगार का अर्थ समस्त प्रकार की बेकारी का सम्पूर्ण विनाश नहीं है। इसका अर्थ केवल अनिच्छित बेकारी की समाप्ति है। एक काम को छोड़ दूसरे काम पर जाने में कुछ समय लगता है, और इस प्रकार कुछ अनिवार्य अल्पकालीन बेकारी होती

है जिसे 'घर्षणात्मक (frictional) बेकारी कहते हैं। इस प्रकार की बेकारी तो सदा बनी रहेगी।

पूर्ण रोजगार प्राप्ति की तीन शर्तें--पर्याप्त व्यय, उद्योगों की स्थिति का नियंत्रण, श्रम की संगठित गतिशीलता. लार्ड बेवरिज ने अपनी प्रसिद्ध रिपोर्ट 'स्वाधीन समाज में पूर्ण रोजगार' में पूर्ण रोजगार के लिये तीन आवश्यक शर्तें बतायी हैं। उसमें पहली है, सब समय उत्पादन कार्य में पर्याप्त व्यय। वास्तव में जब कि धन को उत्पादन कार्य में लगाया जाता है, तभी लोगों को काम पर लगाने की आवश्यकता पड़ती है। मशीनों की मांग होती है। उन्हें बनाने के लिये मजदूरों की आवश्यकता होती है। पुनः उन मजदूरों की आवश्यकताओं की पूर्ति के लिये विभिन्न वस्तुओं के उत्पादन की जरूरत होती है, और अन्ततोगत्वा पुनः मजदूरों की जरूरत होती है। इस प्रकार यह चक्र चलता जाता है। इस प्रक्रिया को रोजगार गुणक (multiplier) प्रभाव कहते हैं। दूसरी चीज है उद्योगों की स्थापना का नियंत्रण, अर्थात् अमुक उद्योग कहां पर स्थापित किया जाये? प्रायः देखा जाता है कि सभी जगह बेकारी एक ही अनुपात में नहीं पायी जाती। इसलिये यह आवश्यक हो जाता है कि उद्योगों को विभिन्न स्थानों में विस्तृत करने की कोशिश की जाये। तीसरे, यह भी देखा जाता है कि किसी देश में, जब कि एक प्रदेश में बेकारी होती है, अन्य प्रदेशों में कार्य मिल सकता है। ऐसी स्थिति में रोजगार पाने के लिये यह आवश्यक है कि मजदूर संगठित रूप में एक स्थान से दूसरे स्थान पर जाने को तैयार हों। उक्त तीनों चीजों के लिये अल्पाधिक मात्रा में एक प्रकार का दीर्घकालीन आयोजन आवश्यक है। इसके लिये कम से कम भारत में तो पहले कृषि और उद्योग का आयोजित विकास होना चाहिए। इसे संभव बनाने के लिये सामाजिक ढांचे में भी आवश्यक परिवर्तन करने होंगे। उद्योगों को कुछ स्थानों में केन्द्रित करने के बजाय, समस्त देश में यथासंभव विस्तृत करने की कोशिश की जाये, और अंत में इसके साथ-साथ एक शिक्षित, स्थाई औद्योगिक मजदूर वर्ग का निर्माण किया जाय।

हमारी रोजगार नीति उसमें दृढ़ता का अभाव. संक्षेप में भारत की विद्यमान रोजगार नीति, उसके गुण-दोषों और कठिनाइयों की विवेचना भी आवश्यक है। पिछले बारह-तेरह सालों में भारत सरकार द्वारा बराबर अपनी रोजगार नीति को एक निश्चित रूप और दिशा देने की कोशिश हुई है। १९४१ में भारत सरकार ने उद्योगों के युद्धोपरांत पुनर्निर्माण की समस्या पर विचार करने के लिए एक अन्तर्विभाग समिति का निर्माण किया था। १९४३ में इसका

स्थान वायसराय की कार्यकारिणी कौंसिल ने ले लिया तथा युद्ध द्वारा बेकार लोगों के बसाने और रोजगार दिलाने के लिये विभिन्न नीति समितियों का निर्माण हुआ। इन सब समितियों के कार्य का निष्कर्ष सरकार द्वारा १९४४ में प्रकाशित पुर्ननिर्माण आयोजन की दो रिपोर्टें थीं। इसमें 'सम्पूर्ण रूप से जनता के रहन-सहन के दर्जे में उन्नति और सबों को रोजगार' आयोजन का अंतिम लक्ष्य बताया गया तथा जनता की क्रय शक्ति बढ़ाने और साथ ही साथ कृषि और उद्योगों के पुनर्संगठन पर भी जोर दिया गया। १९४६ में राष्ट्रीय सरकार ने एक सलाहकार आयोजन बोर्ड की स्थापना की। १९५० में प्लानिंग कमीशन की स्थापना हुई। इसका कार्य एक निश्चित रोजगार नीति प्रस्तुत करना तथा उसे व्यावहारिक रूप देने के लिये सुझाव देना था। प्लानिंग कमीशन की १९५३ में प्रकाशित अंतिम रिपोर्ट में 'पूर्ण रोजगार' के लक्ष्य को स्वीकार किया गया है। लेकिन उसे कार्यान्वित करने के जो साधन उसमें सुझाये गए हैं तथा सरकार द्वारा व्यवहार में लाये जा रहे हैं, उससे इस विषय में बहुत संदेह है कि हम कहां तक पूर्ण रोजगार की ओर पहुंचने में सफल होंगे। भारत जैसे अविकसित देश में केवल पूर्ण रोजगार की प्राप्ति से ही राष्ट्रीय आय में विशेष वृद्धि नहीं हो सकती, उसके साथ-साथ टेक्नीकल उन्नति अत्यावश्यक है। अतः पूर्ण रोजगार के साथ-साथ एक बुनियादी समस्या अपूर्ण रोजगार (under-employment) समाप्त करने की है।

मुद्राप्रसार (Inflation) **और अल्प पूंजी संचय** (Low Capital Formation) **पूर्ण रोजगार की सफलता में बड़ी बाधाएं.** अर्थ-व्यवस्था के अति अविकसित होने के अतिरिक्त, कुछ ऐसे संक्रमणकालीन (Transitional) पहलू भी हैं जो पूर्ण रोजगार की नीति के मार्ग में प्रबल बाधक हैं। उनमें सबसे महत्त्वपूर्ण विद्यमान मुद्राप्रसार है। सामान्यतः, मुद्राप्रसार पूर्ण रोजगार की अवस्था का सूचक होता है। ऐसी स्थिति में घाटा-व्यय (Deficit Spending), अर्थात् सरकार द्वारा अपनी आय से अधिक व्यय करने का परिणाम, केवल मुद्रा प्रसार में अधिक वृद्धि ही होगा। रोजगार की वृद्धि में उससे कोई सहायता नहीं मिलेगी।

मुद्राप्रसार के अतिरिक्त, एक अन्य अस्थाई कारण जो हमारे यहां रोजगार के परिमाण पर बुरा असर डालता है, वह है पूंजी संचय की अल्प दर। इसके साथ ही एक और चीज है उपभोग (Consumption) की कमी। वास्तव में देश में अल्प उत्पादन और अधिक कीमतों पर उपभोग हो रहा है। ऐसी स्थिति में देश को राज्य द्वारा अतिरिक्त व्यय की आवश्यकता नहीं,

प्रत्युत् उत्पादन में धन लगाने को प्रोत्साहन देने की आवश्यकता है।

सरकार की संतुलन नीति. घोषणाएं चाहे कुछ भी कहें, व्यवहार में सरकार ऐसी आर्थिक-नीति का अनुसरण कर रही है जिसे कदापि भी 'पूर्ण रोजगार' के लिये सार्थक नहीं कहा जा सकता। उदाहरणार्थ, एक ओर संघ और राज्य सरकारें अपने बजटों में परोक्ष करों को बढ़ा रही हैं। इसका सीधा परिणाम, व्यक्तियों के उपभोग में कमी होगा। स्वभावतः, इससे रोजगार की वृद्धि में बाधा पड़ेगी। दूसरी ओर सरकार पूंजीपतियों को कर के संबंध में किसी प्रकार की छूट नहीं दे रही है जिससे कि उन्हें उत्पादन में धन लगाने का प्रोत्साहन हो और न ही गृह-उद्योगों का राष्ट्रीयकरण कर उत्पादन के बढ़ाने का कार्य अपने हाथों में ले रही है। और फिर, इसके साथ मुद्राप्रसार के दोषों को कम करने के प्रयत्नों, जैसे लाभांश नियमन या मूल्य नियंत्रण का प्रभाव भी अनायास रोजगार पर बुरा पड़ रहा है। इससे व्यक्तिगत उपभोग में कमी होती है। इस प्रकार मुद्रा प्रसार विरोधी नीति और पूर्ण रोजगार की नीति में आपस में विरोध हो रहा है। सरकार दोनों के संतुलन के प्रयास में दोनों समस्याओं का संतोषजनक समाधान नहीं कर पा रही है।

पूंजीपतियों पर एकांत निर्भरता. पूर्ण रोजगार नीति के मार्ग में अन्य महत्त्वपूर्ण बाधा हमारे समाज के आर्थिक संगठन से संबंध रखती है। हमारे देश में किन्हीं उद्योगों में धन का लगाना पूंजीपतियों के ऊपर निर्भर है। ऐसी स्थिति में जब तक कि स्वयं पूंजीपति उद्यत न हों, केवल सरकार द्वारा, उद्योगों में धन नहीं लगाया जा सकता, और परिणामतः, रोजगार में वृद्धि नहीं की जा सकती। यदि धन लगाना (Investment) सरकार के हाथ में होता तो वह रोजगार में इच्छानुसार परिवर्तन कर सकती थी।

रोजगार दिलाने में सरकारी प्रयत्न. उक्त विवेचन से यह स्पष्ट है कि पूर्ण रोजगार नीति को व्यावहारिक रूप प्रदान करने में, कम से कम भारत में, सरकार के सामने अनेक पारिस्थितिक और बुनियादी कठिनाइयां हैं। इसलिये रोजगार पैदा करने की दिशा में तो उसकी सामर्थ्य और सफलता बहुत ही सीमित है; किंतु प्राप्त रोजगार को दिलवाने की दिशा में उसने अवश्य कुछ उपयोगी कार्य किया है। संक्षेप में उसका विवरण देना अप्रासंगिक न होगा।

बसाने और रोजगार का डायरेक्ट्रेट-जनरल. रोजगार के संबंध में सरकारी प्रयत्नों का परिचय हमें बसाने और रोजगार दिलाने की डायरेक्ट्रेट के विचार किया गया। अभी तक इस संबंध में अन्तर्राष्ट्रीय श्रम सम्मेलन द्वारा पांच कन्वेंशन और तीन सिफारिशें स्वीकृत हुई हैं। यह कन्वेंशन और सिफारिशें

कार्यों से मिलता है। रोजगार विनिमय सेवा (Exchange Service) की स्थापना की आवश्यकता यों तो पहले-पहल प्रथम महायुद्ध के बाद हुई छटनी (Demobilisation) के समय उपस्थित हुई थी, पर उस समय इस दिशा में कुछ नहीं किया जा सका। द्वितीय महायुद्ध के पश्चात्, पुनः इसकी आवश्यकता अनुभव की गई और १९४५ में सरकार ने बसाने और रोजगार के डायरेक्टरेट-जनरल की स्थापना की। यों तो १९४३–४४ में ९ रोजगार दफ्तरों के कायम हो जाने से इसका काम शुरू हो गया था।

पिछले आठ सालों से इस संगठन में पर्याप्त विस्तार हुआ है और इसका कार्य सारे देश में फैल गया है। इस समय इसकी तीन शाखाएं हैं—(१) रोजगार दफ्तरों की डायरेक्ट्रेट; (२) ट्रेनिंग की डायरेक्ट्रेट और (३) प्रचार (Publicity) की डायरेक्ट्रेट। सारा देश आठ प्रदेशों में बंटा हुआ है और प्रत्येक प्रदेश बसाने और रोजगार के प्रादेशिक (Regional) डायरेक्टरों के नीचे है।

रोजगार एक्सचेंज की डायरेक्ट्रेट. तीन डायरेक्ट्रेटों में से रोजगार दफ्तरों की डायरेक्ट्रेट सबसे प्रमुख है। वास्तव में इसके द्वारा किये गये कार्य ही बसाने और रोजगार दिलाने की डायरेक्ट्रेट-जनरल के प्रधान कार्य हैं। रोजगार दफ्तर डायरेक्ट्रेट, विभिन्न रोजगार दफ्तरों के कार्यों का निरीक्षण, एकीकरण और संचालन करती है। छंटनी होनेवालों और उनके लिये संभावित रोजगार प्राप्ति के अवसरों के आंकड़े और सूचनाएं रखती तथा रोजगार दफ्तरों के स्टाफ की ट्रेनिंग का प्रबन्ध करती है। प्रत्येक प्रादेशिक रोजगार दफ्तर के नीचे विभिन्न जिलों में उसकी शाखायें होती हैं, जहां पर बेकारों को अपना नाम रजिस्टर कराने का प्रबन्ध होता है। यहां पर मालिक, जिन्हें विभिन्न प्रकार के कर्मचारियों की जरूरत होती है, अपनी आवश्यकताएं रजिस्टर कराते हैं। रोजगार दफ्तर के पास रजिस्टर्ड उम्मीदवार की योग्यता, अनुभव आदि का लेखा रहता है, जिसकी सहायता से वह मालिकों को उनकी सिफारिश करते हैं। स्त्रियों को रोजगार दिलाने का काम स्त्री विभाग करता है। संक्षेप में, काम चाहनेवालों बेकारों और काम देने वाले मालिकों के बीच सम्पर्क स्थापित करना रोजगार दफ्तरों का मुख्य कार्य है।

वर्तमान विस्तार. इस समय सारे देश में कुल ५४ रोजगार एक्सचेंज हैं। इसके अलावा २२ जिला रोजगार दफ्तर और १३२ रोजगार सूचना ब्यूरो और २१ चलते-फिरते सेक्शन हैं।

अत्यन्त सीमित क्षेत्र. रोजगार एक्सचेंज के कार्यों का अनुमान लगाने के

लिये उनके द्वारा कितने लोगों को काम दिलाया गया यह जानना जरूरी है। १९४८ में प्रति मास औसतन ८८,००० लोगों ने रोजगार दफ्तरों में अपने नाम दर्ज कराये तथा उनमें से औसतन २१,४०१ आदमियों को काम मिला तथा रजिस्टर में रहनेवाले उम्मीदवारों की संख्या २,९३,०४४ रही; १९५१ में यह संख्या ३ लाख से ऊपर हो गई। इस संबंध में एक बात याद रखनी चाहिए कि हमारे देश में अधिकांश जनता निरक्षर, अज्ञानी तथा सुविधाएं न होने के कारण अपने नाम रोजगार दफ्तरों में रजिस्टर नहीं कराती। इस प्रकार रजिस्टर हुए लोगों की संख्या से बेकारी का कोई अनुमान नहीं लगाया जा सकता। इसके अलावा, जितने लोग रोजगार दफ्तरों में अपने नाम रजिस्टर कराते हैं उनमें से तीन चौथाई लोगों को काम नहीं मिल पाता। इस प्रकार भारत में रोजगार सेवा का विस्तार और कार्य अभी बहुत ही सीमित है। इसके अतिरिक्त, ट्रेनिंग डायरेक्टर की विभिन्न शिक्षण योजनाएं भी रोजगार पर परोक्ष प्रभाव ही डालती हैं।

बढ़ता व्यय. बसाने और रोजगार दिलाने के विभाग का व्यय निरन्तर बढ़ता जा रहा है। पाकिस्तान से कई लाख विस्थापित (Displaced) व्यक्तियों के आ जाने के कारण इसका व्यय और भी बढ़ गया है। अनुमान लगाया गया है कि एक व्यक्ति को काम दिलाने में रोजगार विभाग को औसतन १४ रु० खर्च करने पड़ते हैं। कुछ लोगों का कहना है कि यदि यह रुपया देश के औद्योगिक विकास में लगाया जाता तो उससे रोजगार की अधिक वृद्धि होती। रोजगार दफ्तर रोजगार पैदा नहीं कर सकते। केवल रोजगार दफ्तरों के खोलने से बेकारी की समस्या हल नहीं हो जाती।

रोजगार एक्सचेंजों का भविष्य. अनेक कठिनाइयों के कारण रोजगार एक्सचेंज विशेष सफलता प्राप्त नहीं कर पाये हैं, फिर भी रोजगार एक्सचेंजों की आवश्यकता और उपयोगिता से इनकार नहीं किया जा सकता। सुविकसित रोजगार एक्सचेंज बेकारी बीमा व्यवस्था में महत्त्वपूर्ण पार्ट अदा करते हैं। १९४८ के कर्मचारी राज्य बीमा योजना के विस्तृत होने पर बेकारी बीमा विभाग से बसाने और रोजगार के विभाग का मेल उपयोगी सिद्ध हो सकता है।

सरकार बेकरी के समाधान में असमर्थ. उक्त विवेचना से यह स्पष्ट है कि सरकार बेकारी की समस्या को सुलझाने में समर्थ नहीं हो सकी है। इसका प्रधान कारण उन बुनियादी तत्त्वों और विचित्र वर्तमान परिस्थितियों में निहित है, जो उसे पूर्ण रोजगार की ओर बढ़ने की ओर से रोकती हैं। जो भी हो, बेकारी ऐसी समस्या है जिसके समाधान को थोड़े समय के लिए भी स्थगित

नहीं किया जा सकता। बेकारी केवल खाली बैठने की ही समस्या नहीं है, उसके भयानक सामाजिक परिणाम हैं। वह गरीबी और भुखमरी की ओर प्रेरित कर व्यभिचार, अपराध, रोगों और गन्दगी की ओर अग्रसर करती है। संक्षेप में, बेकारी सामाजिक पतन और विघटन का सबसे प्रमुख कारण है। इसके अलावा बेकारी एक भीषण आर्थिक समस्या है। आज की योग्यता के स्तर पर भी भारत जैसे देश में बेकारी के कारण कम से कम १००० करोड़ रुपये वार्षिक की हानि होती है।

शीघ्र समाधान आवश्यक. इस सबको देखते हुए यह परमावश्यक है कि हम बेकारी की समस्या के शीघ्र से शीघ्र समाधान का उपाय निकालें। यों तो भारत की प्रथम पंचवर्षीय योजना में भी, पूर्ण रोजगार के लक्ष्य को सामने रखा तथा उसकी समाप्ति का आश्वासन दिलाया गया है, पर वर्तमान आर्थिक ढांचे को देखते हुए उसकी सफलता की विशेष आशा नहीं की जा सकती। फिर, जैसा कि हम पहले कह चुके हैं, समस्या केवल वर्तमान उत्पादनक्षमता के स्तर पर पूर्ण रोजगार दिला देने भर की ही नहीं है, बल्कि अल्प-रोजगार(under-employment) को समाप्त करने की भी है। इसके लिए उत्पादन-क्षमता में उन्नति अनिवार्य है। उत्पादनक्षमता की उन्नति और बेकारों को काम दिलाने के लिए बड़े पैमाने पर उत्पादन कार्यों में धन का लगाना (investment) आवश्यक है। इस कार्य के लिए पंचवर्षीय योजना में प्रस्तावित पांच साल में २००० करोड़ रुपए रकम बहुत ही कम है; उसमें पर्याप्त वृद्धि आवश्यक है।

नाविकों के लिये सामाजिक सुरक्षा

नाविकों (seafarers) के लिए पृथक् और विशेष सुरक्षा व्यवस्था की आवश्यकता. समुद्री जहाजों पर काम करनेवाले नाविकों का कार्य और उसकी अवस्था अन्य धंधों में काम करनेवाले लोगों से पर्याप्त पृथक् और अधिक जोखिम पूर्ण होती है। उन्हें चौबीस घंटे अपने कार्य करने के स्थान पर रहना पड़ता है तथा सुदूर देशों में यात्रा करनी पड़ती है। उनके लिए हर समय जहाज डूबने का भी खतरा रहता है। परिणामतः, उनकी सुरक्षा की समस्याओं पर पृथक् रूप से विचार करना आवश्यक हो जाता है। इसीलिये अन्तर्राष्ट्रीय श्रम सम्मेलन ने नाविकों की सुरक्षा पर पृथक् रूप से विचार करने की परिपाटी को अपनाया है।

१९२० में प्रथम समुद्री (Marine) सम्मेलन हुआ जहां पर नाविकों के लिए सामाजिक सुरक्षा पर पृथक् रूप से विचार करने की संभावना पर

१९२०, १९३६ और १९४६ के तीन समुद्री अधिवेशनों में स्वीकार हुई हैं। १९४६ के एक कन्वेंशन में और दो सिफारिशों में सब जोखिमों के लिए एक युक्त व्यवस्था की गई है।

भारत में नाविकों के लिए सामाजिक सुरक्षा

भारत ने उपर्युक्त किसी भी कन्वेंशन और सिफारिश पर हस्ताक्षर नहीं किये हैं। वास्तव में बहुत हाल ही में १९४५ से हमारा ध्यान नाविकों की सुरक्षा की ओर आकर्षित हुआ है। समुद्री जहाजों में काम करनेवाले नाविकों की संख्या लगभग ६५,००० है। इनमें से प्रायः ८५ प्रतिशत, अर्थात् ५५,००० विदेशी जहाजों में काम करते हैं। विदेशी जहाजों में काम करनेवाले भारतीय नाविकों को उस देश के बीमा में स्थान नहीं मिलता। अधिकांश भारतीय नाविक अंग्रेजी जहाजों में काम करते हैं। इकरारनामे के अनुसार उन्हें मालिक के खर्चे पर डाक्टरी देख-रेख, गुजारे और अपने देश भेजे जाने (Repatriation) का अधिकार प्राप्त है। मृत्यु की दशा में अन्त्येष्टि का खर्चा देने का दायित्व भी मालिक का है। भारतीय मजदूर मुआवजा कानून के अन्तर्गत नाविक को मुआवजा पाने का अधिकार है। स्वैच्छिक एग्रीमेंट के आधार पर भारतीय नाविकों को स्वदेश लौटने तक सारे दिनों का, जब तक वह बाहर रहा है, वेतन मिलता है, यद्यपि व्यापारी जहाजरानी अधिनियम (Merchant Shipping Act) के अन्तर्गत नाविक के तट पर छोड़े जाने पर वह बन्द हो जाता है।

बावजूद इन व्यवस्थाओं के, भारतीय नाविकों के लिए सामाजिक बीमा योजना की बड़ी आवश्यकता है। पहले तो जो सुख-सुविधाएं उन्हें मिलती भी हैं, वह स्वैच्छिक समझौते का परिणाम है। उनकी कोई कानूनी पाबन्दी नहीं है, जब कि उनमें बीमारी और बेकारी दोनों का ही बहुत जोर है और उनका वेतन बहुत थोड़ा है। न तो बीमारी और न ही बुढ़ापे के विरूद्ध उनका बीमा होता है। इसके अलावा, भर्ती होने के लिए उन्हें लम्बे समय तक बन्दरगाह पर अपने खर्चे पर, प्रायः उधार लेकर रहना पड़ता है। स्वदेश में किसी प्रकार की बीमा योजना के अभाव में, विदेशों से इस दिशा में कोई पारस्परिक प्रबन्ध भी नहीं हो सकता।

भारतीय नाविक ब्रिटिश फंड के लाभ से वंचित. इस संबंध में नाविकों के विशेष फंड का जिक्र भी आवश्यक है। अंग्रेजी जहाजों में जो लश्कर, अर्थात् भारतीय नाविक काम करते हैं, ब्रिटिश राष्ट्रीय स्वास्थ्य कानून के अंतर्गत उन्हें भी भागधेय (Contribution) देना पड़ता है। पर दुःख की बात यह है

कि नौकरी छोड़ने पर वह रकम उन्हें नहीं मिलती और उसका प्रयोग भी ब्रिटिश नाविकों के कल्याण के लिए होता है।

भारतीय नाविकों के लिए अदारकर-बौडमर की सामाजिक सुरक्षा योजना. युद्ध की समाप्ति के निकट नाविकों की सामाजिक सुरक्षा की योजना की ओर पहली बार भारत सरकार का ध्यान आकृष्ट हुआ। सितम्बर १९४५ में श्रम-सचिवालय के बी० पी० अदारकर ने सामाजिक बीमा की एक योजना तैयार की। शीघ्र ही अन्तर्राष्ट्रीय श्रम कार्यालय की ओर से डा० लौरा बौडमर उसमें संशोधन करने के लिए बुलाये गये। दिसम्बर १९४५ में बी०पी० अदारकर और बौडमर ने मिलकर सरकार के सम्मुख भारतीय नाविकों के सामाजिक बीमा की एक संयुक्त योजना पेश की। खेद की बात है कि उसे अमल में नही लाया गया। इसमें संदेह नहीं कि यह योजना भारतीय नाविकों की सामाजिक सुरक्षा की सही बुनियाद बन सकती है। अतः इसका संक्षिप्त परिचय आवश्यक है।

अदारकर-बौडमर योजना दो भागों में बंटी हुई है :—(१) जहाज-मालिक का दायित्व, (२) नाविकों का सामाजिक बीमा।

(१) **मालिक का दायित्व.** भारत में रजिस्टर हुए जहाजों के मालिक तथा अन्य जहाजों के मालिक को जो कि योजना के अन्तर्गत आनेवाले नाविकों को काम पर रखते हैं, जब तक नाविक उस बन्दरगाह पर नही लौट आता जहां उसकी भर्ती हुई है, बीमारी और असमर्थता की अवस्था में डाक्टरी देख-रेख, भरण-पोषण व्यय और मजदूरी देने के लिए बाध्य है। चिकित्सा के लिये, जहाज में १०० से अधिक आदमी होने की दशा में, एक योग्यताप्राप्त डाक्टर तथा २,५०० टन से अधिक होने की दशा में, एक अस्पताल होने की व्यवस्था है। अन्य जहाजों में जिनमें योग्यताप्राप्त डाक्टर नहीं होते, प्राथमिक चिकित्सा और दवाओं का प्रवन्ध होना चाहिए। मृत्यु हो जाने की दशा में, अन्त्येष्टि व्यय भी उसे ही उठाना होगा। भारतीय ब्रिटिश तथा अन्य विदेशी सरकारों के बीच दोतरफा समझौते द्वारा इस संबंध में समझौते होने चाहिये।

(२) **नाविकों का सामाजिक बीमा.** अदारकर-बौडमर योजना के सामाजिक सुरक्षा अंश में बीमारी, असमर्थता, रोग और रोजगार में हुई हानि, मृत्यु, बेकारी और बुढ़ापे के विरुद्ध सामाजिक बीमा की व्यवस्था है। इन जोखिमों के विरुद्ध वह एक संयुक्त योजना है। इसमें नकद तथा डाक्टरी दोनों लाभों की व्यवस्था है।

अदारकर-बौडमर योजना में प्रस्तावित लाभों की दर निम्न है :—

(१) अस्थाई रोजगार हानि (injury) की दशा में अस्पताल में

रहनेवाले लाभ पानेवालों के लिए पूरी दर पर, अस्पताल में मुफ्त डाक्टरी रक्षा पानेवाले नाविकों के लिये एक तिहाई दर पर लाभ पाने की व्यवस्था है पूरी दर बुनियादी आय का दो तिहाई है।

पूर्ण अस्थाई असमर्थता के लिये लाभ की दर बुनियादी आय का ५० प्रतिशत रखी गई है। आंशिक स्थाई असमर्थता के लिये, पूर्ण असमर्थता के लिये प्राप्त लाभ में से हानिजन्य अर्जन क्षमता के कम होने के अनुपात में उसे कम कर; बाकी लाभ देने की व्यवस्था है।

(२) रोजगार की हानि से न होनेवाली असमर्थता के लिये, यदि नाविक चार मास तक अपने भागदेय (contribution) दे चुका है, उस अवस्था में १३ सप्ताह तक पूरी दर से रोग में मिलनेवाला नकद लाभ मिलेगा। योग्यता का पूरा न कर सकने अथवा अस्पताल में रहने तक इस लाभ की दर में कमी की जा सकती है।

(३) रोजगार में हानि द्वारा मृत्यु हो जाने की दशा में, आश्रित विधवा को पूर्ण असमर्थता नकद-दर का २/५ तथा १४ वर्ष से कम आयुवाले प्रत्येक आश्रित बच्चे के लिये, इस लाभ का १/५ अंश देने की व्यवस्था है। समस्त बच्चों के लिये इसकी अधिकतम रकम पूरी दर का ३/५ हो सकती है।

(४) रोज़गार के लिये प्राप्त होने की दशा में, जो नाविक चार महीने तक भागदेय दे चुका है, उसे प्रतीक्षा वेतन (waiting pay) पाने का हक है।

(५) बुढ़ापे में पेंशन पाने के लिये नाविक द्वारा कम से कम १० वर्ष की सेवा तथा ५५ वर्ष की आयु का होना जरूरी है। उसके लाभ की दर, सेवा के प्रत्येक साल, जिसमें उसने भागदेय दिये हैं, उनमें उसकी बुनियादी आय की १/२ प्रतिशत रखी गई है।

(६) भागदेयों (contributions) की पुनःप्राप्ति (refund) और आश्रितों के लाभ के लिये ५ से १० साल का सेवाकाल जरूरी है। यह पुनःप्राप्ति जहाज के मालिक द्वारा दिये गये भागों का आधा होगी। यदि एक नाविक का सेवाकाल ५ साल से कम है, और ५५ साल की आयु से पहले ही उसकी मृत्यु हो जाती है, तो उसके आश्रितों को उपर्युक्त तरीके से भागदेयों की रकम की पुनः प्राप्ति का अधिकार है।

वित्तीय (financial) पहलू और शासन (administration). योजना के लिये आवश्यक धन जुटाने का मुख्य अंश जहाज मालिकों और नाविकों से प्राप्त होगा तथा उसे सरकारी सहायता भी प्राप्त होगी। रोजगार हानि के लिये एकांततः मालिक को ही भागदेय (contribution) देने होंगे।

योजना के शासन और घाटे का भार केन्द्रीय सरकार तथा डाक्टरी रक्षा का ३३ प्रतिशत व्यय राज्य सरकारें उठायेंगी। शासन के लिये त्रिदली आधार तथा औद्योगिक कार्यकर्ताओं की सामान्य बीमा योजना का अंग होने की सिफारिश की गई।

भर्ती की पद्धति का पुनर्संगठन तथा नौशक्ति का विस्तार. नाविकों की सामाजिक सुरक्षा की उक्त योजना के लिये नाविकों को भर्ती करने के वर्तमान तरीकों में परिवर्तन होना जरूरी है। आज स्थिति यह है कि रोजगार के लिये नाविकों की मांग की तुलना में उनकी पूर्ति कहीं अधिक है। यह अनुमान लगाया जाता है कि ५०,००० नाविकों की जगह ३,००,००० नाविक उपलब्ध हैं। इस स्थिति ने भ्रष्टाचार और कर्जदारी को जन्म दिया है। इसे देखते हुए यह कहा जा सकता है कि बिना अपनी जहाजरानी में पर्याप्त विस्तार किये हम इस बेकारी की समस्या का समाधान नहीं कर सकते।

नाविकों का अन्तर्राष्ट्रीय सामाजिक सुरक्षा या चार्टर और उसकी आदर्श योजना. अन्तर्राष्ट्रीय श्रम संगठन ने भी नाविक की सामाजिक सुरक्षा की रिपोर्ट में नाविकों के लिये एक अन्तर्राष्ट्रीय सुरक्षा चार्टर बनाने की आवश्यकता पर ज़ोर दिया है। साथ ही उसमें नाविकों की सामाजिक सुरक्षा की एक आदर्श योजना भी दी गई है तथा उसमें अन्तर्राष्ट्रीय समुद्री अफसरों की एसोसियेशन द्वारा प्रस्तावित लाभ-दरों को अपनाया गया है। यह दरें राष्ट्रीय योजनाओं में प्रस्तावित दरों से कहीं उदार हैं। इससे पहले कि भारत इन्हें अपनाने का प्रयत्न करे, उसके लिये राष्ट्रीय योजना की दरों का अपनाना उचित है। खेद का विषय है, कि भारत में अभी तक नाविकों के लिये सामाजिक सुरक्षा की कोई युक्तिसंगत योजना नहीं है। उन्हें जो कुछ भी अति सामान्य सुरक्षा प्राप्त है वह केवल भारतीय व्यापारिक जहाजरानी (Merchant Shipping) अधिनियम के अन्तर्गत है। संक्षेप में इसका परिचय आवश्यक है।

भारतीय व्यापारिक जहाजरानी अधिनियम १९२३ के अन्तर्गत प्राप्त सुरक्षा. यह अधिनियम बीमारी या हानि की अवस्था में जहाज के मालिकों के दायित्व की व्याख्या करता है। इसके अन्तर्गत यदि भारत में किसी रजिस्टर्ड जहाज़ का नाविक जहाज की सेवा में बीमार पड़ जाता है अथवा मर जाता है या जब तक अपने देश नहीं पहुंचा दिया जाता, तब तक उसकी आवश्यक चिकित्सा, शल्यक्रिया, अन्त्येष्टि क्रिया का सारा व्यय मालिक को उठाना होगा और इसके लिये वह उसके वेतन में से किसी प्रकार की कटौती नहीं कर सकेगा। इसके अलावा सब विदेश जानेवाले ब्रिटिश अथवा बाहर जानेवाले ३०० टन से अधिक वजनवाले

जहाजों में आवश्यक दवायें और यंत्र होने चाहिएं। घायल होने की दशा में उसे डाक्टरी सहायता और भरण-पोषण का अधिकार है। जहां पर लश्कर से इस बात का समझौता हो कि उसकी सेवा विदेश के किसी बन्दरगाह में समाप्त हो जायेगी वहां उसकी भर्ती अथवा भारत के किसी अन्य बन्दरगाह पर मुफ्त पहुंचाने का जहाज मालिक का दायित्व होगा। केवल जहाज में और रोजगार हानि के परिणामस्वरूप मरने पर ही, मालिक को अन्त्येष्टि व्यय देना होगा।

जहाज डूब जाने की अवस्था में उन्हें स्वदेश पहुंचाने के बाद एक महीने के अतिरिक्त वेतन पाने तथा करार पर हस्ताक्षर करने के बाद गैरकानूनी तरीके से अलग करने अथवा एक मास से पहले अलग करने की दशा में अर्जित वेतन के अतिरिक्त, एक मास का वेतन पाने की भी व्यवस्था है। उसमें प्रत्येक नाविक के लिए जहाज में ७२ घन फीट स्थान देने का भी आदेश है। अन्त में अधिनियमों में पीड़ित (distressed) नाविकों की एक श्रेणी को स्वीकार किया गया है जिसे विशेष व्यवस्थाओं के अनुसार भरण-पोषण व्यय और राहत पाने का अधिकार है।

अधिनियम की कमियां. बावजूद इन सब व्यवस्थाओं के, भारतीय व्यापारिक जहाजरानी अधिनियम १९३६ के (बीमारी और हानि) जहाज-मालिक दायित्व कन्वेन्शन की तुलना में बहुत पीछे हैं। अधिनियम में केवल रोजगार हानि का ही समावेश है तथा बीमारी को छोड़ दिया गया है। दूसरे, विभिन्न लाभों की अवधि को निश्चित रूप से निर्धारित नहीं किया गया है। भारतीय अधिनियम का तीसरा सबसे बड़ा दोष सामाजिक बीमा के सिद्धांत का न स्वीकार करना है।

नाविकों के अन्तर्राष्ट्रीय कन्वेन्शन तथा सिफारिशों के अध्ययन से हमें पता चलता है कि हमें अभी न्यूनतम अन्तर्राष्ट्रीय मानों के अपनाने में कितना आगे बढ़ना है। अदारकर-बौडमर योजना इस दिशा में एक स्तुत्य प्रयास है। भारतीय नाविकों की सुरक्षा के लिए इसकी स्वीकृति आवश्यक है।

परिशिष्ट

कर्मचारी-राज्य-बीमा अधिनियम १९४८–५१

(Employees' State Insurance Act 1948–51)

संयुक्त सामाजिक सुरक्षा की दिशा में प्रथम प्रयास. १९४८ का कर्मचारी-बीमा अधिनियम भारत में संयुक्त सामाजिक सुरक्षा की योजना की दिशा में पहला प्रयास है। निःसन्देह इसका क्षेत्र बहुत ही सीमित है, फिर भी हम कह सकते हैं कि सामाजिक सुरक्षा की भावी योजनाओं के लिए यह एक अच्छी शुरुआत है। संक्षेप में इस योजना की व्यवस्थाओं, सीमितताओं, विद्यमान कानूनों पर इसके प्रभाव तथा इस योजना को विस्तृत करने के लिए आवश्यक बातों का अध्ययन पर्याप्त उपयोगी सिद्ध होगा। पिछले पृष्ठों में हम कई स्थानों पर प्रसंग-वश इस योजना का हवाला दे चुके हैं। यहां पर हम समग्र रूप में उसकी रूप-रेखा देने का प्रयास करेंगे।

क्षेत्र. यह अधिनियम मौसमी कारखानों को छोड़ सभी बारहमासी कार-खानों में काम करनेवाले कर्मचारियों पर लागू होता है। इस अधिनियम में दी गयी परिभाषा के अनुसार क्लर्क, ठेकेदारों द्वारा लगाये गये और मजदूरी दिये गये बाहरी मजदूर, यहां तक कि, अस्थाई, थोड़ा समय काम करनेवाले तथा वेतनभोगी अप्रेंटिस और काम सीखनेवाले भी इसमें सम्मिलित हैं। मालिक के रिश्तेदार भी केवल रिश्तेदारी के आधार पर इससे बहिष्कृत नहीं हैं। इसका केवल एक अपवाद यह है कि ४०० रु० से अधिक वेतन पानेवाले कर्मचारी इसमें नहीं आते।

रक्षित जोखिम (covered risks) **बीमारी, मातृत्व** (maternity) **और रोजगार हानि.** (Unempoyment injury) योजना में केवल तीन जोखिमों के विरुद्ध सुरक्षा प्रदान की गयी है। वह हैं—बीमारी, मातृत्व और रोजगार में हुई हानि। एक सर्टीफाइड डाक्टर द्वारा बीमार प्रमाणित किये जाने पर ही कर्मचारी बीमारी लाभ प्राप्त कर सकता है।

शासन की तीन संस्थाएं. सामाजिक बीमारी योजना के संचालन के लिए

अधिनियम में तीन संस्थाओं की स्थापना की गयी है। (१) वह हैं : कर्मचारी राज्य बीमा कार्पोरेशन (२) कार्पोरेशन की स्थाई समिति (Standing Committee) तथा (३) चिकित्सा लाभ (Medical Benefits) कौंसिल।

कर्मचारी राज्य बीमा कार्पोरेशन. उक्त तीनों संस्थाओं में से कर्मचारी राज्य बीमा कार्पोरेशन सबसे प्रमुख संस्था है। योजना का शासन इसका मुख्य कार्य है। इसके अतिरिक्त, इसे अधिनियम द्वारा बीमा हुए व्यक्तियों के स्वास्थ्य और कल्याण तथा असमर्थ और घायल लोगों को पुनः बसाने और रोजगार दिलाने के कामों को भी प्रोत्साहित करने का अधिकार है। संक्षेप में, कार्पोरेशन को सामाजिक बीमा शासन की पार्लियामेंट कह सकते हैं।

स्थाई समिति. इस शासन की कार्यकारिणी (Executive) स्थाई समिति, जो कि कार्पोरेशन के सदस्यों द्वारा चुनी जाती है, कार्पोरेशन के स्टाफ की सहायता से योजना के कार्य का संचालन करती है।

चिकित्सा-लाभ कौंसिल. चिकित्सा-लाभ कौंसिल एक प्रकार की विशेषज्ञ संस्था है। इसका कार्य चिकित्सा-लाभों के लिए सर्टीफिकेट देना, चिकित्सा और परिचर्या इत्यादि से सम्बद्ध विषयों में सलाह देना है। आवश्यकता पड़ने पर शासन के विकेन्द्रीकरण के लिए कार्पोरेशन प्रादेशिक बोर्ड, स्थानीय समितियों और प्रादेशिक तथा स्थानीय चिकित्सा-लाभ कौंसिलों की स्थापना कर सकती है।

विभिन्न वर्गों का प्रतिनिधित्व. कार्पोरेशन, स्थाई समिति और चिकित्सा कौंसिल में विभिन्न संबंधित वर्गों, केन्द्रीय और राज्य सरकारों, कर्मचारियों, मालिकों, चिकित्सकों और केन्द्रीय विधान-सभा को निश्चित प्रतिनिधित्व दिया गया है। मोटे तौर पर केन्द्रीय और राज्य सरकारों को तीनों संस्थाओं में ५० प्रतिशत से अधिक प्रतिनिधित्व दिया गया है।

कर्मचारियों का अल्प प्रतिनिधित्व. आज यह प्रवृत्ति है कि सामाजिक बीमा के कोषों (funds) का संचालन सार्वजनिक अधिकारियों के निरीक्षण में स्वशासित संस्थाओं द्वारा किया जाये, जिनमें बीमा कराये हुए लोगों के अधिक से अधिक प्रतिनिधि हों। इसका यह अर्थ नहीं कि उसमें सरकार, मालिकों के प्रतिनिधि और चिकित्सक न हों। भारतीय अधिनियम इस दृष्टि से पर्याप्त पिछड़ा हुआ है। यहां पर कर्मचारियों को कार्पोरेशन और स्थाई समिति में केवल १६ प्रतिशत तथा चिकित्सा-लाभ कौंसिल में १४ प्रतिशत प्रतिनिधित्व दिया गया है।

वित्त (finance). कर्मचारी-राज्य-बीमा-कोष के व्यय को पूरा करने

के मुख्यतः तीन साधन होंगे : (१) मालिकों और कर्मचारियों के भागदेय (contribution), (२) केन्द्रीय और राज्य सरकारों से सहायता, (३) ग्रांट, दान इत्यादि। केन्द्रीय सरकार प्रथम पांच सालों के लिए शासन का दो तिहाई खर्च उठायेगी तथा राज्य सरकारें चिकित्सा लाभ की व्यवस्था करेंगी। इसके लिए एक तिहाई खर्चा वह देगी। अन्य सब खर्च कार्पोरेशन को भरना होगा।

भागदेयों (contribution) **की दर.** मालिकों द्वारा दिये जानेवाले भागदेयों की दर निम्न है :–

कर्मचारी समूह	कर्मचारी का भागदेय	मालिक का भागदेय	कुल भागदेय
	रु० आ० पा०	रु० आ० पा०	रु०आ०पा०
२ रु० दैनिक से कम पानेवाले	कुछ नहीं	०–७–०	०–७–०
१ रु० से अधिक पर १ रु० ८ आ० से कम	०–२–०	०–७–०	०–९–०
१ रु० ८ आ० से अधिक पर २ रु० से कम	०–४–०	०–८–०	०–१२–०
२ रु० से अधिक पर ३ रु० से कम	०–६–०	०–१२–०	१–२–०
३ रु० से अधिक पर ४ रु० से कम	०–८–०	१–०–०	१–८–०
४ रु० से अधिक पर ६ रु० से कम	०–११–०	१–६–०	२–१–०
६ रु० से अधिक पर ८ रु० से कम	०–१५–०	१–१४–०	२–१३–०
८ रु० से अधिक पर १५ रु० से कम	१–४–०	२–८–०	३–१२–०

उक्त तालिका से स्पष्ट है कि औसत दैनिक आय के आधार पर कर्मचारी ८ समूहों में विभक्त हैं। १ रु० से कम मजदूरी पानेवाले कर्मचारियों को कोई भागदेय नहीं देना पड़ता। यह व्यवस्था इस दृष्टि से ठीक है कि बहुत कम आय वाले समूह के लिये भागदेय देना संभव नहीं। एक बात और द्रष्टव्य है कि मालिकों का भागदेय कर्मचारियों की तुलना में, पहले समूह को छोड़, पूरा दुगना है। यह इस आधार पर ही है कि इससे पहले मातृत्व-लाभ और मजदूर-मुआवजे का दायित्व एकांततः मालिक का ही था।

लाभ (Benefits). इन भागदेयों की एवज में कर्मचारी इन लाभों के अधिकारी हैं : (१) बीमारी-लाभ, (२) मातृत्व-लाभ, (३) असमर्थता लाभ, (४) आश्रितों के लाभ, और (५) चिकित्सा-लाभ।

बीमारी (Sickness) **लाभ की शर्तें और दर.** विधिवत् नियुक्त डाक्टर से प्रमाणित होने पर कर्मचारी अधिक से अधिक ३६५ दिन के निरन्तर काल

में ५६ दिन नकद बीमारी लाभ पाने का अधिकारी है, बशर्ते कि वह कम से कम १२ भागदेय दे चुका है। बीमारी लाभ की दर औसत दैनिक आय की आधी रकम है।

मातृत्व (Maternity) **काल की शर्तें और दर.** गर्भवती स्त्री को प्रसव से छः सप्ताह पहले और ६ सप्ताह बाद तक, १२ आने प्रतिदिन के हिसाब से मातृत्व लाभ देने की व्यवस्था है। इसके लिए कम से कम १२ भागदेयों, जिनमें एक भागदेय ३५वें या ४०वें सप्ताह में हो, का देना आवश्यक है। इसके अलावा एक और शर्त है कि गर्भधारण के २६ सप्ताह बाद स्त्री को अवश्य अवकाश ले लेना चाहिए।

असमर्थता (Disablement) **लाभ की शर्तें और दर.** कर्मचारी की अस्थाई असमर्थता की अवस्था में बीमारी लाभ की दर पर, स्थाई आंशिक असमर्थता की दशा में, असमर्थता के अनुपात के अनुसार उसमें कमी कर और स्थाई पूर्ण असमर्थता की दशा में सारा जीवन भत्ता देने की व्यवस्था है।

आश्रितों (Dependents) **के लाभ की शर्तें और दर.** एक बीमा हुए व्यक्ति की रोजगार हानि के कारण मृत्यु हो जाने पर, उसकी विधवा स्त्री और बच्चों के निम्न दर पर लाभ पाने की व्यवस्था है : (क) विधवा के लिये सारे जीवन अथवा पुर्नविवाह करने तक, मृत कर्मचारी की औसत दैनिक आय का ५० प्रतिशत ; एक से अधिक होने की दशा में, उसी राशि को उनमें बराबर-बराबर बांट देने की; (ख) प्रत्येक वैध गोद लिये, पुत्र के लिये, जब तक वह १५ साल का नहीं हो जाता, ५० प्रतिशत का ⅖ भाग तथा प्रत्येक अविवाहित कन्या के लिये जब तक वह १५ साल की अथवा विवाहित नहीं हो जाती, जो भी उनमें से शीघ्र हो, तब तक लाभ देने की व्यवस्था है। मृत व्यक्ति के विधवा या वैध पुत्र-पुत्री न छोड़ने की दशा में, मजदूर मुआवजा कमिश्नर आश्रित लाभ की रकम को जिस अनुपात में चाहे उसके माता-पिता, बाबा-दादी तथा अन्य आश्रितों को दे सकता है।

चिकित्सा (Medical) **लाभ की शर्तें.** प्रत्येक बीमा हुए व्यक्ति को अस्पताल के बाहरी अथवा अन्दर के रोगी के रूप में, किसी भी सप्ताह में, जिसके लिये उसने भागदेय दिया है, अथवा किसी भी काल में जब कि वह बीमार, प्रसूति अथवा असमर्थ है, चिकित्सा लाभ पाने का अधिकारी है।

अपर्याप्त लाभ. उक्त सभी लाभों के संबंध में यह आलोचना की जा सकती है कि वह अपर्याप्त हैं। हमारी पिछड़ी आर्थिक अवस्था बहुत कुछ इसके लिये उत्तरदायी है।

झगड़ों और दावों के निपटाने के लिए कर्मचारी राज्य बीमा अदालत की स्थापना. उक्त बीमा योजना से उत्पन्न झगड़ों और दावों के फैसले के लिये विशेष कर्मचारी राज्य बीमा अदालतों की स्थापना की व्यवस्था की गयी है। इन अदालतों को दीवानी अदालत के अधिकार प्राप्त होंगे । सामान्यतः, इन अदालतों के फैसलों की अपील हो सकेगी, पर जहां कानून की व्यवस्था का प्रश्न होगा, वह स्वीकार की जा सकेगी ।

मातृत्व-लाभ (Maternity) **और मजदूर मुआवजा** (Workmen's Compensation) **कानून पर कर्मचारी राज्य बीमा योजना का प्रभाव.** कर्मचारी राज्य बीमा योजना का उसके शुरू होने से पहले विद्यमान मातृत्व लाभों और मजदूर-मुआवजा कानून पर क्या प्रभाव पड़ेगा, संक्षेप में इसकी जानकारी भी जरूरी है। कर्मचारी राज्य बीमा कानून केन्द्रीय अधिनियम होने के कारण , अपने से पूर्व अधिनियमों की समस्त विरोधी धाराओं को रद्द कर देता है ।

क्षेत्र. कर्मचारी राज्य बीमा अधिनियम की तुलना में मातृत्व लाभ अधिनियमों के क्षेत्र में बहुत अन्तर नहीं है ।

खानों के मातृत्व अधिनियम केवल खानों और आसाम विनियम केवल बगानों पर लागू है । बम्बई, मध्यप्रदेश, अजमेर-मेरवाड़ा और दिल्ली के अधिनियम समस्त मौसमी और बारह महीने काम करनेवाले कारखानों पर लागू हैं, जब कि बीमा अधिनियम में केवल बारह महीने काम करनेवाले कर्मचारी ही सम्मिलित हैं । किसी भी मातृत्व अधिनियम में कोई आय सीमा (Income Limit) नहीं रखी गई है, जब कि कर्मचारी बीमा अधिनियम में ४०० रु० मासिक से अधिक वेतन पानेवाले व्यक्ति उसके अधिकारी नहीं हैं। तीसरे, कर्मचारी बीमा अधिनियम में ठेके और क्लर्की के श्रम का भी समावेश है, जब कि मातृत्व लाभ केवल हाथ का काम करनेवाले श्रमिकों पर ही लागू होते हैं ।

मजदूर-मुआवजा अधिनियम में अस्थायी श्रम का समावेश नहीं है, पर अन्यथा इसका क्षेत्र कर्मचारी राज्य बीमा अधिनियम की तुलना में बहुत विस्तृत है। वह अनेक ऐसे उद्योगों पर लागू है जो बीमा अधिनियम के अन्तर्गत नहीं आते। उनमें से खानें, चाय बगान, निर्माण कार्य, मुख्य हैं ।

लाभ (Benefits). जहां तक लाभ का संबंध है, मातृत्व और मुआवजा अधिनियमों में उनकी व्यवस्था है, पर इनमें चिकित्सा रक्षा की सामान्यतः उपेक्षा की गई है । मातृत्व अधिनियमों में दिये जानेवाले नकद लाभ की दर तथा उसके मिलने की अवधि की तुलना में कर्मचारी बीमा

योजना निश्चित ही उन्नत है। उनमें नकद लाभ की रकम औसतन ८ आने प्रति दिन तथा उसके पाने की अवधि प्रायः ८ सप्ताह रखी है, जब कि कर्मचारी बीमा योजना में वह १२ आने प्रति दिन तथा १२ सप्ताह है।

मुआवजे की दर के संबंध में कर्मचारी बीमा योजना और मजदूर मुआवजा अधिनियम के अन्तर्गत मिलनेवाले लाभों की दर में कोई विशेष अन्तर नहीं है। पर कर्मचारी बीमा योजना में दो सुधार की बातें हैं। एक तो इसमें असमर्थ कर्मचारियों और आश्रितों के लिए एक मुश्त मुआवजा देने की रीति को छोड़कर पेंशन को अपनाया गया है; दूसरे, इसमें बालिगों और नाबालिगों के लिए एक ही दर रखी गई है।

भागदेय (Contributions). जहां तक भागदेयों का प्रश्न है, मातृत्व और मजदूर मुआवजा अधिनियम चूंकि मालिक के दायित्व के सिद्धांत पर आधारित हैं, अतः वहां लाभ पानेवालों को किसी प्रकार के भागदेय नहीं देने पड़ते। इसके विपरीत, कर्मचारी राज्य बीमा योजना बीमा के सिद्धांत पर आधारित है, अतः इसमें मालिक और कर्मचारी दोनों को ही भाग देने पड़ते हैं।

श्रेष्ठ शासन. सामाजिक सुरक्षा के क्षेत्र में कर्मचारी राज्य बीमा अधिनियम की सबसे बड़ी देन उसकी शासन और न्याय की व्यवस्था है। मातृत्व और मजदूर मुआवजा कानूनों के लाभ तो अपर्याप्त हैं ही, उनका शासन भी बहुत ढीला है। मातृत्व अधिनियम का शासन फैक्टरी इंस्पेक्टर के हाथ में होता है, जिसे मुश्किल से इसके लिये समय मिलता है। मजदूर मुआवजा कमिश्नर के हाथ में होने के कारण मजदूर मुआवजा अधिनियम का शासन उससे बेहतर है। किंतु अधिकांश जगह मुआवजा कमिश्नर न होने के कारण उसके शासन की दशा भी शोचनीय ही रहती है।

कर्मचारी राज्य बीमा अधिनियम ने इस कार्य के लिए कार्पोरेशन और उसकी सहायक संस्थाओं का निर्माण किया है। इस प्रकार लाभ के भुगतान का दायित्व व्यक्तिगत मालिकों के हाथ से निकल कर कार्पोरेशन के हाथ में चला गया है इससे यह आशा की जा सकती है कि मजदूरों को उत्पीड़ित करने (victimisation) मालिकों और कर्मचारियों के बीच गुप्त कूट अभिसंधि (collusion) और पीड़ितों या उनके आश्रितों को लाभ की ना-अदायगी की बुराइयां समाप्त हो जायेंगी। इसके अतिरिक्त, इस योजना के अन्तर्गत स्थापित विशेष अदालतों की स्थापना से शीघ्र और श्रेष्ठ न्याय की आशा की जा सकती है।

सामाजिक सुरक्षा पर १९४८ के फैक्टरी अधिनियम का प्रभाव

लाभार्थियों की संख्या में बड़ी वृद्धि. जैसा कि हम जानते हैं कर्मचारी राज्य बीमा अधिनियम केवल साल भर चलनेवाले कारखानों पर ही लागू होता है। इस अधिनियम में १९३४ के फैक्टरी अधिनियम के मौसमी और साल भर चलने वाले कारखानों के भेद को स्वीकार किया गया है। पर १९४८ के फैक्टरी अधिनियमों ने इस भेद को नष्ट कर दिया है और अब कोई भी औद्योगिक प्रतिष्ठान, जिसमें कम से कम १० आदमी काम करते हों और वह शक्ति से परिचालित हो अथवा उसमें २० से अधिक आदमी काम करते हों, फैक्टरी कहलायेगा। इस नयी परिभाषा के परिणामस्वरूप फैक्टरी अधिनियम के अन्तर्गत आनेवाले प्रतिष्ठानों की संख्या में तत्काल २०० प्रतिशत तथा उनमें काम करनेवालों की संख्या में ४० प्रतिशत वृद्धि हो गई है। इस भांति नये फैक्टरी अधिनियम ने एकदम कर्मचारी योजना के क्षेत्र को पर्याप्त विस्तृत कर दिया है। अब उसके द्वारा लगभग ३२ लाख कर्मचारियों तथा ३५,००० औद्योगिक प्रतिष्ठानों को संरक्षण प्राप्त होगा।

इसके अतिरिक्त, नये फैक्टरी अधिनियम ने फैक्टरी निरीक्षण सवा म पर्याप्त सुधार किये हैं तथा स्वास्थ्य, रक्षा (safety) और कल्याण में भी उन्नति की है। रोजगार में प्रवेश करने की उम्र को १२ से बढ़ाकर १४ साल कर दिया है। इस प्रकार १२ से १४ साल की उम्र के व्यक्ति अब राज्य बीमा योजना से निकल गये हैं। साथ ही नये फैक्टरी अधिनियम द्वारा कर्मचारियों की छुट्टी और सवेतन अवकाश की सुविधा राज्य बीमा योजना के लिए लाभकर सिद्ध हो सकती है।

१९२३ के मजदूर मुआवजा अधिनियम में १२ पेशेजन्य रोग गिनाये गये हैं। १९४८ के फैक्टरी अधिनियम में उनकी संख्या १७ है। राज्य बीमा अधिनियम ने मजदूर मुआवजा अधिनियम की रोग सूची को स्वीकार किया है। समान नीति और शासन की दृष्टि से यह आवश्यक है कि राज्य बीमा अधिनियम में भी १९४८ के फैक्टरी अधिनियम की सूची को स्वीकार किया जाये।

योजना का आरम्भ और विकास

केन्द्रीय सरकार की यह योजना थी कि सारे देश में चालू करने से पहले योजना एक पाइलट योजना के रूप में दिल्ली और अजमेर में चालू किया

जाये। किंतु पाइलट योजना शुरू करने से पहले इन स्थानों का सर्वे जरूरी था। अक्तूबर १९४८ में कार्पोरेशन की स्थापना हुई। प्रारंभिक तैयारी में कई महीने लग गये और अगस्त १९४९ में यह अनुभव किया गया कि अजमेर में योजना को अमल में लाना संभव नहीं है।

१९५१ का संशोधन. दिसम्बर १९४९ में शुरू में कानपुर, दिल्ली, और उसके बाद पंजाब में योजना को विस्तीर्ण करने का निश्चय किया गया। जुलाई १९५० में आकर कहीं कानपुर और दिल्ली में योजना की शुरुआत संभव हुई। इसी समय यू० पी० सरकार ने, जिसे उत्तर भारत की कर्मचारी एसोसियेशन का भी समर्थन प्राप्त था, इस बात पर आपत्ति की कि बिना अन्य स्थानों में योजना को चालू किये, केवल कुछ स्थानों में उसे व्यवहार में लाना वहां के उद्योग के लिये कठिनाई उत्पन्न कर देगा। परिणामतः, नवम्बर १९५० में सरकार ने १९४८ के अधिनियमों को संशोधित करने का निश्चय किया। अक्तूबर १९५१ में जब यह संशोधन पास हुआ तब जाकर कहीं जोर पर काम शुरू हो सका।

समस्त मालिकों पर समान भार. इस नये संशोधन के अनुसार अन्य स्थानों पर भी, जहां पर कि योजना चालू नहीं है, मालिकों को उसी अनुपात में भागदेय देने होंगे। वहां पर कर्मचारियों को कुछ भागदेय न देने होंगे और न ही वहां उन्हें इस अधिनियम के अन्तर्गत कोई लाभ मिलेगा।

योजना का विकास. इस संशोधन के पास होने के पश्चात् ही योजना वास्तव में प्रारम्भ हो सकी। बम्बई, कलकत्ता, मद्रास में प्रादेशिक दफ्तर खोले गये। फैर्वरी १९५२ में कहीं जाकर कानपुर और दिल्ली में वास्तव में योजना कार्यान्वित हो सकी और शीघ्र ही उसे पंजाब, बम्बई और बंगलौर में विस्तृत, करने का निश्चय हुआ।

मार्च १९५३ में पंजाब के ९ औद्योगिक केन्द्रों, अमृतसर, छेहरटा, जालंधर, अम्बाला, अब्दुल्लापुर, जगाधरी, बटाला, भिवानी और लुधियाना में योजना को कार्यान्वित करने की तैयारी शुरू हुई और मई १९५३ में उसे चालू किया गया।

वर्तमान स्थिति. जहां तक मालिकों के भागदेयों का संबंध है, योजना सारे देश पर लागू होती है। भागदेयों को इकट्ठा करने के लिए कलकत्ता, बम्बई, मद्रास, दिल्ली और कानपुर के पांच प्रादेशिक दफ्तरों के नीचे ३३ निरीक्षण दफ्तर खुल गये हैं।

योजना के लाभ अभी केवल कानपुर, दिल्ली और पंजाब के नौ नगरों के

कर्मचारियों को ही प्राप्त हैं। इन प्रदेशों में संरक्षित कर्मचारियों की कुल संख्या १,५०,००० है। अभी तक कारपोरेशन द्वारा १५ डिस्पेंसरी खोली जा चुकी हैं। कानपुर में उसके नीचे ४१ और दिल्ली में १६ डाक्टर हैं। पंजाब में ५९ पैनल डाक्टर नियुक्त किये जा चुके हैं।

भविष्य. यह आशा की जाती है कि १९५४ के मध्य तक कर्मचारी राज्य बीमा योजना को कलकत्ता, हावड़ा, नागपुर, कोयम्बटूर तथा मध्यप्रदेश के कुछ नगरों तक विस्तृत करना संभव होगा। १९५४ के अन्त तक सम्भवतः योजना सारे देश में लागू की जा सके। इस प्रकार अन्ततोगत्वा कारखानों में काम करनेवाले २० लाख व्यक्तियों को इससे लाभ पहुंच सकेगा।

चुनी हुई सहायक ग्रन्थ-सूची

सामाजिक कल्याण और पुनर्निर्माण

PINK, M. A., *Social Reconstruction* (1945).
PIGOU, A. C., *Economics of Welfare* (1950).
SELIGMAN and JOHNSON, A., E.R.A., *Encyclopaedia of Social Sciences* (1933).
MANNHEIM, K., *Man and Society in an age of Reconstruction* (1941)
,, *Freedom, Power and Democratic Planning* (1951).
SOROKIN, P., *Reconstruction of Humanity* (1948).

शिक्षा

BROWN, F. J., *Educational Sociology* (1947).
GOVERNMENT OF INDIA, *Post-war Educational Development* (1944).
KRIPALANI, J. B., *The Latest Fad : Basic Education* (1948).
MENON, T. K. N., *A Symposium on Post-war Education in India* (1946).
MUKERJI, S. N., *Education in India, Today and Tomorrow* (1950).
SAIYADAIN, K. G. *and others, The Educational System* (1945).
SIQUERIA, T. N., *Education in India* (1943).
VARKEY, C. I., *The Wardha Scheme of Education* (1939).
ZAKIR HUSSAIN, *Educational Reconstruction Committee Report* (1938).

निर्धनता और जनसंख्या

CHANDRASHEKHAR, S., *India's Population : Fact and Policy* (1950).
CLARK, C., *Conditions of Economic Progress* (1939).
GOPALASWAMI, R. S., *Report on Population* (1953).
GHOSH, D., *Pressure of Population and Economic Efficiency* (1946).
GYANCHAND, *India's Teeming Millions* (1939).
MANDELBAUM, K., *Industrialisation of Backward Areas* (1948).
PLANNING COMMISSION, *Five Year Plan* (1952).
WADIA *and* MERCHANT, *Five Year Plan : A Criticism* (1951).
VAKIL, C. N. *and* BRHMANANDA, *Planning for a Shortage Economy* (1951).

स्वास्थ्य और पोषण

GOVERNMENT OF INDIA, *Report of the Health Survey and Development Committee* (1946).
NATIONAL PLANNING COMMITTEE, *National Health* (1948).

ग्राम-जीवन और उसका पुनर्निर्माण

ABU MUHAMMAD SYED, K. B., *Summary of Recommendations on Royal Commission on Agriculture* (1929).
COMMUNITY PROJECT ADMINISTRATION, *Community Projects* (1952)
HAYES, *Rural Sociology* (1929).

MUKERJI, R. K., *Planning the Countryside* (1946).
NANAVATI, M. B. and ANJARIA, J. J., *Our Rural Problem* (1951).
TAYLOR, *Rural Sociology* (1926).

नगरों का विकास, उद्योगीकरण और सामाजिक विघटन

BOSSARD, J. H. S., *Social Change and Social Problems* (1938).
ELLIOT, M. A., and MERRILL F., *Social Disorganisation* (1941).
MAYO, E., *The Social Problems of an Industrial Civilization* (1949).
MUMFORD, L., *Technics and Civilization* (1934).
" *The Culture of Cities* (1938).
MANNHEIM, K., *Man and Society in an Age of Reconstruction* (1941).

अपराध

BARKER, F. A., *Modern Prison System in India* (1944).
BONGER, W. A., *An Introduction to Criminology* (1936).
BOGOT, J. K., *Juvenile Delinquency* (1941).
HAIKERWAL, B. S., *Economic and Social Aspects of Crime in India* (1934).
HENTIG, H. V., *Crime, Causes and Conditions* (1947).
SETHANA, J. K., *Society and the Criminal* (1952).
BHARGAVA, B. S., *The Criminal Tribes* (1949).
U.N.O., *The Treatment of Juvenile Delinquents in India* (1953).
U. P. GOVERNMENT, *Criminal Tribes Enquiry Report* 1938 and 1947.
MANNHEIM, H., *Criminal Justice and Social Reconstruction* (1946).
सक्सेना प्रकाशनारायण : संयुक्त प्रान्त की अपराधी जातियां (१९४८)

श्रम और श्रम-कानून

AGRAWALA, A. N., Ed., *Indian Labour Problems* (1947).
GOVERNMENT OF INDIA, *The Indian Labour Year Book* (1951).
LORENZO, A. M., *Agricultural Labour Conditions in Northern India* (1948).
MUKERJI, R. K., *Indian Working Class* (1948).
NATIONAL PLANNING COMMITTEE *Labour* (1947).
SAKSENA, R. C., *Labour Problems and Social Welfare* (1953).
PUNEKAR, S. D., *Social Insurance for Industrial Workers in India* (1950).

सामाजिक सुरक्षा

I. L. O., *Approaches to Social Security* (1947).
" *Minimum Standards of Social Security* (1952).
MEHTA, *Economics of Social Security* (1951).
PUNEKAR, S. D., *Social Insurance for Industrial Workers in India* (1950).